अप्पाणं सरणं गच्छामि (१)

समाधि की खोज

जैन विश्व भारती
तुलसी अध्यात्म नीडम् प्रकाशन





(15)

युवाचार्य महाप्रज्ञ



अप्पाणं सरणं गच्छामि (१)

समाधि की खोज

आशीर्वचन

- शान्ति और समाधि की खोज हर मनुष्य की मंजिल है।
- समाधि की खोज में बढ़ते हुए आश्वस्त चरण मंजिल की दूरी को कम करते जाते हैं।
- मंजिल तक पहुंचने के लिए परम सत्य का साक्षात्कार आवश्यक है।
- अन्तश्चेतना में परम सत्य की सम्पूर्ण सत्ता का आकलन करने के लिए भगवद्‌गीता के कृष्ण ने कहा—मामेकं शरणं व्रज—मेरी शरण में आ जाओ। मैं तुझे सत्य से मिला दूंगा।
- त्रिपिटकों के बुद्ध ने अभिप्सित को पाने के लिए त्रिशरण का सूत्र देते हुए कहा—

  बुद्धं शरणं गच्छामि
  संघं शरणं गच्छामि
  धम्मं शरणं गच्छामि

- आगमों के उत्स महावीर ने चारों ओर से त्राण की संभावना व्यक्त करते हुए कहा—

  अरहंते सरणं पवज्जामि
  सिद्धे सरणं पवज्जामि
  साहू सरणं पवज्जामि
  केवलि पन्नत्तं धम्मं सरणं पवज्जामि।

- साधारण व्यक्ति स्वयं अपने जीवन-रथ का सारथ्य नहीं कर सकता, इसलिए उसके लिए किसी शक्तिशाली सत्ता की शरण स्वीकार करना आवश्यक हो गया।
- हमारे युवाचार्य महाप्रज्ञ इन सब शरणों से ऊपर उठकर कहते हैं—अप्पाणं सरणं गच्छामि—मैं अपनी आत्मा की शरण स्वीकार करता हूं।
- यह अद्वैत की भाषा है। इसमें व्यक्ति स्वयं ही स्वयं का त्राता बनता है।
- यहां शरण देने वाला परिसर में नहीं, व्यक्ति के अभ्यन्तर में है। यहां किसी

परमसत्ता और आत्मसत्ता के बीच का द्वैत समाप्त हो जाता है।

- वास्तव में गीता, त्रिपिटक और आगमों के शरण आत्मा से भिन्न नहीं है, इसलिए शान्ति और समाधि की राह अपनी शरण में आने से ही खुल सकती है।
- जो व्यक्ति अपनी शरण को नहीं खोज पाया है, वह दूसरे की शरण में जाकर भी निश्चिन्त नहीं हो सकता।
- यह तथ्य मात्र काल्पनिक उपज नहीं है, शाश्वत सत्य है। पारम्परिक नहीं है, जीवन में प्रयुक्त है। श्रुतानुश्रुत नहीं है, अनुभव-पूत है इसलिए मैं इसका मूल्यांकन करता हूँ।
- 'अप्पाणं सरणं गच्छामि' महाप्रज्ञ की उस अनुभव-पूत वाणी का संकलन है; जो आत्म-समाधि के क्षणों में उद्गीत हुई है।
- समाधि की खोज में निकले हुए यायावरों के लिए यह कभी नहीं चुकने वाला पाथेय है। इसका पठन, मनन और निदिध्यासन समाधान की नई दिशाओं का उद्घाटन करेगा और व्यक्ति को अपनी शरण में पहुँचा देगा, ऐसा विश्वास है।

८-१२-८०
दशाणी गेस्ट हाऊस,
सुजानगढ़

आचार्य तुलसी

अनुक्रम

समाधि की दिशा में प्रस्थान

समाधि की खोज

समाधि की दिशा में प्रस्थान

शिविर १

महरौली, नयी दिल्ली

१८-३-७१ से २६-३-७१

एक

दुःख-मुक्ति की चाह

हम सब दुःख से मुक्त होना चाहते हैं। हम ही नहीं, संसार का प्रत्येक प्राणी दुःख से मुक्त होना चाहता है। सुख सब चाहते हैं, दुःख कोई नहीं चाहता। यह एक प्राकृतिक और सार्वभौम नियम है। इसका कोई अपवाद नहीं है। प्रश्न होता है कि जब हम सब दुःख-मुक्त होना चाहते हैं, तो मुक्त क्यों नहीं हो पाते? दुःख-मुक्ति की हमारी तीव्र चाह है, पर वह पूरी नहीं होती। ऐसा क्यों? इस प्रश्न के पीछे जो रहस्य है, उसे हम समझें।

सुख-दुःख का संवेदन क्यों?

सुख और दुःख—ये दो तत्त्व हैं। हम इस बात को न भूलें कि सुख के घटक भी हम ही हैं और दुःख के घटक भी हम ही हैं। हम ही सुख-दुःख का बीज बोते हैं, हम ही उसे अंकुरित करते हैं, पुष्पित करते हैं और पल्लवित करते हैं। हम ही उसे बढ़ाते हैं, विशाल वृक्ष के रूप में विकसित करते हैं। इन सारी क्रियाओं में दूसरा कोई उत्तरदायी नहीं है। यह बहुत बड़ी भ्रान्ति है कि हम दूसरों को सुख-दुःख देने वाला मानते हैं। यह भ्रान्ति टूटनी चाहिए। दुनिया में कोई कुछ देने वाला नहीं है। यदि हम दुःख का संवेदन करें तो हमें दुःख होता है और यदि हम दुःख का संवेदन न करें तो हमें दुःख नहीं होता। अनेक प्रकार की प्रतिकूल परिस्थितियां सामने हों और यदि हम दुःख का संवेदन नहीं करते तो हमें कोई दुःख नहीं हो सकता। हजार प्रकार की सुख की सुविधाएं उपलब्ध हों और यदि हम सुख का संवेदन नहीं करते तो हमें कोई सुख नहीं हो सकता। दुःख और सुख का संवेदन होना हमारे संवेदन-केन्द्र पर निर्भर करता है। हमारा संवेदन-केन्द्र कार्य करता है तो सुख-दुःख का संवेदन होता है और यदि वह कार्य नहीं करता है तो कोई संवेदन नहीं होता। हमारे मस्तिष्क के पीछे पीड़ा-केन्द्र है। आज के वैज्ञानिक यह प्रयोग कर रहे हैं कि औषधियों के द्वारा उस केन्द्र को निष्क्रिय बना

दिया जाए जिससे की व्यक्ति पीड़ा का संवेदन न कर सके। इस दिशा में प्रयत्न चालू हैं। अनेक प्रकार की ओषधियां आविष्कृत हुई हैं और उनका प्रयोग भी चल रहा है। जब पीड़ा-केन्द्र पूर्ण रूप से निष्क्रिय हो जाता है तब पीड़ा का संवेदन समाप्त हो जाता है। फिर शरीर पर चाहे कहीं कुछ पीड़ा हो, व्यक्ति को उसका अनुभव ही नहीं होता। पीड़ा देता है यह संवेदन-केन्द्र। यदि यह केन्द्र निष्क्रिय हो जाता है तो फिर कोई भी घटना घटित हो, उसका संवेदन नहीं होगा। मनुष्य की सबसे बड़ी भ्रान्ति यह है कि वह घटना को मुख्य मान लेता है, परिस्थिति और वातावरण को ही सब कुछ मान लेता है। यह बहुत बड़ी नास्तिकता है। घटना, परिस्थिति और वातावरण ये सब अपना-अपना काम करते हैं, करेंगे और करते ही रहेंगे। परिस्थितियां उतार-चढ़ाव की होंगी, ऊबड़-खाबड़ होंगी। सारी दुनिया ऊबड़-खाबड़ है। समतल कहीं नहीं है। कहीं पहाड़ हैं, कहीं गढ़े हैं और कहीं उतार-चढ़ाव है। ये होंगे। इन्हें मिटाया नहीं जा सकता। परिस्थितियां कभी एक-सी नहीं रहती। सर्दी के बाद गर्मी आती है और गर्मी के बाद बरसात। आप न सर्दी को रोक सकते हैं और न गर्मी को। सदा सर्दी ही रहे, ऐसा कभी नहीं हो सकता। सदा गर्मी ही रहे, ऐसा भी कभी नहीं हो सकता। ऋतुओं का चक्र निरंतर चलता रहता है। कोई ऐसा शक्तिमान नहीं है कि वह बर्फ गिरने को रोक सके, बर्फीली हवाओं को रोक सके या तूफानों को रोक सके। पर आदमी बुद्धिमान प्राणी है। वह कपड़ा बनाना जानता है। वह मकान बनाना जानता है। सर्दी आती है, तब वह गर्म कपड़े पहन लेता है और मकान के भीतर चला जाता है। वह सर्दी के प्रकोप से बच जाता है।

एक राजा के पैर में कांटा चुभ गया। बहुत पीड़ा का अनुभव हुआ। राजा ने सोचा—लोग चलते हैं। उनके पैरों में भी कांटे चुभते होंगे। कितना कष्ट होता होगा। अच्छा हो कि सारी जमीन को चमड़े में मढ़ा लूं। किसी के पैर में कांटा नहीं चुभेगा। राजा ने मंत्री को बुलाकर आदेश दिया कि राज्य की समूची भूमि को चमड़े से मढ़ दें। मंत्री ने कहा—राजन्! यह असंभव बात है। ऐसा कभी हो नहीं सकेगा। यदि हम सारी पृथ्वी पर चमड़ा मढ़ा देंगे तो फिर खेती कहां होगी? पेड़ कहां होंगे? बनस्पति कहां होगी? हमारा जीवन कैसे चलेगा? आप ऐसी अतिकल्पना न करें और भूमि को चमड़े से मढ़ी देखने का स्वप्न न लें। कांटों के चुभने से प्रजा पीड़ित होती है, यह सच है। हम इसके निवारण के लिए यह उपाय करें कि प्रत्येक व्यक्ति अपने पैरों में जूता पहन ले। ऐसी व्यवस्था हम करें। अपने आप सारी भूमि चमड़े से मढ़ी हो जाएगी।

आदमी ने जूता पहनना शुरू किया। कांटे चुभने बंद हो गए। उसने कपड़ा पहनना शुरू किया, सर्दी से बचाव हो गया। मकान में रहने लगा, वर्षा से बच गया, गर्मी और धूल से बच गया।

हम परिस्थितियों को रोक नहीं सकते। प्राकृतिक घटनाओं से आने वाले सुख और दुःख के निमित्तों को रोक नहीं सकते। किन्तु जिसके द्वारा हमें सुख और दुःख का संवेदन होता है उस पर हम नियंत्रण कर सकते हैं। साधना की समग्र पद्धति नियंत्रण या संयम की पद्धति है। 'नियंत्रण' शब्द से आप चौंके नहीं। इसे अप्रिय न मानें। इस पद्धति को अप्रिय न मानें। समूची प्रकृति में पग-पग पर हम नियंत्रण देखते हैं। बिना नियंत्रण के कोई काम चल ही नहीं सकता। नियंत्रण दमन नहीं है। वह जीवन की स्वाभाविक प्रक्रिया है। इससे उदासीन नहीं हुआ जा सकता? एक को बन्द करना पड़ेगा और एक को खोलना पड़ेगा। क्या दरवाजा बन्द करना नियंत्रण नहीं है? क्या मकान बनाना नियंत्रण नहीं है? दरवाजा बन्द करना, मकान बनाना, कपड़े पहनना—ये सब क्रियाएं नियंत्रण हैं। नियंत्रण जरूरी है। इससे घबराकर हम इस प्रक्रिया को अस्त-व्यस्त नहीं करें। दुःख-मुक्ति चाहते हैं तो संवेदन-केन्द्रों पर नियंत्रण करना ही होगा।

प्रेक्षा : नियंत्रण की प्रक्रिया

नियंत्रण की पद्धति है—प्रेक्षा। हम केवल वाणी के द्वारा नियंत्रण नहीं साध सकते। नियंत्रण के लिए अभ्यास करना होता है, प्रयोगों से गुजरना होता है। प्रेक्षा का अर्थ है—देखना। हम पहले देखें और संकल्प-शक्ति का प्रयोग करें। देखने का अर्थ है—साक्षात्कार करना। यह केवल मानना नहीं है, दूसरों के सहारे चलना नहीं है। इसमें न शब्दों का सहारा होता है, न मान्यताओं का सहारा। यह है अपना अनुभव। आज के विज्ञान ने जितना विकास किया है, जितने आविष्कार किए हैं, वे सब अनुभव के आधार पर किए हैं। एक है पढ़ा-पढ़ाया ज्ञान और एक है प्रयोग-सिद्ध ज्ञान। प्रयोग-सिद्ध ज्ञान का नाम है—अनुभव। जो बात स्वयं की कसौटी पर खरी उतरती है, वह हमारा अनुभव बन जाती है। जो बात सुनी-सुनायी होती है वह कभी अनुभव नहीं बन सकती। वह उधार की पूंजी होती है। अनुभव नगद की पूंजी है, स्वयं की संपदा है, स्वयं की पूंजी है।

बुद्धि और अहंकार

एक अध्यात्म के आचार्य ने रूपक की भाषा में एक रहस्य का उद्घाटन किया। एक बार मन में यह विकल्प उठा कि अनुभव को जगाया जाए। मन की बात बुद्धि तक पहुंची। यह जानकर अहंकार बुद्धि के पास आकर बोला—

अहंकारो धियं ब्रूते, मैनं सुप्तं प्रबोधय।
उत्थिते परमानन्दे, न त्वं नाहं न वै जगत्॥

—'अरे बुद्धि! तुम अनुभव को मत जगाओ। उसे सोया ही रहने दो। उसका

सोना ही अच्छा है।' बुद्धि ने पूछा—क्यों, क्या बात है? अहंकार बोला—'तुम नहीं समझती। अनुभव के जाग जाने पर न तुम्हारा अस्तित्व ही रहेगा, न मेरा अस्तित्व ही रहेगा और न यह जगत् (का ममत्व) ही रहेगा। सब नष्ट हो जाएंगे। इसलिए उस अनुभव को सोने ही दो।'

बुद्धि और ममकार

बुद्धि ने अहंकार की बात नहीं मानी। इतने में ही ममकार वहां आ पहुंचा। उसने बुद्धि से कहा—

ममकारो धियं ब्रूते, नैनं सुप्तं प्रबोधय।
उदिते परमानन्दे, न त्वं नाहं न वै जगत् ॥

—'देवी बुद्धि ! अनुभव को मत जगाओ। इसे जगाना खतरनाक है। इसे जगाना अपने अस्तित्व को गंवाना है। इसके जाग जाने पर न मैं रहूंगा, न तू रहेगी और न जगत् रहेगा। सब कुछ समाप्त।'

बुद्धि के कुछ क्षण ऐसे आते हैं। जब उसमें अनुभव को जगाने की बात उत्पन्न होती है। उसमें प्रेरणा जागती है। साधक छटपटाता है। वह चाहता है कि बुद्धि की सीमा समाप्त हो और अनुभव की सीमा में प्रवेश हो। किन्तु जब-जब अनुभव को जगाने का प्रयत्न होता है तब अहंकार और ममकार सामने आकर खड़े होते हैं और वे पूरा प्रयत्न करते हैं कि बुद्धि अनुभव को जगाने का प्रयास न करे, परम आनन्द को न जगाए।

समाधि के तीन विघ्न

हमारे जीवन में चार स्थितियां आती हैं—व्याधि, आधि, उपाधि और समाधि। हम समाधि में जाना चाहते हैं, परम आनन्द की अवस्था में जाना चाहते हैं। ध्यान का प्रयत्न समाधि का प्रयत्न है। यह समाधि की यात्रा है। यह समाधि की दिशा में एक प्रयाण है। प्रत्येक ध्यान साधक समाधि के लिए अपने आपको समर्पित करता है। समाधि का यात्रा-पथ बहुत लम्बा है। समाधि तक पहुंचने में लम्बी यात्रा करनी पड़ती है। उस यात्रा में तीन बड़े विघ्न आते हैं—व्याधि, आधि और उपाधि। ये तीन अवरोध हैं। इनको पार करके ही साधक समाधि तक पहुंच पाता है। जो भी व्यक्ति परम आनन्द तक पहुंचना चाहता है, परम सुख को प्राप्त करना चाहता है, अनुभव को जगाना चाहता है, उसे इन तीनों अवरोधों को दूर करना ही होगा, अन्यथा वह आगे नहीं बढ़ सकेगा।

व्याधि

व्याधि, आधि, उपाधि और समाधि—ये चारों शब्द एक ही संस्कृत धातु से निष्पन्न होते हैं। किन्तु प्रथम तीन हमारे लिए अनुपादेय हैं और शेष एक—समाधि हमारे लिए उपादेय है।

व्याधि का अर्थ है—शारीरिक बीमारी। शारीरिक बीमारियों को मिटाए बिना हम समाधि तक नहीं पहुंच सकते। समाधान कैसे मिले? व्याधियां प्रतिपल सताने लगती हैं। पग-पग पर वे समस्याएं उत्पन्न करती हैं। जब साधक ध्यान करने बैठता है, उसकी शारीरिक बीमारियां उग्र होने लगती हैं। जहां कभी भी दर्द महसूस नहीं होता था, वहां दर्द प्रकट हो जाता है। दर्द प्रवाही होता है। कभी इधर और कभी उधर। ध्यान में मन ही नहीं लगता। दर्द सारी एकाग्रता को नष्ट कर देता है। ध्यान करे या पैरों में उठने वाले दर्द को संभाले। ध्यान में रीढ़ की हड्डी सीधी रखने का प्रयत्न करते हैं तो वहां भी दर्द उठता है। ध्यान करे या रीढ़ की हड्डी को संभाले। दीर्घ श्वास लेने का प्रयत्न करते हैं तब फेफड़े में दर्द होने लगता है, पेट में दर्द होने लगता है। व्याधियां सताती हैं तब समाधि प्राप्त नहीं हो सकती। समाधि तक पहुंचने के लिए व्याधि पर नियंत्रण पाना जरूरी है। व्याधि को देखें और व्याधि पर नियंत्रण करें। आप अपने पुरुषार्थ पर भरोसा रखें। पुरुषार्थ से नियंत्रण पाया जा सकता है। रक्तचाप एक व्याधि है। ध्यान के द्वारा उस पर नियंत्रण हो सकता है। तापमान कम होता है, तापमान बढ़ता है। रक्ताणुओं की प्रक्रिया वृद्धिगत होती है। इन सब पर नियंत्रण हो सकता है। जितनी भी शारीरिक व्याधियां हैं उन पर नियंत्रण हो सकता है। पहले हम प्रेक्षा करें, देखें, फिर नियंत्रण करें। हमारे शरीर में अनेक नियंत्रण-कक्ष हैं, नियंत्रण की अनेक शक्तियां हैं। हम उन्हें जान लेते हैं तो नियंत्रण करना सहज और सरल हो जाता है। दवाइयों से पिण्ड छूट जाता है। आदमी यही मानता है कि व्याधि मिटाने का एक परमात्मा है डॉक्टर, और एक परम उपाय है दवाई। दवाइयां खाते जाओ और व्याधियां भुगतते जाओ। दवाई से एक व्याधि शांत होती है तो दूसरी उभर आती है। इसका कहीं अन्त नहीं आता। यदि व्याधि को मिटाना है तो हम नियंत्रण करना सीखें।

आधि

समाधि का दूसरा अवरोधक तत्त्व है—आधि। यह मानसिक अस्वास्थ्य है। हम मन की उपेक्षा करते हैं। उस पर ध्यान ही नहीं देते। जबकि सबसे अधिक ध्यान देने योग्य वस्तु है मन। सभी व्यक्ति मन की भयंकर बीमारी को भोगते हैं। व्यक्ति कभी प्रिय संवेदनों का शिकार होता है और कभी अप्रिय संवेदनों का।

पदार्थों की प्रचुरता में भी वह दुःखी बना रहता है। जिन पदार्थों पर व्यक्ति को सबसे ज्यादा भरोसा होता है, उनसे भी वह दुःखी बन जाता है। संयोग दुःख बढ़ाता है। वियोग दुःख बढ़ाता है। आदमी जानता है कि संयोग भी निश्चित घटना है और वियोग भी निश्चित घटना है। कोई इन्हें टाल नहीं सकता। संयोग होगा तो वियोग निश्चित होगा। वियोग होगा तो संयोग निश्चित ही होगा। संयोग होना दुःख नहीं है। वियोग होना भी दुःख नहीं है। संयोग होना सुख नहीं है। वियोग होना भी सुख नहीं है। पर मनुष्य में भ्रांति है। अप्रिय का संयोग होता है, आदमी दुःखी बन जाता है। प्रिय का वियोग होता है, आदमी दुःखी बन जाता है। प्रिय का संयोग होता है, आदमी सुखी बन जाता है। अप्रिय का वियोग होता है आदमी सुखी बन जाता है। आदमी संयोग से सुखी भी बनता है और दुःखी भी बनता है। आदमी वियोग से सुखी भी बनता है और दुःखी भी बनता है। मृत्यु एक अनिवार्य घटना है। जो जन्मता है वह निश्चित ही मरता है। पर इस नियति की घटना पर भी हम सुखी होते हैं, दुःखी होते हैं। यह भ्रांति है। अन्यथा जन्म खुशी का कारण नहीं बनना चाहिए और मरण खिन्नता का कारण नहीं बनना चाहिए। मित्र की मृत्यु दुःख का संवेदन पैदा करती है और शत्रु की मृत्यु सुख का संवेदन पैदा करती है। यह सब भ्रान्ति है। हमने इतने मानसिक चित्र बना रखे हैं कि उन्हें देखकर कभी सुखी हो जाते हैं और कभी दुःखी।

पड़ोसी के घर में बिलौना होता था। यह देखकर एक स्त्री दुःखी रहने लगी। बेटे ने पूछा—'मां, तुम इतनी दुःखी क्यों रहती हो? इतना शोक क्यों करती हो?' मां ने कहा—'बेटा! क्या करूं, जब पड़ोसी के घर में बिलौना होता है, मथनी चलती है तो मुझे ऐसा अनुभव होता है कि वह मथनी दही में नहीं चल रही है, मेरी छाती में चल रही है। यही मेरे दुःख का मूल कारण है।'

दुःख कौन देता है—बिलौना, मथनी या पड़ोसी? कोई दुःख नहीं देता। मन की भ्रांति ही दुःख देती है।

एक गांव में एक व्यक्ति का मकान सबसे ऊंचा था। वह तिमंजिला मकान उसके अहंकार को पुष्ट किए था। कुछ वर्षों के बाद बाहर से एक व्यक्ति आकर उस गांव में बस गया। उसने पांच मंजिला मकान खड़ा कर दिया। अब उस गांव में उसी का मकान बड़ा था। तिमंजिला मकान वाला व्यक्ति दुःखी हो गया। शरीर सूख गया। मित्रों ने दुःख का कारण पूछा। उसने कहा—आज तक सुखी था। मकान का अहं मुझे तृप्ति दे रहा था। अब दूसरे का ऊंचा मकान मेरे अहंकार पर चोट करता है। उसे देखते ही उदासी छा जाती है।'

दुःखी कौन करता है? क्या बड़ा मकान उसे दुःखी बना रहा है? नहीं। हमारे ही मन के अहंकार और ममकार परिस्थिति का निमित्त पाकर जागृत होते हैं और दुःखी बना देते हैं।

-प्रियता और अप्रियता का संवेदन सुख-दुःख का निमित्त बनता है। आधि की जटिलता कठिन प्रश्न है। उसकी चिकित्सा एक दुरूह विधि है। व्याधि से जितने व्यक्ति दुःखी नहीं हैं, उतने व्यक्ति आधि से पीड़ित हैं। आज का आदमी शरीर से जितना अस्वस्थ नहीं है, उतना मन से अस्वस्थ है। सचाई यह है कि आदमी जितना अधिक मन से अस्वस्थ होता है उतनी ही व्याधियां भोगता है। एक दृष्टि से आधि व्याधि की जननी है। जो आदमी मन से स्वस्थ नहीं है, वह शरीर से स्वस्थ नहीं हो सकता। विचार आदमी को अस्वस्थ करते हैं और विचार ही आदमी को स्वस्थ करते हैं।

बायोफीडबेक पद्धति

व्याधि और आधि से निवटने के लिए हम नियंत्रण-शक्ति का विकास करें। उन शक्तियों को जागृत करें। प्रेक्षा इसका माध्यम है। विज्ञान के क्षेत्र में कुछ ऐसी खोजें हुई हैं जिनके आलोक में प्रेक्षा-ध्यान को सहज रूप में समझा जा सकता है। आज वैज्ञानिक जगत् में 'बायोफीडबेक पद्धति' चलती है। इसका सहज सरल अनुवाद किया जा सकता है—प्रेक्षा-पद्धति। अन्तर इतना ही है कि हम प्रेक्षा का अभ्यास अपनी चेतना के द्वारा करते हैं, और 'बायोफीडबेक पद्धति' में अभ्यास होता है उपकरणों के द्वारा, यंत्रों के द्वारा। किन्तु वास्तव में यह भी एक प्रेक्षा की ही पद्धति है। हम प्रेक्षा के समय देखते हैं कि हमारे शरीर में क्या परिवर्तन हो रहे हैं? क्या क्रियाएं और प्रतिक्रियाएं हो रही हैं? क्या रासायनिक परिवर्तन घटित हो रहे हैं? मस्तिष्क में क्या-क्या घटित हो रहा है? 'बायोफीडबेक पद्धति' में भी यंत्रों के द्वारा यही सब कुछ देखा जाता है, जाना जाता है।

देखना, प्रेक्षा करना बहुत महत्त्वपूर्ण सूत्र है। पर देखना ही पर्याप्त नहीं है। दर्शन के साथ संकल्प-शक्ति का भी प्रयोग होना चाहिए।

प्रक्रिया के तीन आयाम

देखना हमारी चेतना का उपयोग है किन्तु आत्मा का स्वभाव केवल चेतना ही नहीं है। आत्मा में तीन तत्त्व हैं—चेतना, शक्ति और आनन्द। हम चेतना का उपयोग करें, देखें और जानें। हम आत्मा के दूसरे तत्त्व 'शक्ति' का उपयोग करें और परिवर्तनों को घटित करें, स्वभाव को बदलें, आदतों को बदलें, दुःख देनेवाले तत्त्वों को बदलें, प्रतिक्रियाओं को बदलें। इस शक्ति के अनेक आयाम हैं। हम संकल्प-शक्ति, कल्पना-शक्ति, इच्छा-शक्ति और एकाग्रता की शक्ति का उपयोग करें। हम चेतना के द्वारा जानते हैं, शक्ति के द्वारा दुःखों के निमित्तों को बदलते हैं तब आनन्द का अनुभव होता है। इस प्रकार तीन आयामों में हमारी प्रक्रिया पूरी होती है। यह समग्र प्रक्रिया है।

एक बार वैज्ञानिकों ने कुछेक हृदय रोगियों को परीक्षण के लिए चुना। 'फीडबेक' के द्वारा उन्हें सूचना दी—'तुम्हारे हृदय की धड़कन बहुत बढ़ गई है। उसे मंद करो, नहीं तो मर जाओगे। मंद करो, मंद करो, मंद करो।' यंत्र की सूई घूमती है और यह बताती है कि हृदय की गति बहुत तेज है। वैज्ञानिक ने रोगी को सावधान कर दिया। अब रोगी ने सोचा कि कुछ अभ्यास किया जाए जिससे कि हृदय की गति मंद हो सके। तब उसे संकल्प-शक्ति या भावना का प्रयोग बताया जाता है। उसे कहा जाता है—'तुम अपने आपको बहुत हल्का अनुभव करो। रुई के फोहे जैसा हल्का अनुभव करो।' इस भावना के प्रयोग से हृदय की धड़कन मंद हो गई। एक महीने तक यह अभ्यास चला। फिर यंत्र का प्रयोग समाप्त और अपना अभ्यास चालू हो गया। हृदय की गति बदल गई।

डॉक्टरों ने यंत्रों के आधार पर सूचना दी—'तुम्हारे हृदय की गति बहुत मंद है। उसे तेज करो, अन्यथा मर जाओगे।' रोगी ने संकल्प-शक्ति का प्रयोग किया। उसने दौड़ने का संकल्प किया और सोचा—मैं तेज गति से दौड़ रहा हूं। कुछ ही समय के बाद हृदय की गति बढ़ गई, तेज हो गई। दूसरे एक रोगी ने विवाद करने का संकल्प किया और उसके हृदय की धड़कन भी तेज हो गई।

प्रेक्षा और संकल्प—दो प्रक्रियाएं चलीं। प्रेक्षा से पता चल गया कि स्थिति क्या है। संकल्प-शक्ति का प्रयोग किया और परिवर्तन घटित हो गया। तीसरे क्रम में आनन्द का अनुभव होने लगा। तीनों बातें साथ हों तो प्रक्रिया पूरी होती है। एक से काम नहीं चलता। त्रिपुटी साथ-साथ चले। कोरी चेतना काम नहीं देगी। कोरी शक्ति काम नहीं देगी। कोरा आनन्द काम नहीं देगा। चेतना, शक्ति और आनन्द—तीनों का समन्वय होना चाहिए। चेतना के जागने पर संकल्प की शक्ति का जागरण होता है और फिर परम आनन्द की अनुभूति होने लगती है।

प्रेक्षा-ध्यान की पद्धति विज्ञान से पूर्ण समर्थित है। 'बायोफीडबेक' की पद्धति इसका स्वयंभू प्रमाण है। प्रत्येक रोग के लिए इस पद्धति के यंत्र हैं। हृदय का 'फीडबेक' चाहिए या रक्तचाप को नियंत्रित करने का 'फीडबेक' चाहिए—सब प्रकार के यंत्र प्राप्त हैं। इनका उपयोग कर रोगी नियंत्रण की दिशा में बढ़ता है। यह भी अभ्यास की एक पद्धति है। इससे सारा चित्र व्यक्ति के सामने आता है और वह अपने को बदल देता है। यह भी नियंत्रण का ही एक अभ्यास है। किसी भी वस्तु या प्रवृत्ति का त्याग कर देना ही पूरा नियंत्रण नहीं है। त्याग नियंत्रण का एक अंश है। नियंत्रण की पूर्णता तब होगी जब तीनों प्रक्रियाएं—चेतना को जगाने की प्रक्रिया, शक्ति को जगाने की प्रक्रिया और आनन्द को प्राप्त करने की प्रक्रिया साथ-साथ चलेगी। प्रेक्षा का अभ्यास करने पर यदि आनन्द की अनुभूति नहीं होती तो समझना चाहिए कि कहीं-न-कहीं त्रुटि रह गई है। संकल्पशक्ति का प्रयोग किया और आनन्द की अनुभूति नहीं हुई तो समझना चाहिए कि कहीं त्रुटि

अवश्य है। संकल्प-शक्ति का प्रयोग ठीक नहीं हुआ है। आनन्द है निष्पत्ति और आनन्द है कसौटी। आप अपने अभ्यास को इस कसौटी पर कसते जाइए कि मैं जो कर रहा हूं उससे मुझे आनन्द आ रहा है या नहीं। यदि आनन्द उपलब्ध हो रहा है तो प्रक्रिया ठीक है, अन्यथा कहीं-न-कहीं गड़बड़ी है। यह उसका थर्मामीटर है।

इस बात से एक भ्रान्ति न पनप जाए कि साधना के दस दिनों में ही अनन्त-चेतना जाग जाएगी, असीम शक्ति और असीम आनन्द प्रस्फुटित हो जाएगा। ऐसा नहीं हो सकता। किन्तु दस दिनों के अभ्यास से आनन्द का एक स्फुलिंग अवश्य ही प्रकट हो सकेगा, जिससे कि साधक को यह पूरा विश्वास हो जाए कि अभ्यास सही दिशागामी है।

उपाधि

समाधि के यात्रा-पथ का तीसरा अवरोधक है—उपाधि। यह सबसे खतरनाक है। यह हमारी चेतना का सबसे भीतर का स्तर है। यह भौतिक शरीर से संबद्ध है। यह आन्तरिक-चेतना का स्तर नहीं है।

ग्रंथि-तंत्र का महत्त्व

होमियोपैथिक के प्रवर्तक डॉ० हनीमेन ने बहुत महत्त्व की सूचना दी है कि मन चेतना का आन्तरिक स्तर नहीं है। चेतना का आन्तरिक स्तर है—आवेग, क्रोध, मान, ईर्ष्या, लालच आदि। हमारी वृत्तियां चेतना का आन्तरिक स्तर हैं। बीमारियां वहां से आती हैं। चरित्र भी वहीं से आता है। मस्तिष्क से चरित्र नहीं आता। चरित्र आता है वृत्तियों से और वह आता है ग्रन्थि-तंत्र से। ग्रन्थियों का स्थान मस्तिष्क का स्थान नहीं है। आज तक यही माना जाता था कि मस्तिष्क हमारे शरीर का मुख्य अवयव है। इसी प्रकार हृदय और गुर्दे भी महत्त्वपूर्ण अवयव माने जाते हैं। किन्तु अब शरीर-शास्त्रीय नये अविष्कारों ने यह प्रमाणित कर दिया कि शरीर का सबसे महत्त्वपूर्ण अवयव है हमारा ग्रंथि-तन्त्र। डक्टलेश ग्लैण्ड्स—अन्तःस्रावी ग्रन्थियों का स्राव बाहर नहीं होता। वह सीधा रक्त में ही मिल जाता है। आवेग, आवेश और भ्रष्ट आचरण—इन सबका निमित्त है ग्रन्थि-तन्त्र। ग्रन्थि-तन्त्र को प्रभावित किए बिना आदमी को सच्चरित्र, प्रामाणिक नहीं बनाया जा सकता। भ्रष्टाचार को समाप्त करने और जीवन में सचाई लाने के लिए ग्रन्थि-तन्त्र को प्रभावित करना होगा। आदमी उपदेशों से सच्चरित्र नहीं होता, जितना वह ग्रन्थि-तन्त्र के स्रावों को बदलने से होता है। यह तथ्य आज अनुभवसिद्ध हो चुका है। यह नियम ९५% लोगों पर लागू होता है। कुछेक व्यक्ति, जिनकी चेतना अत्यन्त प्रबुद्ध होती

है, ये इसके अपवाद होते हैं। ग्रन्थि-तन्त्र को बदले बिना आदमी को नहीं बदला जा सकता।

समस्त उत्तेजनाएं, वासनाएं और कामनाएं ये उपाधि हैं।

प्रेक्षा की निष्पत्ति

व्याधि, आधि और उपाधि—ये तीन अवरोधक हैं। इनको समाप्त करने पर, इनकी सीमाओं को पार करने पर समाधि की सीमा प्रारंभ होती है। समाधि का अनुभव, स्वास्थ्य का अनुभव, परम आनन्द का अनुभव, वीतरागता का अनुभव—यह सब तीनों अवरोधों को तोड़ने पर ही हो सकता है।

प्रेक्षा ध्यान समाधि तक पहुंचने की प्रक्रिया है। समाधि तक पहुंचने के लिए व्याधि, आधि और उपाधि को देखना, समझना और उन पर नियंत्रण करना होता है। प्रेक्षा ध्यान यह सब करने के लिए व्यक्ति को सन्नद्ध करता है।

प्रारंभ में मैं यही मंगल भावना करता हूं कि सभी साधकों की प्रेक्षा जागे, दर्शन की शक्ति विकसित हो, संकल्प की शक्ति जागे, परिवर्तन का सामर्थ्य बढ़े और परम आनन्द—समाधि का अनुभव हो।

२. क्या ज्ञान और आचरण की दूरी मिट सकती है ?

१. दूरी क्यों ? आनन्द, साक्षात्कार या दर्शन को भूल गए, इसलिए कथनी और करनी में, ज्ञान और आचरण में दूरी बनी रहती है।
- सिद्धान्त एक ओर, आनन्द या सुख दूसरी ओर। सिद्धान्त की अवज्ञा होगी, आदमी सुख पाने दौड़ेगा।

२. दूरी मिट सकती है— ध्यान द्वारा आनन्द प्राप्त होने पर।
- आत्मा का दर्शन होने पर दूरी अपने आप मिट जाती है।
- आनन्द उपलब्ध होने पर दूरी अपने आप मिट जाती है।

३. साक्षात्कार कैसे ? आनन्द उपलब्ध कैसे ?
- दर्शन की आकांक्षा जागे, श्रद्धा जागे, दर्शन का अभ्यास करें।

४. अति-व्यस्तता या अति-सक्रियता दर्शन में बाधा। अभ्यास का पहला सूत्र—शरीर को विश्राम देना सीखें, विश्राम का अभ्यास करें।
- नींद और सम्मोहन की अपेक्षा कायोत्सर्ग और ध्यान में अधिक विश्राम।

५. अणुव्रत का पहला सिद्धान्त है—ज्ञान और आचरण की दूरी मिटे, कथनी और करनी में एकता आए।

दो

कथनी और करनी

व्यक्तित्व के दो कोण हैं। एक है वीतरागता और दूसरा है छद्मस्थता। एक है शिखर और एक है तलहटी। वीतराग पूर्णता का प्रतीक है और छद्मस्थ अपूर्णता का। छद्मस्थ की पहचान के अनेक लक्षण हैं। उनमें एक है—'नो जहावाई तहाकारी'। छद्मस्थ वह होता है जो जैसा कहता है वैसा करता नहीं। कथनी और करनी में ऐक्य न होना छद्मस्थ का लक्षण है।

जब कथनी और करनी की दूरी मिटती है तब धर्म की मंजिल प्राप्त होती है अन्यथा व्यक्ति चलता ही रहता है, भटकता ही रहता है, गन्तव्य तक नहीं पहुंच पाता।

ज्ञान और आचरण की दूरी सहजतया मिटती नहीं। आदमी जानता है पर कर नहीं पाता। वह जानता कुछ है और करता कुछ है। कहता कुछ है और करता कुछ है। एक बहुत बड़ी समस्या है मनोविज्ञान के सामने भी और धर्म के सामने भी। धर्म ने इस दिशा में प्रयत्न किया कि कथनी और करनी की दूरी मिटे, ज्ञान और आचरण की दूरी मिटे। फिर भी यह दूरी ज्यों की त्यों बनी हुई है। इस पहेली को कैसे सुलझाया जाए? आदमी के चाहने और होने में भी दूरी रहती है। आदमी चाहता है कि वह स्वस्थ रहे, कभी रोग से आक्रान्त न हो। पर रोग होते हैं। वह चाहता है कि मन की उलझन न हो, पर मन की उलझनें बढ़ती जाती हैं। ऐसा क्यों होता है? चाह के अनुसार काम क्यों नहीं होता?

चिन्तामणि, कल्पवृक्ष, कामधेनु

अगर यह घटित हो जाता कि आदमी ने जो चाहा, वह हो गया तो आदमी चिन्तामणि रत्न होता, कल्पवृक्ष और कामधेनु होता। चिन्तन के अनुसार फल दे दे, वह चिन्तामणि। कल्पना के अनुसार जो फलित हो, वह कल्पवृक्ष और कामना के अनुसार जो वर्त्तन करे, वह कामधेनु। क्या हमने अपने भीतर विद्यमान शक्तियों

को ही पदार्थ मानकर अभिव्यक्ति दी है ? हमारे भीतर चिन्तन है, कल्पना है और कामधेनु है। ये तीन महत्त्वपूर्ण शक्तियां हैं। सब कुछ भीतर विद्यमान है, किन्तु मनुष्य उनको जानता ही नहीं, फिर वह उनकी कल्पना कैसे करता ?

यदि चाह और उपलब्धि की दूरी मिट जाए, यदि कथनी और करनी की दूरी मिट जाए, यदि ज्ञान और आचरण की दूरी मिट जाए तो हमसे भिन्न न कोई कल्पवृक्ष है, न कोई कामधेनु है और न कोई चिन्तामणि है। जब तक दूरी है तब तक हम दूरस्थ पदार्थो को देखेंगे, उन्हें महत्त्व देंगे, भीतर में नहीं देख पाएंगे। हम दूर की बात सोचेंगे, अपनी बात कभी नही सोच पाएंगे।

दूरी कैसे मिटे ?

ज्ञान और आचरण की दूरी कैसे मिटे—यह प्रश्न बहुत महत्त्वपूर्ण है। लोग मानते हैं—शास्त्र पढ़ते जाओ, प्रवचन सुनते जाओ, सब कुछ अपने आप घटित हो जाएगा। यदि अपने आप कुछ घटित होता तो आज तक सब कुछ घटित हो गया होता। पर अपने आप कुछ नहीं होता। चाहे कोई व्यक्ति चालीस वर्ष या चालीस जन्मों तक भी चलता रहे, वह गन्तव्य तक नहीं पहुंच सकेगा। बिना प्रयत्न किए, बिना विधि को समझे कुछ भी घटित नहीं होता। हमें पद्धति को जानना होगा। जो व्यक्ति चाभी घुमाना नहीं जानता, वह ताला नहीं खोल पाएगा।

दूरी मिटाने का उपाय : सरसता

दूरी मिटाने का एक उपाय है। जब सिद्धान्त सरसता में बदल जाता है तब दूरी अपने आप मिट जाती है। जब तक केवल सिद्धान्त रहेगा तब तक दूरी बनी रहेगी। सरसता आते ही दूरी समाप्त हो जाती है। सरसता केवल अध्यात्मशास्त्र का ही सिद्धान्त नहीं है, काव्यशास्त्र में भी उसकी प्रमुखता है। वह काव्य अच्छा नहीं होता जिसमें रस नहीं होता। वह वक्तृत्व भी अच्छा नहीं होता जो सरस नहीं होता। वह इक्षु भी निकम्मा होता है जिसमें रस नहीं होता। वह फल भी निकम्मा होता है जिसमें रस नहीं होता। सरसता ही श्रेष्ठ होती है।

मनुष्य का सारा आकर्षण रस में है, सुख में है। नीरस को कोई नहीं चाहता। दुःख कोई नहीं चाहता।

सिद्धान्त और रस

'बर्फ खाने से गला खराब होता है'—यह सिद्धांत आपने बच्चे को बता दिया। बच्चे ने सुन लिया। किन्तु जैसे ही बर्फ सामने आती है, बच्चा खाने को ललचा जाता है, क्योंकि उसका रस सिद्धान्त में नहीं है, उसका रस बर्फ खाने में है। हम

जितने सिद्धान्त बनाते हैं वे कहते हैं, ऐसा करो, ऐसा मत करो। यह वर्जना का सिद्धान्त है और यह विधि का सिद्धान्त है। सिद्धान्त मस्तिष्क तक जाते हैं। जब भावना की, इन्द्रियों की और संवेदनों की मांग उभरती है तब व्यक्ति वैसा ही आचरण कर लेता है। वह सिद्धान्त को भूल जाता है। वैसा करने में उसे रस मिलता है। आनन्द मिलता है। जब रस और आनन्द उपलब्ध होता है तब कौन सिद्धान्त को मानेगा ? क्यों मानेगा ?

डॉक्टर प्रमेह के रोगी से कहता है—आलू मत खाओ, चावल और चीनी मत खाओ। किन्तु जब रोगी रसोई घर में जाता है और दूसरे व्यक्तियों को ये सब चीजें खाते देखता है तब इन्द्रियों के संवेदन जाग उठते हैं, जीभ के संवेदन सक्रिय हो जाते हैं और मुंह से लार टपकने लग जाती है। सिद्धान्त की बात विस्मृत हो जाती है।

यह अन्तर इसलिए है कि सिद्धान्त में रस नहीं है और जहां रस नहीं होता व्यक्ति उसे मानता नहीं। आदमी को रस है इन्द्रियों के संवेदनों में, इन्द्रियों के भोग में। हम उसकी वर्जना करते हैं। यह कैसे संभव हो सकेगा ? यह रास्ता समाधान का रास्ता नहीं है। सिद्धान्त अपने स्थान पर बैठे रहेंगे और आदमी वही काम करेगा जिसमें रस आता है, आनन्द मिलता है। इस स्थिति में दूरी मिटने का प्रश्न ही नहीं उठता।

अध्यात्म में रस है। वह बहुत सरस है। दूरी को मिटाने का अध्यात्म एक उपाय बन सकता है। भौतिक जगत् में दूरी को मिटाने का कोई सूत्र उपलब्ध नहीं है। वहां दूरी बढ़ती है, मिटती नहीं, क्योंकि वहां भोग है। भोग में पाने की भावना होती है, बटोरने की इच्छा होती है। जहां बटोरने की भावना होती है वहां सिद्धान्त इतना कारगर नहीं होता। पदार्थ के जगत् में स्वार्थ सर्वोपरि होता है। अपने लिए, अपनी इन्द्रियों के लिए, अपने संवेदनों की पूर्ति के लिए—इनके अतिरिक्त पदार्थ जगत् में दूसरा कोई सूत्र नहीं है।

कानून प्रकाश से अंधकार की ओर ले जाते हैं

आज बुराइयों को मिटाने के लिए, समाज की भलाई और कल्याण के लिए तथा राज्य-व्यवस्था के लिए अनेक नियम और कानून बनाए जा रहे हैं। किन्तु आदमी के व्यवहार में कोई अन्तर नहीं आता। दंड के भय से वह प्रत्यक्ष में अनैतिक आचरण करने से हिचकता है किन्तु परोक्ष में वह वैसा करने से नहीं हिचकता। ये सारे नियम और कानून उसे प्रकाश से अंधकार की ओर ले जाते हैं। प्रत्यक्ष प्रकाश है और परोक्ष अंधकार। वह चाहता है, मेरे आचरण का किसी को पता न चले। उसे यह चिंता नहीं है कि यह अनैतिक आचरण है, यह नहीं होना चाहिए। उसे केवल चिंता है, किसी को पता न लगे। कितनी गहरी

बीमारी है। बीमारी की जड़ें बहुत गहराई में हैं। यही दूरी बनाए हुए है। इस व्यवस्था और पदार्थ-जगत् में दूरी को नहीं मिटाया जा सकता।

दूरी को मिटाने का सूत्र

अध्यात्म के आचार्यों की खोजों के द्वारा जो महत्त्वपूर्ण सूत्र उपलब्ध हुआ है वही इस दूरी को मिटा सकता है। वह सूत्र है—आनन्द की खोज। उन्होंने आनन्द को खोजा और एक दर्शन दिया कि जो आनन्द तुम पदार्थ से पाना चाहते हो उससे अधिक आनन्द तुम्हारे पास है। उसे प्राप्त करो। एक बड़े आनन्द को पाए बिना छोटे आनन्द को नहीं छोड़ा जा सकता। बड़े सुख की उपलब्ध किए बिना छोटे सुख को नहीं छोड़ा जा सकता। बड़ी रेखा को खींचे बिना छोटी रेखा को नहीं मिटाया जा सकता। छोटी बात को छोड़ने के लिए बड़ी बात उपलब्ध करनी होती है।

मस्तिष्कीय तरंगें : उनका कार्य

आनन्द सबसे बड़ी उपलब्धि है। मैं इस आनन्द की व्याख्या वैज्ञानिक शब्दावली में प्रस्तुत करना चाहता हूं। मेडिकल इन्स्टीट्यूट आफ टेक्नोलॉजी, मद्रास ने, एक उपकरण का निर्माण किया है जिससे मनुष्य के मस्तिष्क की अल्फा तरंगों को देखा जा सकता है और उन्हें संप्रेषित भी किया जा सकता है। वैज्ञानिकों के अनुसार हमारे मस्तिष्क में विभिन्न प्रकार की विद्युत् तरंगें होती हैं—अल्फा, बेटा, डेटा, थेटा आदि-आदि। जब 'अल्फा' तरंगें अधिक होती हैं तब आदमी आनन्द से भर जाता है। उसके सारे अवसाद समाप्त हो जाते हैं, कठिनाई दूर हो जाती है। जब 'बेटा' तरंगें अधिक होती हैं तब आदमी अवसाद से भर जाता है, उसमें उत्तेजनाएं उभरती हैं। इस प्रकार मस्तिष्कीय विद्युत्-तरंगों के द्वारा आदमी कभी सुख का अनुभव करता है और कभी दुःख का अनुभव करता है। अध्यात्म का सूत्र है कि अल्फा तरंगों को पैदा किया जाए और आनन्द को बढ़ाया जाए। उस आनन्द की इतनी वृद्धि हो कि इन्द्रियों के संवेदनों से होने वाली क्षणिक आनन्दानुभूति उसके सामने फीकी पड़ जाए। जब यह घटित होता है तब व्यक्ति का बाह्य आकर्षण छूटने लगता है और आन्तरिक आनन्द की उपलब्धि के लिए प्रयत्न प्रारम्भ हो जाता है। यही दूरी को मिटाने का आदि-बिन्दु है। जब तक व्यक्ति को यह लगता है कि इन्द्रियजन्य आनन्द को छोड़ना बहुत बड़े आनन्द से वंचित रहना है, तब तक व्यक्ति उसे छोड़ नहीं सकता। वह उसे तभी छोड़ सकता है जब वह आनन्द छोटा बन जाए, अर्थहीन बन जाए। सब जानते हैं कि अब्रह्मचर्य से शक्ति क्षीण होती है, ऊर्जा क्षीण होती है, पर सभी ब्रह्मचारी कहां बन पाते हैं? ब्रह्मचारी तब तक नहीं हुआ जा सकता जब तक उससे बड़ा आनन्द प्राप्त न

हो जाए। अल्फा तरंगों का उत्पादन बड़े आनन्द को उपलब्ध करा सकता है। उस स्थिति में सारे तनाव समाप्त हो जाते हैं। मन आनन्द, सुख और शान्ति से भर जाता है। तब ऐसा अनुभव होता है कि जो प्राप्तव्य था वह प्राप्त हो गया। अब खोज बेकार है, भटकाव निकम्मा है। अब न सुन्दर रूप आकर्षण पैदा करता है और न मधुर संगीत ही मन को लुभा पाता है। संगीत सुनने की अपेक्षा महसूस नहीं होती। अपने भीतर इतना मधुर संगीत प्रारम्भ हो जाता है कि सुनते-सुनते जी नहीं अघाता। अपने भीतर रस का इतना बड़ा झरना बहने लग जाता है कि उसके सामने सब नीरस-सा लगता है। आनन्द की उपलब्धि किए बिना, सरसता की प्राप्ति के बिना कथनी और करनी की दूरी मिट नहीं सकती। ध्यान का नशा चढ़े बिना आनन्द उपलब्ध नहीं होता। मदिरापान करने वाला भी मूर्ख नहीं है। वह आनन्द पाने के लिए मदिरा पीता है। यह मदिरा कथनी और करनी की दूरी को बनाए रखती है। यदि इससे छुटकारा पाना है तो ध्यान की मदिरा पीनी होगी।

अल्फा तरंगों का उत्पादन कैसे ?

प्रश्न होता है कि हम आनन्द को उपलब्ध कैसे करें ? अल्फा तरंगों का उत्पादन कैसे हो सकता है ? अध्यात्म की भाषा में आनन्द की उपलब्धि का मार्ग यह है—पहले उपाधियां मिटें। इसका तात्पर्य है कि कषाय के सारे आवेग समाप्त हों। उपाधियों के मिटने पर आधियां—मानसिक बीमारियां विनष्ट हो जाती हैं। आधियों के न होने पर व्याधियां—शारीरिक रोग नहीं रह सकते। व्याधि के मिटने पर जीवन आनन्द से भर जाता है।

उपाधि है मूल

शरीर में रोग होना इस बात का द्योतक है कि मन में रोग है। व्याधि आधि की सूचना देती है। आधि है तो उपाधि अवश्य ही होगी। उपाधि के बिना मन की उलझन नहीं होती। यह एक क्रम है। निदान किसका करें ? व्याधि का, आधि का या उपाधि का ? व्याधि बीमारी का लक्षण है। उसका निदान करने से क्या होगा ? आधि भी मूल नहीं है। उसका निदान भी निरर्थक होगा। हमें मूल का निदान करना चाहिए। उपाधि मूल है, स्रोत है। उपाधि की चिकित्सा करें। सब कुछ स्वस्थ हो जाएगा। उपाधि की चिकित्सा से आधि मिटेगी। आधि के मिटने पर व्याधि नहीं जन्मेगी।

मूर्च्छा : उपाधि का मूल

उपाधि का मूल है—सघन मूर्च्छा। मनुष्य इतना मूर्छित है कि वह सचाई को

पकड़ ही नहीं पाता। हमारे भीतर अनन्त आनन्द का स्रोत बह रहा है, किन्तु हम उससे अजान हैं। यह अजानकारी ही आनन्द की उपलब्धि में बाधक है। उस संपदा का पता कैसे चले? यह एक प्रश्न है।

विश्राम कहां और क्या ?

हमारी व्यस्तता आनन्द के स्रोत का पता लगाने नहीं देती। आज का आदमी इतना व्यस्त है कि वह विश्राम करना जानता ही नहीं। नीद विश्राम है, परन्तु वह केवल स्थूल अवयवों को ही विश्राम दे पाती है। कुछ वैज्ञानिकों ने कहा—नींद से विश्राम मिलता है। सम्मोहन भी विश्राम देता है। किन्तु सबसे अधिक विश्रामदायक है ध्यान। एक आदमी दो दिन-रात सोए रहता है। उसे विश्राम की अनुभूति होती है। किन्तु यदि वही आदमी कुछ घंटों तक ध्यान की गहराई में जाता है तो उसे और अधिक विश्राम की अनुभूति होती है। नींद स्थूल मन को विश्राम दे सकती है। किन्तु हमारी कोशिकाओं को विश्राम कहां मिल पाता है। वे नींद में भी सक्रिय रहती हैं। हृदय और श्वास-तन्त्र को विश्राम कब मिलता है? नींद में भी वे सतत क्रियाशील रहते हैं। मस्तिष्क भी निरन्तर सक्रिय रहता है। आदमी सोता कम है, जागता अधिक है। सोते समय भी सपनों की शृंखला में जागता रहता है। कहां आ पाती है नींद। नींद के अभाव में थकान नहीं मिटती, भारीपन नहीं मिटता। यह सब मिट सकता है यदि आदमी विश्राम करना जाने। विश्राम तब होता है जब स्थूल अवयव ही नहीं, शरीर की एक-एक कोशिका सो सके। यह होता है ध्यान और कायोत्सर्ग से। जो आदमी ध्यान और कायोत्सर्ग करना जानता है उसके हृदय के स्पंदन कम होने लगते हैं, श्वास मन्द होने लगता है। इस स्थिति में हृदय को और श्वासतंत्र को कुछ विश्राम मिलता है। वे क्षण भर के लिए निष्क्रिय-से हो जाते हैं। महावीर ने कहा—सिद्धि का साधन है अक्रिया। क्रिया से सिद्धि नहीं मिलती। सिद्धि की प्राप्ति के पूर्व-क्षण में साधक को अक्रिय होना ही पड़ता है।

अक्रिया सक्रियता की जननी

सक्रियता और व्यस्तता मस्तिष्क को बोझिल बनाती हैं। सिद्धियां दूर चली जाती हैं। व्यवहार का भी सिद्धांत है कि जो आदमी अधिक व्यस्त रहता है, काम में अधिक रस लेता है और सोचता है कि अधिक काम करूं, इसका अर्थ है वह काम कम कर पायेगा। जो काम करने के साथ-साथ विश्राम भी लेता रहता है, वह अधिक काम निष्पन्न कर पाता है। विश्राम नहीं करने वाला जितना काम दस घंटों में करता है उससे अधिक काम बीच-बीच में विश्राम करने वाला दो घंटों में कर लेता है। उसकी कार्य-क्षमता बढ़ जाती है। जब तक विश्राम करने के

सिद्धांत को हम हस्तगत नहीं कर लेते तब तक आनन्द की उपलब्धि का मार्ग भी नहीं मिल सकता। आदमी जब अधिक व्यस्त होता है तब मानसिक विकृतियां बढ़ती हैं। व्यस्तता से रक्त में लेक्टर एसिड की मात्रा अधिक बढ़ जाती है। वह मानसिक अवरोध पैदा करती है। 'बेटा' तरंगें अधिक उत्पन्न होती हैं और वे मानसिक संतुलन को अस्त-व्यस्त कर देती हैं। विश्राम की स्थिति में अल्फा तरंगें पैदा होती हैं। वे ही आनन्द की उत्पत्ति में कारणभूत हैं।

अल्फा तरंगों से मानसिक उपचार

साधक कहता है—ध्यान में आनन्द आता है। इसका तात्पर्य यही तो है कि जब साधक काया का उत्सर्ग कर देता है,शरीर की एक-एक कोशिका को निष्क्रिय-सा बना देता है, वाणी शांत, श्वास शांत, मन शांत, समूचा कर्म-तंत्र शांत, तो उस विश्राम की सघन स्थिति में मस्तिष्क में अल्फा तरंगों का संवर्धन होता है। वे तरंगें साधक को आनन्द विभोर कर देती हैं। आज के मनोवैज्ञानिक मानते हैं कि बीस प्रतिशत मानसिक रोग ऐसे हैं जिनकी चिकित्सा अल्फा तरंगों के आधार पर ही की जा सकती है। वे मानते हैं कि एक व्यक्ति के मस्तिष्क की अल्फा तरंगों को यदि दूसरे व्यक्ति के मस्तिष्क में संप्रेषित किया जा सके तो रोग का उपचार हो सकता है। यह संभव है।

आदमी गुरु, योगी, संत व्यक्तियों के उपपात में बैठता है। उसे अपूर्व आनन्द का अनुभव होता है। गुरु या योगी ने क्या दिया ? कुछ भी नहीं। फिर आनन्द की अनुभूति कैसे ? उपपात में बैठने वालों को क्या मिला ? कैसे मिला ? यह प्रश्न है। इसका सहज और वैज्ञानिक समाधान यह है कि जिस महापुरुष के मस्तिष्क में अल्फा तरंगों की मात्रा अधिक होती है, उसके आसपास बैठने वालों में वे तरंगें संप्रेषित होती हैं और वे आनन्द की अनुभूति कराती हैं। आज के वैज्ञानिक आध्यात्मिक तथ्यों की व्याख्या जिस प्रकार कर रहे हैं, लगता है कि वैज्ञानिक-जगत् सचमुच ही अध्यात्म-जगत् को उपकृत कर रहा है। आचार्य तुलसी ने कहा था—'विज्ञान को छोड़कर यदि अध्यात्म को प्रस्तुत किया जाए तो वह ग्राह्य नहीं होता। अध्यात्म की व्याख्या केवल शास्त्रों या उपदेश के आधार पर न करें, उसे वैज्ञानिक धरातल देकर प्रस्तुत करें। कोई भी व्यक्ति तब अध्यात्म का विरोधी नहीं होगा।'

शरीर, वाणी और मन का विश्राम

हमारी व्यस्तता कम हो। हम विश्राम करना सीखें, जानें। कायोत्सर्ग के द्वारा हम शरीर को विश्राम दें, अन्तर्जल्प, मौन और निर्विचारता के द्वारा हम वाणी को विश्राम दें तथा प्रेक्षा और दर्शन के द्वारा हम मन को विश्राम दें। यदि

यह विश्राम घटित होता है तो अपने आप अल्फा तरंगों का संवर्धन प्रारंभ हो जाता है। यह संवर्धन आनन्द की तुष्टि देता है।

अल्फा तरंगों की निष्पत्ति

आदमी पदार्थों का त्याग करता है, त्याग की भाषा में नहीं, अन्तर्मन से, तो मानना चाहिए कि उसके मस्तिष्क में अल्फा तरंगों का संवर्धन हुआ है। अन्यथा पदार्थ की आसक्ति नहीं मिटती। मुनि स्थूलभद्र वेश्या के घर में रहे। उस वेश्या के घर में जो वेश्या चिर-परिचित थी, जिनके साथ स्थूलभद्र, मुनि बनने से पूर्व रह चुके थे। क्या उस वेश्या के साथ रहना और निष्कलंक बने रहना संभव है? सामान्य व्यक्ति इस संभावना की कल्पना भी नहीं कर सकता। पर यह घटना घटी। स्थूलभद्र मुनि उसके घर एक महीना नहीं, चार महीने तक रहे और अपनी सफ़ेद चादर को बेदाग रखा। यह तभी संभव हो सका जबकि स्थूलभद्र का मस्तिष्क अल्फा तरंगों से इतना भर गया कि उसे वेश्या राख के पुंज के अतिरिक्त और कुछ नहीं लगी। स्थूलभद्र काम-विजयी बन गए।

एक व्यक्ति ने आकर हेमचन्द्र से पूछा—भंते! साधु सरस भोजन करते हैं, गरिष्ठ भोजन घर-घर से लेते हैं, फिर वे ब्रह्मचर्य का पालन कैसे कर पाते हैं? गरिष्ठ भोजन से शक्ति बढ़ती है और वह काम-वासना को उत्तेजित करती है। ऐसी स्थिति में ब्रह्मचारी रह पाना क्या कठिन नहीं होता?

आचार्य ने कहा—भद्र! सिंह बलवान् प्राणी है। वह हाथी और सूअर के मांस को खाता है, फिर भी वह वर्ष में एक बार रति-क्रीड़ा करता है। कबूतर धान के दाने और कंकर खाकर पेट भरता है, फिर भी वह रात-दिन काम-वासना से संतप्त रहता है। इसका क्या हेतु है? भद्र! ब्रह्मचर्य या अब्रह्मचर्य में केवल भोजन ही निमित्त नहीं है, और अनेक कारण होते हैं।

तर्क की बात तर्क से कट गई। बलवान् तर्क निर्बल तर्क को परास्त कर देता है। सरस या नीरस भोजन की बात गौण है। यह प्रधान तब बनती है जब मस्तिष्क में अल्फा तरंगें नहीं होतीं। जब तक परम आनन्द की अनुभूति नहीं होती तब तक पदार्थगत आनन्द बांधे रखता है। आदमी पदार्थ से परास्त होता है; किन्तु जब मस्तिष्क, मन, चित्त और चेतना—ये आनन्द से भर जाते हैं, फिर चाहे गरिष्ठ भोजन खाया जाए, वेश्या के यहां रहा जाए, मनोमुग्धकारक शब्द सुना जाए तो कोई अन्तर नहीं आता। यह सारा आनन्द उपलब्ध होने पर ही घटित होता है। तब सोने का और धन का मूल्य कम हो जाता है। सत्ता और अधिकार का मूल्य कम हो जाता है। जब मस्तिष्क में अवसाद भरा होता है, जब वह चंचल होता है तब ये सारे पदार्थ मूल्यवान् लगते हैं, पत्थर भी पारस लगता है। जब मस्तिष्क में आनन्द भरा होता है तब ये सारे बाह्य पदार्थ सारहीन लगते

हैं, पारस भी पत्थर से अतिरिक्त नहीं लगता।

त्रिगुप्ति की साधना : विसर्जन की साधना

ज्ञान और आचरण की दूरी को मिटाने का एकमात्र उपाय है—आन्तरिक आनन्द की उपलब्धि। आनन्द की उपलब्धि का उपाय है—ध्यान। दूसरे शब्दों में वह उपाय है—कायगुप्ति, वचनगुप्ति, और मनोगुप्ति। जिसने इन तीनों गुप्तियों का अभ्यास कर लिया, उसने वह पा लिया जो पाना है। इन तीनों गुप्तियों का अभ्यास विसर्जन का अभ्यास है। यह विसर्जन हमें ज्ञान और आचरण की समसरता में ले जा सकता है। इससे कथनी और करनी, चाह और उपलब्धि की दूरी मिट सकती है।

तीन गुप्तियों की साधना केवल अध्यात्म का ही सूत्र नहीं है, व्यावहारिक जीवन का भी सफल सूत्र है। जो व्यक्ति अपने जीवन में सक्रियता और निष्क्रियता का संतुलन करना नहीं जानता वह सुख या आनन्द का जीवन नहीं जी सकता, फिर चाहे वह धनकुबेर हो, पदार्थों की प्रचुरता में जी रहा हो।

राकफेलर आज के युग का धनाढ्य व्यक्ति था। वह बीमार हुआ। उसे लगा कि मृत्यु सन्निकट है और अब अधिक जी पाना असंभव है। डॉक्टरों ने कहा—यदि तुम व्यापार की व्यस्तता से मुक्त नहीं होओगे तो बिना मौत मारे जाओगे। उसने सुना और समझा। तत्काल वह व्यापार को अपने अधिकारियों को संभला-कर एक वर्ष के लिए एकान्त में चला गया। उसने अपनी आत्मकथा में लिखा—मैंने सब कुछ छोड़ कर सब कुछ पा लिया।

जब तक छोड़ा नहीं जाता, विसर्जित नहीं किया जाता तब तक यथार्थ हाथ नहीं लगता। यथार्थ को पाए बिना इन दूरियों को मिटाया नहीं जा सकता। हम यथार्थ को उपलब्ध हों, बस।

३. क्या कर्म अनासक्त हो सकता है?

- अकर्त्तृ कुर्वंवप्येतत्, चेतः प्रतनुवासनम् ।
  दूरंगतमना जन्तुः, कथा संश्रवणे यथा ॥

१. आत्मा का दर्शन हो सकता है।

- दर्शन होने पर—
  कर्त्ता अकर्त्ता में, श्रोता अश्रोता में और वक्ता अवक्ता में बदल जाता है।

२. वृत्ति, प्रवृत्ति, पुनरावृत्ति—कर्त्ता।

- वृत्ति-शोधन प्रवृत्ति निवृत्ति—अकर्त्ता।

३. कर्म—

- कौशल—अकौशल।
- सार्थक—व्यर्थ।
- आवश्यक—अनावश्यक।
- व्यवस्थित—अव्यवस्थित।

४. कर्म की प्रेरणा—
   वृत्ति वात्सल्य करुणा।
   आसक्ति द्वेष महत्त्वाकांक्षा।

५. पशु और मनुष्य में यही अन्तर—
   मनुष्य शोधन करता है, प्रेरणा को उदात्त बनाता है।

६. अकर्म या निष्कर्म वह है जिसके पीछे केवल मुक्ति की प्रेरणा हो।

७. जिस क्रिया से चित्त कलुषित हो, वह कर्म।

- जिस क्रिया से चित्त निर्मल हो वह अकर्म।

८. कर्म हो, कर्म का लेप न हो—यह मानवीय चेतना का विकास जो मनुष्य को पशु से पृथक् करता है। यह भारतीय दर्शनशास्त्र का एक महत्त्वपूर्ण योग है।

तीन

कर्म : अकर्म

ध्यान साधना करने वाले व्यक्ति आत्मा का साक्षात्कार कर सकते हैं। वे स्वयं परमात्मा बन सकते हैं। इसकी केवल एक शर्त है कि व्यक्ति कर्म से मुक्त हो, अकर्म बने। जिस उपलब्धि के लिए व्यक्ति हजारों प्रयत्न करता है, वह एक अप्रयत्न से प्राप्त हो जाती है। व्यक्ति नहीं जानता, वह हजारों-हजारों प्रयत्न करता रहता है, विभिन्न प्रवृत्तियां और कर्म करता रहता है। पर सब कुछ प्रयत्न या कर्म से नहीं मिलता। कुछ ऐसी भी उपलब्धियां हैं जो केवल अप्रयत्न से ही प्राप्त होती हैं। कुछ ऐसा भी तत्त्व है जो कर्म से नहीं, अकर्म से मिलता है। हमने अज्ञानवश यह मान लिया कि जो सिद्धि होगी वह प्रयत्न या प्रवृत्ति या कर्म से ही होगी। हम अप्रयत्न या अकर्म का मूल्य नहीं जानते।

कुछ लोग इस बात पर अधिक बल देते हैं कि कर्म होना चाहिए। यदि कर्म को छोड़ दिया गया तो लोग आलसी बन जाएंगे, भूखे मरेंगे। न खेती होगी, न अनाज पैदा होगा। न कुआं होगा और न पानी मिलेगा। सब भूखे-प्यासे मर जाएंगे। न कपड़ा होगा, न मकान होगा और न कुछ। इसलिए कर्म ही श्रेष्ठ है। व्यक्ति इतना कर्म करे कि वह कर्ममय बन जाए। कर्म का कौशल इतना बढ़े कि पदार्थों के उत्पादन की बाढ़ आ जाए और सारा देश पदार्थों से भर जाए। पदार्थ का अभाव रहे ही नहीं। यह एक दृष्टिकोण है। कर्म पर अत्यधिक बल देने वाले अकर्म के मूल्य को भूल जाते हैं या अकर्म के वास्तविक अर्थ को नहीं जानते।

क्या कर्म अकर्म हो सकता है ?

भारतीय दर्शन में इस प्रश्न पर चर्चा की गई कि क्या कर्म को अकर्म बनाया जा सकता है? काफी गहरा चिन्तन चला। उसका निष्कर्ष यह हुआ कि यदि कर्म को अकर्म न बनाया जा सके तो पशु और मनुष्य में कोई अन्तर नहीं रहेगा।

मैंने देखा। एक चिड़िया घोंसला बना रही थी। वह तिनका लाती है, स्थान

पर रखते ही वह जमीन पर आ गिरता है। वह पुनः उसे उठाती है। पुनः वह नीचे आ गिरता है। यह क्रम चलता रहा। मैंने सोचा—कितना प्रयत्न ! कितना श्रम ! शायद आदमी भी इतना प्रयत्न नहीं कर सकता। वह इतना पुरुषार्थी नहीं हो सकता, क्योंकि उसके सामने श्रम की एक रेखा है, श्रम का विभाजन है। चिड़या में वह नहीं है। सायंकाल तक उसका प्रयत्न चला। पर घोसला नहीं बना। सारा व्यर्थ। चिड़िया यह विवेक नहीं कर पा रही थी कि उसका प्रयत्न अर्थवान् है या निरर्थक, पर उसके पुरुषार्थ में कोई कमी नहीं थी। वह घोसला बनाती है। बच्चे का प्रसव करती है। उसे चुगा-पानी देती है। बड़ा करती है। यह क्रम सतत चलता रहता है।

हम कर्म को न देखें। कर्म को देखते हैं तो धारणाएं भ्रांत बनती हैं। हम कर्म के स्रोत को देखें, कर्म के प्रेरक तत्त्व को देखें। हम यह देखें कि कर्म कहां से आ रहा है। कर्म शब्द ने बड़ी भ्रांति पैदा की है। अकर्म शब्द को सुनते ही आदमी सोचता है कि अकर्म का फल है निठल्लापन। अकर्मण्यता से सब कुछ समाप्त हो जाता है। विकास का अवकाश ही नहीं, जो है वह भी नष्ट हो जाता है।

एक मरुस्थल का वासी अनार के देश में चला गया। उसे वहां अनार खाने को दी। उसने अनार को उलट-पलट कर देखा। उसका छिलका उतारा। अन्दर बीज ही बीज थे। लाल लाल बीज। उसने बीजों को निकाल कर फेंक डाला। हाथ में छिलका मात्र रह गया। वह उसे खाने लगा। मुंह कषैला हो गया। उसने ग्रास को थूकते हुए कहा—'अरे ! यह कैसा फल ! इतना कषैला !

उस आदमी को पता नहीं था कि अनार में कौन-सा अंश खाने का होता है और कौनसा फेंकने का। सारे बीज निकालने के ही होते हैं—यह मानकर उसने बीजों को फेंक डाला। हाथ लगा केवल छिलका जो कषैला होता ही है।

जिस व्यक्ति ने अकर्म का अनुभव नहीं किया, अकर्म के महत्त्व को नहीं जाना वह अकर्म के मीठे बीजों को डालता जाएगा और कर्म के कड़वे छिलकों को खाता जाएगा। मुंह कड़वा होगा, कषैला होगा, पर वह उसे नहीं छोड़ेगा। अकर्म को छोड़कर आज मनुष्यजाति बहुत दरिद्र और शक्तिशून्य बन गई है। जब कर्म की शक्ति का भान नहीं होता तब कर्म की तेजस्विता भी समाप्त हो जाती है।

भारत के साधकों ने, आचार्यों ने इस पर बल दिया कि यदि मनुष्य और पशु-जगत् में भेदरेखा खींचनी है तो कर्म और अकर्म के आधार पर खींची जा सकती है। मनुष्य अकर्म की ओर जा सकता है। पशु अकर्म की ओर नहीं जा सकता। कर्म से अकर्म की ओर जाने में कर्म को छोड़ना नहीं पड़ता, किन्तु कर्म की प्रेरणा का शोधन करना पड़ता है।

कर्म का प्रेरक तत्त्व—वृत्ति

कर्म की प्रेरणा है—वृत्ति। वृत्ति से प्रेरित होकर ही मनुष्य और पशु कर्म करते हैं। वृत्तियां अनेक हैं—आहार की वृत्ति, भय की वृत्ति, काम और परिग्रह की वृत्ति, क्रोध और मान की वृत्ति, माया और लोभ की वृत्ति। इन वृत्तियों से प्रेरित होकर ही प्राणी कर्म करता है। प्रत्येक कर्म के पीछे इनमें से किसी एक या अधिक वृत्तियों की प्रेरणा मिलेगी। वृत्ति से प्रवृत्ति और प्रवृत्ति से पुनरावृत्ति—यह चक्र निरन्तर चलता रहता है। वृत्ति जागी, प्रवृत्ति हुई। प्रवृत्ति ने मनुष्य को बांध दिया। अब पुनरावृत्ति होना अनिवार्य है। उसको बार-बार दोहराना होगा। उसके बिना छुटकारा नहीं हो सकता। संस्कार संस्कार बनाता है। जो व्यक्ति एक बार करता है वह संभवतः बच जाता है। वृत्ति की प्रेरणा आती है, वह प्रवृत्ति तक नहीं पहुंच पाती है तो संभव है कि आदमी बच जाएगा। किन्तु वृत्ति जागी, प्रवृत्ति की तो पुनरावृत्ति करनी ही होगी, उसे रोका नहीं जा सकता। बार-बार उसकी आवृत्तियां होती रहेंगी। संस्कार पकड़ लेता है, ग्रस लेता है। आदमी संस्कारों से ग्रस्त होकर ही काम करता है, आवश्यकतावश काम में कम प्रवृत्त होता है। जिस संस्कार से चित्त एक बार ग्रस्त हो जाता है, उस संस्कार को दोहराना ही पड़ता है।

वृत्ति-शोधन

हमें शोधन करना है। शोधन कर्म का नहीं करना है, कर्मेन्द्रिय का नहीं करना है। हाथ एक कर्मेन्द्रिय है। उसका क्या शोधन हो सकता है ? वह चलता रहता है। किसी ने किसी को चांटा मारा तो उसमें हाथ का क्या दोष है ? क्या हाथ ने बुरा कर्म किया है ? हाथ कुछ भी नहीं जानता। हाथ से चांटा मारने के पीछे जो हमारी क्रोध की वृत्ति है उसका शोधन करना है। हाथ का क्या शोधन होगा ? हाथ चलता ही रहेगा। चांटे मारने में हाथ नहीं चलेगा तो वह प्रणाम करने में चलेगा, भोजन करने में चलेगा। हाथ का शोधन नहीं करना है, किन्तु हाथ को अनुचित कार्य करने में प्रेरित करने वाली वृत्ति का शोधन करना है। कर्म अकर्म तब बनता है जब वृत्ति का शोधन होता है। कर्म के साधनों का शोधन नहीं होता, कर्म की प्रेरणा का शोधन हो सकता है। प्रेरणा का शोधन केवल मनुष्य ही कर सकता है, पशु नहीं कर सकता। यही मनुष्य और पशु के बीच की भेद-रेखा है। आदमी और पशु की परिभाषा हम इन शब्दों में कर सकते हैं कि जो वृत्ति का शोधन कर सकता है, वह होता है आदमी और जो वृत्ति का शोधन नहीं कर सकता, वह होता है पशु। पशु की पशुता चलती रहेगी, इसीलिए कि उसमें वृत्ति-परिष्कार की कोई संभावना नहीं है। मनुष्य पशुता से ऊपर उठ सकता है क्योंकि

उसमें वृत्ति-परिष्कार की क्षमता है।

आत्म-साक्षात्कार का पथ : कर्म से अकर्म में जाना

मनुष्य कर्म से अकर्म में जा सकता है। यह पथ है आत्म-साक्षात्कार क इस पथ पर अनगिन चरण चले हैं, चलते हैं और चलते रहेंगे। किन्तु जब दिशा में पहला चरण उठता है तब एक प्रकार की भावना होती है और जब च आगे बढ़ते हैं तब पूर्व भावना में परिवर्तन आने लगता है। मुझे लगता है कि जि दिन कर्म से अकर्म की दिशा में प्रयाण हुआ, उस दिन एक प्रकार की भावना ब थी, किन्तु बीच में भावना में बहुत बदलाव आ गया। एक सूत्र पकड़ लिया—क का शोधन करने के लिए कर्त्ता-भाव को छोड़ना होगा, सब कुछ ब्रह्म के लि समर्पित करना होगा। 'मैं करता हूं'—इस अहंकार का परित्याग करना होग उससे अकर्त्ताभाव प्राप्त होगा। यह सुन्दर सूत्र था। पर इसका भी दुरुपयोग हुअ आज इस सूत्र को आधार मानकर कुछ लोग कहते हैं—हम मिलावट करते अप्रामाणिकता करते हैं, पर हमारा उनमें कर्त्ताभाव नहीं है। होता है, यह स है। हम कुछ नहीं हैं। जो कुछ अर्जन होता है, वह ब्रह्म के लिए है। मेरा अप कुछ भी नहीं है।

यह दोनों ओर की विकृति है। प्रारंभ में विकृति और अन्त में भी विकृति इस विकृत चिंतन से कर्म से अकर्म की ओर जाने की दिशा ही धुंधली हो गयी उसमें विकार आ गया। अकर्म की बात करते ही अनेक प्रश्न खड़े हो जाते हैं। प्रश्न अकारण नहीं हैं।

कर्त्ता अकर्त्ता कब ?

योगवशिष्ठ का एक सुन्दर श्लोक है—

> अकर्तृ कुर्वदप्येतत्, चेतः प्रतनुवासनम्।
> दूरंगतमना जन्तुः, कथासंश्रवणे यथा ॥

इस श्लोक का आशय यह है कि आदमी कर्म करता हुआ भी अकर्म र सकता है। वह प्रवृत्तियां करता हुआ भी यह दावा कर सकता है कि मैं कर्त्ता नह हूं। इस अधूरे तथ्य ने एक उलझन पैदा कर दी। क्या प्रत्येक आदमी यह क सकता है कि वह सब कुछ करते हुए भी कर्त्ता नहीं है? यदि यह हो तो किसी को श्रेय नहीं दिया जा सकेगा और किसी को अश्रेय नहीं दिया जा सकेगा। कोई किसी को चांटा मार कर कह सकता है—यह मैंने नहीं किया, क्योंकि मैं तो कर्त्ता नहीं हूं। चोरी करके भी कह सकता है—मैं कर्त्ता तो हूं नहीं, मुझे क्या पता कि चोरी कैसे हुई? फिर कोई दोष का भागी नहीं होगा। यदि कर्तृत्व का विसर्जन इ

भूमिका पर किया जाए तो कुछ भी नहीं होगा। योगवाशिष्ठकार ने इस उलझन का सुन्दर समाधान भी श्लोक में प्रस्तुत कर दिया है। वही आदमी कर्त्ता होते हुए भी अकर्त्ता वन सकता है जिसकी वासनाएं क्षीण हो चुकी हैं। जव तक वासना क्षीण नहीं होती, कषाय कम नहीं होते तव तक आदमी कर्त्ता बना रहता है, लाख प्रयत्न करने पर भी अकर्त्ता नहीं वन सकता। योगवाशिष्ठकार कर्त्ता अकर्त्ता कैसे होता है—इसको समझाते हुए कहते हैं—धर्म का उपदेश सुनने वाला व्यक्ति जव धर्म की वात सुनता है तव उसका मन दूसरी वात में चला जाता है, मन भटक जाता है। वह श्रोता अश्रोता वन जाता है। यह सही है। वह सुनता हुआ भी नहीं सुनता। धर्म का श्रवण करते समय नींद भी सताने लग जाती है। सिनेमा में तीन-तीन घंटा वैठे रहने पर भी नींद का आक्रमण नहीं होता और धर्म-प्रवचन में प्रारंभ से ही वह सताने लग जाती है। यह क्यों? इसका एक कवि ने वहुत सुन्दर समाधान दिया जो योगवाशिष्ठकार की वात की ही पुष्टि करता है। उस कवि ने एक श्लोक कहा—

> निद्राप्रियो यः खलु कुम्भकर्णः, हतः समीके स रघुत्तमेन।
> वैधव्यमापद्यत तस्य कान्ता, श्रोतुं समायाति कथापुराणम्॥

नींद का पति था कुम्भकर्ण। राम-रावण के युद्ध में वह मारा गया। नींद वेचारी विधवा हो गयी। विधवा के लिए धर्म-कथा को सुनने के सिवाय कोई काम नहीं रहता। वह वेचारी जहां कहीं धर्म-कथा होती है वहां आकर सवके आगे वैठ जाती है। इसीलिए धर्म-श्रवण में लोगों को नींद सताती है, मन भटकता है।

जैसे धर्म-कथा सुनने वाला श्रोता अश्रोता वन जाता है, वैसे ही जिस व्यक्ति के चित्त में वासना क्षीण हो चुकी है वह कर्त्ता भी अकर्त्ता वन जाता है।

अकर्त्ता होने का दिग्भ्रम

आज सवसे वड़ी समस्या यह है कि आदमी अपनी वासनाओं को क्षीण करना नहीं चाहता, परन्तु अकर्त्ता बनने के लिए सतत लालायित रहता है। कर्म से अकर्म बनता है और कर्त्ता से अकर्त्ता वनता है—इस सूत्र को मानने वाले लोग वहुत दिग्भ्रान्त हो रहे हैं। वे वासनाओं को क्षीण करने का तनिक भी प्रयत्न नहीं करते और कर्त्ता से अकर्त्ता वनने का दंभ भरते हैं। वे कहते हैं—'मैं तो केवल कर्म करता हूं, उसमें मेरा कर्तृभाव नहीं है। करोड़ों रुपयों की संपत्ति अर्जित कर ली, फिर भी कहेगा—मेरा कोई कर्तृभाव नहीं है। मैं तो मात्र कर्त्तव्यदृष्टि से या किसी अज्ञात प्रेरणा से कार्य कर रहा हूं।' यह वहुत वड़ा दिग्भ्रम है।

कर्म अकर्म कैसे ?

कर्त्ता अकर्त्ता कैसे बने ? कर्म अकर्म कैसे बने? इसकी भूमिका को हम समझें।

एक क्रम या व्यूह है—वृत्ति—प्रवृत्ति—निवृत्ति। इसका प्रतिपक्षी क्रम है—वृत्ति का शोधन—प्रवृत्ति—निवृत्ति। प्रवृत्ति दोनों क्रमों में है। वह दोनों के मध्य है। वृत्ति के बाद भी प्रवृत्ति होगी और वृत्ति के शोधन के बाद भी प्रवृत्ति होगी। किन्तु जहां वृत्ति का शोधन हो गया, वहां प्रवृत्ति होगी और बाद में वास्तविक निवृत्ति होगी, पुनरावृत्ति नहीं होगी, कोई उलझन नहीं होगी। वृत्ति का शोधन हुए बिना आवृत्ति मिटती नहीं। किसी व्यक्ति ने एक दिन एक स्वादिष्ट पदार्थ खाया। दूसरे दिन थाली में यदि वह पदार्थ नहीं आता है तो उसकी स्मृति सताने लग जाती है। पुनरावृत्ति की अपेक्षा होती है। किन्तु जिस व्यक्ति ने शोधन कर लिया, उसको पुनरावृत्ति की अपेक्षा नहीं होती। उसको उस पदार्थ की स्मृति नहीं सताएगी। प्रवृत्ति पुनरावृत्ति की मांग नहीं करेगी। जहां वृत्ति का शोधन नहीं होगा, वहां निश्चित ही प्रवृत्ति पुनरावृत्ति की मांग करेगी। इससे कर्म का जाल विस्तृत होता जाता है। सचमुच वृत्ति के शोधन का सूत्र हमारे हाथ से निकल गया और हाथ में रह गया केवल कर्त्ता से अकर्त्ता बनने और कर्म से अकर्म फलित करने के सिद्धान्त का कलेवर। आत्मा चली गयी। प्राण उड़ गए। केवल कलेवर को लेकर हम घूम रहे हैं। यदि मूल प्राण, मूल सूत्र हमारे हाथ में होता तो अकर्म या अकर्त्ता होने की बात अवश्य ही फलित होती।

कर्म : सबसे बड़ा संकट

आज के संसार का सबसे बड़ा संकट है—कर्म। कर्म अर्थात् प्रवृत्ति। आज प्रवृत्तियों की इतनी प्रचुरता है कि आदमी क्षण भर के लिए भी अकर्म नहीं रह सकता। इस प्रवृत्ति-बहुलता ने आदमी को अणु-अस्त्रों के निर्माण तक पहुंचा दिया। एक प्रवृत्ति को पूरा करने के लिए दूसरी प्रवृत्ति और दूसरी को पूरा करने के लिए तीसरी प्रवृत्ति अपेक्षित हो गयी। इस चक्र का कहीं अन्त नहीं है। तर्कशास्त्र के अनुसार प्रवृत्ति अनवस्था दोष से ग्रसित हो गयी है। कहीं रुकावट नहीं है, व्यवस्था नहीं है। यह अनन्तता है। यह प्रवृत्ति-बहुलता सबसे बड़ा संकट है। जब तक सक्रियता के साथ-साथ निष्क्रियता की बात समझ में नहीं आएगी, जब तक प्रवृत्ति के साथ-साथ निवृत्ति का संतुलन नहीं होगा, तब तक यह संसार इस संकट से उबर नहीं पाएगा। निश्चित ही इस दुनिया को इन प्रवृत्तियों के दुश्चक्र से, आणविक अस्त्रों के विस्फोट से उत्पन्न अमावस की काली रात देखनी होगी।

डॉक्टर रोगी को कहता है विश्राम करो। क्या यह कर्म से अकर्म की ओर जाने की सूचना नहीं है ? जब शरीर, मस्तिष्क और हमारी ग्रन्थियां अधिक सक्रिय

हो जाती हैं तब आदमी पागल हो जाता है। आदमी को स्वस्थ रहने के लिए मस्तिष्क को विश्राम देना जरूरी है। नेपोलियन बोनापार्ट 'वाटरलू' की लड़ाई में हार गया। क्यों हारा — यह सब नहीं जानते। कहा जाता है कि उसने सही समय पर सही निर्णय नहीं लिया। सही निर्णय नहीं ले सका, इसका भी एक कारण था। उसकी पिच्यूटरी ग्लैण्ड खराब हो गयी थी। उसका रसस्राव अनियमित हो गया था, इसलिए वह सही निर्णय नहीं ले सका। आदमी की जब ग्रंथियां विकृत हो जाती हैं तब चिन्तन, मनन, निर्णय आदि में भी विकार आ जाता है। उचित समय पर उचित निर्णय लेने, सही बात कहने, उचित कार्य करने आदि में गड़बड़ी हो जाती है और अकल्पित घटनाएं घटित हो जाती हैं।

क्रिया-अक्रिया का संतुलन

अति-सक्रियता और अति-प्रवृत्ति के कारण आज इतनी भयंकर स्थिति उत्पन्न हो गयी है कि सारा संसार महासंकट के कगार पर खड़ा है। किसी के पास समय नहीं है। सब व्यस्तता को बढ़ाने की ओर प्रयाण कर रहे हैं। न जाने इसका अवरोध कब, कैसे हो? इस संकट से बचने का एकमात्र उपाय है—अकर्म, अक्रिया। अक्रिया का यह सिद्धान्त केवल मोक्षप्राप्ति का ही सिद्धान्त नहीं है, यह व्यावहारिक जीवन जीने का सिद्धान्त भी है। जो व्यक्ति कर्म और अकर्म के संतुलन को नहीं जानता, वह सफल जीवन नहीं जी सकता। जो व्यक्ति क्रिया और अक्रिया के संतुलन को नहीं जानता, वह जीवनयात्रा को आनन्दमय ढंग से नहीं चला सकता। अकर्म का बहुत बड़ा प्रश्न है। आत्म-साक्षात्कार के लिए हम अकर्म का अभ्यास करें, यह अच्छा है, किन्तु सफल जीवन जीने के लिए भी इसका अभ्यास करें।

हम यह मानकर न चलें कि केवल कर्म करना ही हमारा जीवन-कार्य है। अकर्म बहुत आवश्यक है।

एक यात्री बगीचे में गया। उसने देखा, सारे बगीचे में लंबे-लंबे पेड़ खड़े हैं। उसने माली से पूछा—पेड़ इतने लंबे क्यों? माली बोला—बाबूजी, पेड़ों के और काम ही क्या है?

आज के मनुष्य की भी यही स्थिति है। वह कहता है, करो, करो और करते ही रहो। वह करने को ही बड़ा मानता है। वह 'न करने' का मूल्य ही नहीं जानता।

अतिप्रवृत्ति से हानि

हमारा शरीर कोशिकाओं का एक पिंड है। वे कोशिकाएं विद्युत् उत्पन्न करती हैं। वह विद्युत् उतनी ही होती है, जितनी से उनका काम चल सके।

अतिरिक्त विद्युत् उत्पन्न नहीं होती। यदि आदमी उन कोशिकाओं से अधिक काम लेता है तो विद्युत् का व्यय अधिक होता है। नयी कोशिकाओं को पैदा होने का अवसर ही नहीं मिलता। पुरानी कोशिका टूटती जाती है, नयी बनती नहीं। इससे शक्ति की क्षीणता होती है। आदमी प्रवृत्ति या कर्म करता ही रहे तो नयी प्राण-ऊर्जा पैदा नहीं होती। उसके अभाव में आदमी बड़ा काम नहीं कर सकता।

अकर्म की साधना : जीवन का वरदान

अति-व्यस्तता या अति-प्रवृत्ति शारीरिक और मानसिक दृष्टि से भी अच्छी नहीं है। वह आत्म साधना में तो निश्चित ही बाधक है।

आनन्द की उपलब्धि का मार्ग है अकर्म की साधना।

एक बच्चे ने पूछा—'आत्मा कहां है?' मैंने कहा—'तुम्हारे भीतर है।' बच्चे ने कहा—'भीतर कहां। दिखाई नहीं देता।' मैंने कहा—'आंखें बंद करो। आत्मा को देखने का मार्ग मिल जाएगा।' पश्यन्नपि न पश्यति'—देखता हुआ भी नहीं देखता। आंख खुली होगी, नहीं दीखेगा। आंख बंद करो, जो नहीं दीख रहा है वह भी दृष्टिगत होने लगेगा।

सिर की प्रेक्षा करें। मन उसमें लगाए रखें। आंख खुली है, पर दीखेगा नहीं। कान खुले हैं, पर सुनाई नहीं देगा। साधक वह है जो देखता हुआ भी नहीं देखता, सुनता हुआ भी नहीं सुनता, चखता हुआ भी नहीं चखता, बोलता हुआ भी नहीं बोलता। यह अकर्म की स्थिति है। यह साधना से उपलब्ध हो सकती है।

लोग अकर्म या निवृत्ति की बात सुनते ही चौंक जाते हैं। उनका तर्क है कि यदि अकर्म फलित हो जाएगा तो आदमी निठल्ला और अकर्मण्य बन जाएगा। सारा विकास बंद हो जाएगा। अकर्मण्य देश की वही गति होगी जो अविकसित देश की होती है। ऐसी आशंका करने वाले विचारक अकर्म को कर्म नहीं समझते। अकर्म का यह अर्थ नहीं है कि आदमी खाना छोड़ देगा। जब तक प्राण की यात्रा चलती है तब तक आदमी खाना नहीं छोड़ सकता। जो खाना नहीं छोड़ता, वह खेती करना नहीं छोड़ सकता। वह जीना चाहता है। उसे खाना ही पड़ेगा। अन्न के लिए खेती आवश्यक है। इसलिए अकर्म से सब प्रवृत्तियां छूट जाएंगी, यह भ्रामक कल्पना है। मनुष्य की आदत है कि वह तर्क के जाल में सचाई को छिपा देना चाहता है। तर्क से सचाई छिप जाती है। यही अकर्म के विषय में हुआ। अकर्म का सिद्धान्त मानव के लिए एक वरदान था, महामूल्यवान् था। यह जीवन का महान् सूत्र था। वह भुला दिया गया। ज्योति को राख से ढंक दिया गया।

जब तक मनुष्य इस राख को नहीं हटा सकेगा, ज्योति प्रकट नहीं होगी। जब तक मन, वाणी और शरीर को निष्क्रिय बनाने के सिद्धान्त का मूल्य नहीं

समझेंगे तो मनुष्यजाति का उद्धार नहीं होगा। मन का शल्य समाप्त नहीं होगा तो मंजिल प्राप्त नहीं होगी। एक स्तोत्र में साधक कहता है—'भगवान् महावीर ! आपने मन के शल्य को समाप्त कर डाला। पर प्रश्न है कि आपने यह कैसे किया? आपने शरीर और वाणी की चेष्टा को श्लथ किया, इस-श्लथता के द्वारा आपने मन के कैंसर को मिटा दिया।'

तीन शल्य हैं—माया शल्य, निदान शल्य, मिथ्यादर्शन शल्य। मन के ये तीन कैंसर हैं। इनको मिटाने का एकमात्र उपाय है—अकर्म की साधना, अक्रिया की साधना।

४. क्या आदतें बदली जा सकती हैं ?

१. प्रेक्षा ध्यान—विचित्र दर्पण जो केवल प्रतिबिम्ब ही प्रस्तुत नहीं करता, विकृति को मिटाता भी है।
२. आस्था अपने आप पर टिकाना।
३. व्यक्ति है स्वयं अपना गुरु और अपना निर्णायक।
४. सबसे बड़ा रोग है—उपाधि।
५. चार प्रकार के उपासक।
६. साधन-शुद्धि और साध्य-शुद्धि का विवेक।
७. आर० एन० ए० व्यक्तित्व के रूपान्तरण का घटक रसायन।
८. विज्ञान की पहुंच से परे है—तरंगातीत अवस्था।
९. तरंगातीत अवस्था तक पहुंचने के लिए कर्म-शरीर पर प्रहार आवश्यक है।

चार

प्रेक्षा-ध्यान : अनोखा दर्पण

एक दर्पण की जरूरत है, जिसमें अपना प्रतिविम्ब देखा जा सके। जो प्रेक्षा-ध्यान के लिए उपस्थित होते हैं वे दर्पण की खोज में हैं। वे देखना चाहते हैं कि बीमारी कहां है ? दोष कहां है ?

यदि दर्पण की जरूरत होती तो वे सव बाजार में जाते, साधना-कक्ष में नहीं आते। किन्तु वे साधना-कक्ष में आए हैं, इसलिए कि उन्हें वैसा दर्पण मिले जो केवल प्रतिविम्ब ही प्रस्तुत न करे, उसको बदल भी दे। बीमारी को दिखाए ही नहीं, उसको मिटा भी दे। आदमी दर्पण के सामने गया। मुंह पर फोड़े-फुन्सी थे। देखकर रोष में आ गया। दर्पण को बुरा-भला कहने लगा। पर दर्पण का क्या दोष ? वह तो जैसा है उसको दिखा देता है। दर्पण में वह शक्ति नहीं है कि वह रोग को मिटा दे, असुन्दर को सुन्दर प्रस्तुत करे। वह जैसा है वैसा ही प्रतिविम्ब दे सकता है।

प्रेक्षा-ध्यान एक अनोखा दर्पण है जो केवल प्रतिविम्ब ही प्रस्तुत नहीं करता, भद्देपन को मिटाता भी है। यह एक ऐसा एक्स-रे है जो भीतर की बीमारियों का लेखा-जोखा ही प्रस्तुत नहीं करता, उनकी सूचना ही नहीं देता, उनको मिटा भी देता है। यह क्षमता है उसमें।

प्रेक्षा का अर्थ है—देखना। यह बहुत शक्तिशाली तत्त्व है। सबसे पहली क्रिया है—देखना। जब हम देख लेते हैं तब अगली क्रिया प्रारंभ होती है। प्रेक्षा के साथ दो बातें जुड़ी हुई हैं। एक है देखना और दूसरी है प्राण-शक्ति का नियोजन। हम प्रेक्षा में देखते भी हैं और साथ-साथ प्राणधारा का नियोजन भी करते हैं। 'मनो यत्र मरुत् तत्र'—जहां-जहां मन की यात्रा होती है, प्राणधारा भी वहां का स्पर्श करती है।' ध्यान करने वाले को कभी-कभी अनुभव होता है कि ध्यान किया, बीमारी को देखा और वह मिट गई। बीमारी को मिटाना चेतना का काम नहीं है। यह काम है प्राण-शक्ति का। जहां-जहां चेतना जाती है, प्राण भी उसके पीछे-

पीछे चलता जाता है। दोनों साथ-साथ जाते हैं। आगे चेतना और पीछे प्राण। चेतना देखती जाएगी और प्राण उस अस्वस्थ भाग को स्वस्थ करता जाएगा। देखना इसलिए महत्त्वपूर्ण है कि देखे विना प्राण भी अपना काम ठीक नहीं कर पाता। जब हम प्राण की प्रक्रिया का सहारा लेते हैं तव चेतना का नियोजन भी जरूरी होता है। जहां चेतना नियोजित होती है वहां प्राण अपने आप सक्रिय हो जाता है और अपना काम प्रारम्भ कर देता है।

आस्था अपने पर

प्रेक्षा के अभ्यास में कुछेक वाधाएं हैं। तर्क आदमी को उलझा देते हैं। अभ्यास करें तो आस्था को कहां टिकाएं ? इतनी वड़ी दुनिया में इतनी प्रक्रियाएं हैं कि आदमी भूल-भुलैये में फंस जाता है। किस प्रक्रिया को वह अपनाए और किसे छोड़े ? एक तर्क एक प्रक्रिया का समर्थन करता है तो दूसरा उसको काट देता है। तर्क का यह अनन्त वात्याचक्र आदमी को निर्णय नहीं करने देता। आदमी भटक जाता है। आस्था को अन्यत्र टिकाने की वात का एक समाधान नहीं होता। मैं कहना चाहता हूं कि कहीं भी आस्था को न टिकाएं, किसी पर न टिकाएं। यदि टिकाना ही इष्ट हो तो केवल अपने पर टिकाएं, दूसरों पर नहीं। दूसरों पर टिकाएंगे तो धोखा खायेंगे। भटकाव होगा। इसलिए सवसे पहले अपने आपको आस्था का केन्द्र वनाएं। आप चाहते हैं कि आप आत्मा को उपलब्ध हों, चैतन्य को उपलब्ध हों, तो दूसरों पर आस्था टिकाने से यह उपलब्धि कैसे संभव हो सकती है ? कभी संभव नहीं है। दूसरा केवल पथ-दर्शक वन सकता है, आस्था अपने पर ही होगी। हम पथ-दर्शक का चुनाव कर सकते हैं, उसको खोज सकते हैं, किन्तु उसे सारी आस्था नहीं दे सकते। आत्मा को ही आस्था का केन्द्र वनाया जा सकता है।

मैं स्वयं अपना गुरु

एक वार का प्रसंग है। एक विद्वान् आया। वातचीत हो रही थी। उसने मुझे पूछा—'आप गुरु किसे मानते हैं ?' मैंने कहा—'मैं अपने आपको ही गुरु मानता हूं।' उसने प्रतिप्रश्न किया— 'क्या महावीर और आचार्य तुलसी को गुरु नहीं मानते ?' मैंने कहा—'नहीं,'मैं स्वयं को ही अपना गुरु मानता हूं।' मेरे इस उत्तर ने उसे असमंजस में डाल दिया। वह मेरी ओर देखने लगा। मैं मन-ही-मन उसके मन के उतार-चढ़ाव को पढ़ता रहा। उसका मन जिज्ञासा के ज्वार से भर गया। मैंने उसके मौन को तोड़ते हुए कहा—'मैं महावीर को मानता हूं—यह निर्णय मेरा है या महावीर का ? मैं निर्णायक हूं। मैं अपना गुरु हूं इसीलिए महावीर को गुरु मानता हूं। अगर मैं अपना गुरु नहीं होता तो महावीर को गुरु नहीं

मानता। मैं आचार्य तुलसी को गुरु मानता हूं—यह निर्णय मैंने किया या आचार्य तुलसी ने ? यदि आचार्य तुलसी ही यह निर्णय करें तो फिर मुझे ही क्यों, सारे संसार को ही अपना शिष्य बना लें। आचार्य तुलसी को गुरु मानने में मैं निर्णायक हूं, अतः मैं ही अपना गुरु हूं।' जिस व्यक्ति की अपने प्रति आस्था नहीं होती, अपने अस्तित्व के प्रति विश्वास नहीं होता, जो अपने में नहीं टिकता, उसके लिए भटकाव ही भटकाव शेष रहता है। उसे और कुछ भी प्राप्त नहीं होता। मैं आचार्य तुलसी को गुरु इसलिए मानता हूं कि उन्होंने मुझे सिखाया कि अपने आपको मुझे देखो, अपने आपको जानो। अपने भीतर की यात्रा करो। यदि आचार्य तुलसी सिखाते कि मुझे ही मानो, मेरे प्रति समर्पित हो जाओ, मुझे ही देखो तो मुझे सोचना पड़ता कि आचार्य तुलसी को गुरु मानूं या नहीं ? आचार्य तुलसी को ही गुरु मानूं तो क्यों मानूं ? दूसरे को गुरु क्यों नहीं मानूं ? महावीर ने भी यही सिखाया—'संपिक्खए अप्पगमप्पएणं—आत्मा के द्वारा आत्मा को देखो।' स्वयं सत्य को खोजो। यदि महावीर यह कहते—सत्य खोजने का अधिकार तुम्हें नहीं है। तुम बस मुझे मानते रहो, मानते चलो, आंख मूंदकर मेरे पीछे चलते चलो। यदि यह होता तो महावीर को गुरु मानने के लिए भी मेरा मन नहीं करता। किन्तु मैं महावीर को गुरु इसलिए मानता हूं कि उन्होंने कहा—'तुम स्वयं सत्य को खोजो। तुम स्वयं अपने पथ का निर्माण करो। अपने पथ पर स्वयं चलो।' मैं मानता हूं कि जो गुरु या आचार्य अपने शिष्य को इतनी स्वतन्त्रता नहीं देता, वहां एक प्रबुद्ध साधक उनका शिष्यत्व स्वीकार नहीं कर सकता।

दूसरों पर आस्था को टिकाने की बात में बहुत बड़ा खतरा है। कोई भी सत्यनिष्ठ आचार्य अपने शिष्य को यही बताएगा कि अपने अस्तित्व को ही आस्था का केन्द्र बनाओ। मेरे से कोई पथ-दर्शन लेना चाहो तो लो। स्वयं चलो। स्वयं खपो और स्वयं तपो। तब ही सत्य उपलब्ध होगा। गुरु बांधता नहीं, मुक्त करता है।

गुरु बांधता नहीं, खोलता है

मेरे गुरु ने मुझे बांधा नहीं। मैं अपनी अवस्था के दो दशक पूर्ण कर तीसरे दशक में चल रहा था। उस समय मैंने साम्यवादी साहित्य पढ़ा, स्टालिन और लेनिन को पढ़ा, नास्तिक साहित्य का गहरा अध्ययन किया। आचार्यश्री ने मुझे कभी नहीं रोका। उन्होंने यह कभी नहीं कहा—'तुम साम्यवादी साहित्य पढ़ते हो तो साम्यवादी न हो जाओ।' वे पढ़ने की प्रेरणा देते रहे। लोगों ने मुझे साम्यवादी नास्तिक आदि उपाधियों से उपमित किया, पर आचार्यश्री ने उनकी बातों को बचपन की बातें मात्र माना।

गंगाशहर की घटना है। एक बार मंत्री मुनि ने मुझे पूछा—'आजकल क्या

पढ़ रहे हो ?' मैंने कहा—'कर्म-ग्रन्थों का अध्ययन कर रहा हूं, अन्यान्य दर्शनों को पढ़ रहा हूं।' उन्होंने तत्काल आचार्यश्री को संबोधित कर कहा—'गुरुदेव ! यह कर्म-ग्रन्थों को और अन्यान्य दर्शनों को पढ़ रहा है, कहीं मूल श्रद्धान में कमजोरी तो नहीं है ? कहीं ऐसा न हो कि पढ़ते-पढ़ते अपनी दिशा ही बदल दे।' आचार्यश्री ने कहा—'कोई चिन्ता की बात नहीं है। मूल दृढ़ है।'

आचार्यश्री ने मुझे कभी नहीं रोका। गुरु वह होता है जो कभी रोकता नहीं। उसमें यह कमजोरी नहीं होती कि शिष्य अन्यान्य चीजें पढ़ेगा तो दूसरी दिशा में बह जाएगा, भटक जाएगा। गुरु यदि रोकता है तो मैं समझता हूं कि उस गुरु की गुरुता में कहीं कमी है, उसके मन में भय है। जो गुरु अपने शिष्य को स्वयं के अस्तित्व पर टिका देता है, अपनी आस्था पर टिका देता है, फिर शिष्य कुछ भी पढ़े, कोई खतरा नहीं है।

आज के व्यक्ति में भटकाव बहुत है। सामने अनेक आकर्षण हैं। वह किसे ग्रहण करे ? इस निर्णय से भी यह निर्णय महत्त्वपूर्ण है कि साधक को अपने-आप पर भरोसा है या नहीं, अपने अस्तित्व पर भरोसा है या नहीं ? यदि स्वयं पर आस्था है तो सब कुछ है। कहीं कोई खतरा नहीं है। फिर आदमी कहीं जाए, किसी के पास रहे, किसी की उपासना करे, कोई खतरा नहीं है।

जो व्यक्ति शिविर में अभ्यास करते हैं वे इस आस्था के आधार पर ही साधना करते हैं। उन्हें अपने आप पर आस्था और विश्वास है। वे अपने आपको खोज रहे हैं। अपने आपको पाने का प्रयत्न कर रहे हैं।

साधना की प्राथमिक आवश्यकता है अपने आपको देखना। देखना बहुत जरूरी है। बहुत लोग ऐसे होते हैं जो बीमार होते हुए भी अपने आपको बीमार नहीं मानते। कैंसर का इलाज न होने का एक कारण यह भी है कि कैंसर जब प्रारंभ होता है तब रोगी को पता ही नहीं रहता कि उसके कोई रोग है। जब उसे पता चलता है तब तक रोग पक जाता है। वह अचिकित्स्य हो जाता है। केवल ध्यान ही उसकी एकमात्र चिकित्सा है।

उपाधि : बड़ी बीमारी

सबसे बड़ी बीमारी है—उपाधि। उपाधि का अर्थ है—कषाय। यह केवल बीमारी ही नहीं, दूसरी बीमारियों को उत्पन्न करने वाली बीमारी है। जिन लोगों ने यह जान लिया वे अपनी खोज में चल पड़े, उनके लिए केवल अपनी खोज ही सब कुछ है। लोग एक प्रश्न करते हैं कि आज जितना आकर्षण भौतिकता के प्रति है, उतना आकर्षण अध्यात्म के प्रति नहीं है। चाहे कोई कितना ही प्रयत्न करे, आकर्षण की इस द्विविधता को मिटाया नहीं जा सकता। दो चीजें हैं। एक है सिनेमाघर और दूसरी है अस्पताल। जितना आकर्षण सिनेमा के प्रति है उतना

आकर्षण अस्पताल के प्रति नहीं है। सिनेमा में सब जाते हैं, अस्पताल में केवल रोगी ही जाता है। एक एक्टर को देखने के लिए जितनी भीड़ उमड़ती है उतनी भीड़ एक डॉक्टर को देखने के लिए नहीं उमड़ती। ध्यान के शिविर में वही आता है जो यह जानता है कि मैं बीमार हूं, मुझे अपनी बीमारी मिटानी है। जो अपने आपको स्वस्थ मानता है, वह कभी शिविर में नहीं आएगा।

चार प्रकार के उपासक

गीता में कृष्ण कहते हैं—'चार प्रकार के व्यक्ति मेरी भक्ति करते हैं—आर्त, जिज्ञासु, ज्ञानी और अर्थार्थी।' आदमी जब दुःखी होता है तब मेरी भक्ति करता है। जब तक उसे कोई पीड़ा नहीं सताती वह मुझे कभी याद नहीं करता। आम्रपाली अपने समय की प्रसिद्ध नर्तकी थी। उसने एक बार बुद्ध से कहा—'भंते ! आप मेरे पास कभी नहीं आते।' बुद्ध बोले—'अभी जरूरत नहीं है, जिस दिन जरूरत होगी, मैं अवश्य आऊंगा।' वह बूढ़ी हो गयी। उसका शारीरिक लावण्य मिट गया।' अब उसके पास कोई नहीं आता। तब बुद्ध पहुंचे और बोले—'प्रिये ! मैं आ गया। आम्रपाली ने कहा—'भंते ! अब समय बीत गया। अब मेरे में बचा ही क्या है ? वह शारीरिक सौन्दर्य अब नहीं रहा। आप आज क्यों आए।' बुद्ध ने कहा—'प्रिये ! यही तो समय है आने का। पहले तुझे मेरी आवश्यकता भी नहीं थी। धर्म की आवश्यकता अब तुझे महसूस हो रही है। मैं उसकी पूर्ति करने आया हूं।'

पीड़ा और दुःख के समय भगवान् और धर्म को याद किया जाता है। जब व्यक्ति महसूस करता है कि उसकी उपेक्षा हो रही है। सब उसको सता रहे हैं। वह बूढ़ा और शिथिल हो गया है। व्याकुलता बढ़ गयी है। मन बेचैन है। तब उसे भगवान् याद आते हैं। धर्म की बात याद आती है। यह सच है कि दुःखावस्था में धर्म की शरण लेनी पड़ती है।

दूसरी बात है कि जब मन में जिज्ञासा जाग जाती है कि मैं सत्य का साक्षात्कार करूं। मैं यह जानूं कि आत्मा क्या है ? चैतन्य क्या है ? मोक्ष क्या है ? उस जिज्ञासु अवस्था में व्यक्ति भगवान् की उपासना कर अपने को समाहित करना चाहता है। जिज्ञासा सत्य तक पहुंचाने वाला मार्ग है।

तीसरी बात है कि ज्ञानी व्यक्ति परम की उपासना करता है, ईश्वर और सत्य के प्रति समर्पित हो जाता है। ज्ञान की आराधना सत्य की आराधना है। ज्ञानी जान जाता है कि संसार में सार क्या है और निस्सार क्या है। वह जानता है कि सत्य का मार्ग कौन-सा है ?

चौथी बात है कि अर्थार्थी व्यक्ति भगवान् की उपासना करता है। जब व्यक्ति के मन में पदार्थ की आकांक्षा उभर जाती है वह उसकी पूर्ति के लिए भगवान् की

उपासना करता है, धर्म की आराधना करता है। यदि आदमी को यह पता चल जाए कि ध्यान शिविर में भाग लेने वालों को धन भी बांटा जाता है, तो यहां इतनी बड़ी भीड़ इकट्ठी हो जाएगी कि उसे संभाल पाना कठिन हो जाएगा।

तो कृष्ण कहते हैं कि चार प्रकार के व्यक्ति मेरी उपासना करते हैं—'दुःखी, जिज्ञासु, ज्ञानी और पदार्थ की अपेक्षा करने वाला।

साध्य-शुद्धि : साधन-शुद्धि

मैं ध्यान के प्रति आकर्षण पैदा करने के लिए दूसरे कृत्रिम आकर्षण पैदा करना नहीं चाहता। हमने साध्य-शुद्धि के साथ-साथ साधन-शुद्धि का पाठ भी पढ़ा है। केवल साध्य की शुद्धि ही पर्याप्त नहीं होती। उसके साथ साधन की शुद्धि भी आवश्यक होती है। ध्यान शिविर का एक निश्चित उद्देश्य है। उसमें आने वाले साधक एक निष्ठा के साथ चलते हैं। यहां केवल अध्यात्म है, कोरा अध्यात्म। कुछ भी अतिरिक्त नहीं। जो व्यक्ति अपनी पीड़ा को शान्त करना चाहता है, सत्य को जानना चाहता है, कषाय को दूर करना चाहता है, वह ध्यान में अग्रसर हो। ध्यान साधक के सामने इतना विशाल क्षेत्र है कि कोई उसका साथी हो या न हो, वह अनन्त जन्मों तक सत्य की खोज में जुटा रह सकता है।

आर० एन० ए० रसायन

ध्यान रूपान्तरण की प्रक्रिया है। उससे आदतें बदलती हैं, स्वभाव बदलता है और पूरा व्यक्तित्व बदल जाता है। इस रूपान्तरण की वैज्ञानिक व्याख्या की जा सकती है। आज का विज्ञान भी इस बात को समर्थित करने लगा है कि आदमी का रूपान्तरण हो सकता है। विज्ञान के अनुसार हमारे मस्तिष्क में आर०एन०ए० नामक रसायन होता है, जो हमारी चेतना की परतों पर छाया रहता है। विज्ञान ने यह खोज निकाला है कि यह रसायन व्यक्तित्व के रूपान्तरण का घटक है। इसे घटाया-बढ़ाया जा सकता है। इसके आधार पर ही रूपान्तरण घटित होता है। आदतें बदलती हैं। पुरानी आदतों को छोड़कर नयी आदतें डाली जा सकती हैं। जीवशास्त्री जेम्स ओल्ड्स ने एक प्रयोग किया। उसने चूहों के मस्तिष्क में एक प्रकार की विद्युत् तरंगें प्रसारित कीं। कुछ ही समय बाद उनके मन का भय भाग गया। वे चूहे बिल्ली के सामने निःसंकोच आने-जाने लगे। उनका भय समाप्त हो गया।

लंबी साधना क्यों करें?

भय को समाप्त करने के लिए साधना की कुछ प्रक्रियाएं भी हैं। उनके द्वारा भी अभय बना जा सकता है। वैज्ञानिक प्रयोगों से भी भय को मिटाया जा सकता

है। इस प्रकार साधना से जो फलित होता है वही विज्ञान के प्रयोगों के द्वारा भी फलित हो सकता है। यहां एक प्रश्न उपस्थित होता है कि विज्ञान जिसको कुछ ही समय में घटित कर दिखाता है, वह साधना के द्वारा लंबे समय के बाद घटित होता है। तो फिर व्यक्ति साधना की लम्बी उपासना में अपनी शक्ति को क्यों खर्च करे ? वह आदतों या व्यक्तित्व को बदलने के लिए विज्ञान का ही सहारा क्यों न ले ? यह प्रश्न स्वाभाविक है। हम इसका समाधान ढूंढ़ें।

तरंगातीत अवस्था : विज्ञान से परे

हमारे शरीर में तीन केन्द्र हैं। एक केन्द्र वह है जहां तरंगें पैदा होती हैं। दूसरा केन्द्र वह है जहां से तरंगें गुजरती हैं। तीसरा केन्द्र वह है जहां तरंगें अभिव्यक्त होती हैं। हमारे शरीर में सारी व्यवस्था है। एक केन्द्र है जहां से क्रोध की तरंग उठती है। वह स्नायुओं से गुजरती है और एक केन्द्र पर आकर प्रकट हो जाती है। एक व्यक्ति को क्रोध आता है तब यह बताने की आवश्यकता नहीं होती कि यह अब क्रोध के वशीभूत है। उसकी आंखें लाल हो जाती हैं। उसकी भृकुटी तन जाती है। होठ फड़कने लग जाते हैं। अपने आप ज्ञात हो जाता है कि गुस्सा उतर रहा है, आ गया है। यह अभिव्यक्ति ज्ञात हो जाती है। किन्तु क्रोध की तरंगों के गुजरने का पथ ज्ञात नहीं होता। उसे हर व्यक्ति जान ही नहीं सकता। आज का विज्ञान इन सारी बातों को जानता है। प्रत्येक वृत्ति के केन्द्र को उसने खोज लिया है। इस वृत्ति की तरंगें किस पथ से गुजरती हैं, यह भी उसे ज्ञात है। अमुक वृत्ति के केन्द्र पर प्रहार कर, उसे निष्क्रिय कर देने पर वह वृत्ति समाप्त हो जाती है। कर्मशास्त्रीय भाषा में कहा जा सकता है कि उस कर्म के विपाक को बन्द कर डाला। विपाक का मार्ग अवरुद्ध हो जाने के कारण वह वृत्ति कभी नहीं उभर सकती। एक नाड़ी को काट देने से क्रोध समाप्त हो जाता है। एक नाड़ी को काट देने से उत्तेजना समाप्त हो जाती है। उन वृत्तियों की अभिव्यक्ति का केन्द्र निष्क्रिय हो जाता है। जिसमें से वे तरंगें गुजरती थीं, वह रास्ता बंद हो गया। यहां एक बात पर विशेष ध्यान देना है कि इस प्रक्रिया में तरंगों की अभिव्यक्ति समाप्त हुई है किन्तु तरंगों की उत्पत्ति समाप्त नहीं हुई है। उनके गुजरने का रास्ता बंद हुआ है किन्तु उनकी उत्पत्ति का स्रोत नष्ट नहीं हुआ है। वह वैसा ही है। उसी प्रकार सजीव है, सक्रिय है। आदमी नहीं बदला, मुखौटा बदल गया। बाहर का बदल गया। भीतर में कुछ भी नहीं बदला। नींद में सोये आदमी को आप कितनी ही गालियां दें, वह गुस्सा न[illegible] करता। क्या हम मान लें कि उसका गुस्सा समाप्त हो गया ? नींद में वह अप्रामाणिक बर्ताव नहीं करता। नींद में वह उत्तेजना का शिकार नहीं होता तो क्या हम मान लें कि ये सब वृत्तियां समाप्त हो गयीं ? नींद की अवस्था में, सुषुप्ति की अवस्था में अभिव्यक्ति नहीं होती।

किन्तु इससे यह नहीं माना जा सकता कि व्यक्तित्व बदल गया, रूपान्तरण घटित हो गया। हम यह मानते हैं कि आत्मा है। वह पुनर्भवी है। वह कर्म की कर्ता है। वह कर्म को बांधती है। कर्म अपना फल देते हैं। कर्मों को भोगना ही पड़ता है। जब हम समग्रता की दृष्टि से इन नियमों के परिप्रेक्ष्य में देखते हैं तो लगता है कि वैज्ञानिक उपचार केवल सामयिक उपचार है, किन्तु समस्या का स्थायी समाधान या अंतिम समाधान नहीं है। उसका अंतिम समाधान है कि व्यक्ति तरंगातीत अवस्था में चला जाए। क्रोध या किसी भी वृत्ति की तरगें पुष्ट होती हैं पुनरावृत्ति के द्वारा। क्रोध को क्रोध का सिंचन मिलता है तो वह पुष्ट होता है। क्रोध को क्रोध का सिंचन न मिले तो क्रोध का पौधा अपने आप मुरझा जाता है। अध्यात्म का सिद्धान्त है सामायिक का सिद्धान्त। अध्यात्म का सिद्धान्त है अपने आपको देखने का सिद्धान्त। यही तरंगातीत चेतना की भूमिका है। जब व्यक्ति तरंगातीत अवस्था में पहुंच जाता है तब न राग का तरंग रहता है और न द्वेष का तरंग रहता है। तब न प्रियता होती है और न अप्रियता होती है। उस स्थिति में क्रोध का तरंग जहां से उठता है, उस पर ही प्रहार नहीं होता, किन्तु जो उस तरंग को उठाने का उत्तरदायी है, उस पर प्रहार होता है। वैज्ञानिक उपकरणों का, उनके द्वारा उत्पादित औषधियों का प्रभाव मस्तिष्कीय स्तरों पर, स्नायु-संस्थान या नाड़ी-मंडल पर होता है, किन्तु इस तरंगातीत ध्यान का, इस चैतन्य की अनुभूति का और समता का प्रभाव इस शरीर पर ही नहीं होता किन्तु वृत्तियों की तरंगों को पैदा करने वाले पर भी होता है। यह मूल पर प्रहार करने की प्रक्रिया है। इसलिए यह स्थायी समाधान है। विज्ञान से आगे की प्रक्रिया है। तरंगातीत अवस्था तक पहुंचने की यही एकमात्र प्रक्रिया है। इसका अवलम्बन लिये बिना उसकी प्राप्ति असंभव है।

मूल पर प्रहार

अध्यात्म की चेतना को जगाना, अपने आप पर आस्था केन्द्रित करना, अपने आपको जानना, अपनी खोज करना, खोज के संदर्भ में आने वाले कष्टों के लिए स्वयं को समर्पित करना, कष्ट-सहिष्णुता का विकास करना, कष्टों को आनन्द में बदल देना—यह सारी प्रक्रिया ध्यान की प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया से केवल शारीरिक संस्थान ही प्रभावित नहीं होता, केवल शरीर की केमिस्ट्री ही नहीं बदलती, किन्तु यह प्रक्रिया सूक्ष्म-जगत् तक पहुंचकर हमारे सूक्ष्म शरीर—तैजस-शरीर और कर्म-शरीर को प्रभावित करती है। वहां पहुंचकर विकृतियों के अस्तित्व को ही समाप्त कर देती है। कर्म-शरीर सारी विकृतियों का मूल है। ध्यान की प्रक्रिया से उस पर प्रहार होता है।

ध्यान-प्रक्रिया : महानतम खोज

ध्यान-प्रक्रिया की खोज विश्व की महानतम खोज है। जो व्यक्ति तरंगातीत अवस्था को प्राप्त करने की दिशा में एक चरण भी आगे रखते हैं वे वास्तव में सत्य-साक्षात्कार की दिशा में प्रस्थित हैं। उनकी संख्या चाहे दो-चार ही हो या अधिक हो। संख्या गौण है। मूल है उस दिशा में प्रस्थान।

एक दिन आचार्य भिक्षु ने साधुओं से कहा—'आओ, व्याख्यान शुरू करें।' साधुओं ने कहा—'कोई श्रोता तो है ही नहीं ? व्याख्यान किसे सुनाएंगे ?' आचार्य भिक्षु बोले—'क्या तुम श्रोता नहीं हो ? मैं व्याख्यान देता हूं। तुम सुनो।' आचार्य भिक्षु ने व्याख्यान प्रारम्भ कर दिया। साधु सुनने लगे। यह क्रम चला। लोग भी आने लगे।

यही बात ध्यान-साधकों को करनी है। यदि ध्यान करने वाला दूसरा व्यक्ति न हो तो स्वयं को ही ध्यान में लगा दें। स्वयं ही ध्यान करने वाले और स्वयं ही ध्यान कराने वाले—दोनों बन जाएं। साधना में अध्यात्म का आकर्षण रहे। दूसरों पर आकर्षण यदि गया तो अध्यात्म भी राजनीति की भीड़ बन जाएगा। हमारा आकर्षण केवल अध्यात्म के प्रति ही रहे, परिग्रह के प्रति न हो। आज जब मैं देखता हूं कि अध्यात्म को भी कुछेक लोगों ने व्यवसाय बना डाला है तब बहुत कष्ट होता है। इससे हम बचें।

आपका आकर्षण स्वयं के प्रति रहे, अन्य के प्रति नहीं। अन्य के प्रति होने वाले आकर्षण में धोखा हो सकता है। साधक की आस्था स्वयं के प्रति ही हो। वह इस आस्था को विस्तार दे और संकल्प-शक्ति द्वारा अपने मस्तिष्कीय रसायनों को बदलने का प्रयत्न करें। इससे एक नयी दिशा उद्घाटित होगी और अध्यात्म यशस्वी और शक्तिशाली बनेगा।

५. देखो और बदलो

१. देखे बिना कोई बदला हो—असंभव।
२. देखा हो और न बदला हो—असंभव।
३. बदलने की इच्छा जागी हो और न बदला हो—असंभव।
४. बदलने के दो उपाय—प्रेक्षा और संकल्प।
५. आत्मा के द्वारा आत्मा को देखने का अर्थ है—
   - चंचलता को देखना।
   - चंचलता पैदा करने वाली आत्मा—कषाय-आत्मा को देखना।
   - वीर्य-आत्मा को देखना।
६. संकल्प का जागरण : रूपान्तरण का घटक।

पांच

द्रष्टा और दृश्य एक

इस संसार में हर व्यक्ति बदलना चाहता है। ऐसा एक भी व्यक्ति नहीं है जो जैसा हो वैसा ही रहना चाहता हो। बीज कभी बीज रहना नहीं चाहता और अंकुर कभी अंकुर रहना नहीं चाहता। बीज अंकुर होना चाहता है और अंकुर वृक्ष बनकर आकाश को छूना चाहता है। हर कोई बदलना चाहता है। जो नीचे है वह ऊपर जाना चाहता है और जो ऊपर है वह नीचे आना चाहता है। अपने स्थान पर स्थिर रहना कोई नहीं चाहता। तारे ऊपर हैं। वे उल्कापात के मिष से नीचे आना चाहते हैं। बीज जो भूमि में हैं, नीचे हैं, वे वृक्ष बनकर आकाश में जाना चाहते हैं। यह सनातन प्रक्रिया है।

बदलने की चाह सबमें है। प्रश्न है बदलने का मार्ग कौन-सा है? बदलने का एकमात्र मार्ग है—देखना। जो नहीं देखता, वह नहीं बदलता। जो बदला है वह इसी माध्यम से बदला है। बिना देखे बदलना संभव नहीं है। जो 'देखने' के मार्ग पर चला हो और न बदला हो, ऐसा कभी नहीं हुआ। जिसने देखना शुरू कर दिया उसने बदलना भी शुरू कर दिया।

प्रेक्षा-ध्यान का प्रयोग देखने का प्रयोग है और देखने के द्वारा बदलने का प्रयोग है। हमारा सूत्र है—आत्मा के द्वारा आत्मा को देखो। आत्मा को देखना है और आत्मा के द्वारा आत्मा को देखना है। जिसके द्वारा देखना है वह भी आत्मा है और जिसे देखना है, वह भी आत्मा है। जो है वह भी आत्मा है और जिसे बदलना है वह भी आत्मा है। सब कुछ आत्मा ही आत्मा। आत्मा ही साधन है। आत्मा ही साध्य है। आत्मा ही ध्याता है और आत्मा ही ध्येय है। आत्मा ही ध्यान है। बड़ी जटिल पहेली है। किसे देखें? कैसे देखें? किसके द्वारा देखें? क्या अखंड आत्मा के टुकड़े हो गए? सब कुछ टूटता है। क्या प्रेक्षा-ध्यान ने अखंड आत्मा को भी तोड़ डाला? एक है द्रष्टा आत्मा और एक है दृश्य आत्मा। देखने वाला भी आत्मा और देखा जाने वाला भी आत्मा। यह तथ्य समझ में नहीं आता।

सचमुच एक जटिल पहेली है। यदि यह कहा जाता है कि आत्मा के द्वारा मकान को देखें, कपड़े को देखें, पुस्तक को या आदमी को देखें, तो बात समझ में आ सकती थी। वहां आत्मा द्रष्टा बनती और दृश्य बनता अन्य पदार्थ। किन्तु आत्मा के द्वारा आत्मा को देखने की बात सहजगम्य नहीं है।

'आत्मा के द्वारा आत्मा को देखो'—यह बहुत बड़े सत्य की अभिव्यक्ति है। इसे गहराई में जाकर ही समझा जा सकता है।

आत्मा अखंड नहीं

क्या हमारी आत्मा अखंड है? किसने कहा कि आत्मा अखंड है? हर मनुष्य की प्रकृति ने आत्मा को तोड़ रखा है। उसने अनेक दीवारें खींच ली हैं। उनसे आत्मा अनेक खंडों में विभाजित हो गई है। एक अखंड चेतना टुकड़ों में बंट गई। हजारों टुकड़े हो गए। अखंडता गायब हो गई। जिन लोगों ने गहराई में जाने का प्रयत्न किया है, उन्होंने टूटे हुए चेतना के खंडों को देखा है, जाना है। मनोविज्ञान का विद्यार्थी जानता है कि मन:चेतना के मुख्यतः तीन स्तर हैं—चेतन मन, अर्द्ध-चेतन मन, अवचेतन मन। भगवान् महावीर ने आठ आत्माएं स्वीकार कीं—द्रव्य आत्मा, कषाय आत्मा, योग आत्मा, उपयोग आत्मा, ज्ञान आत्मा, दर्शन आत्मा, चरित्र आत्मा और वीर्य आत्मा। ये तो केवल संकेत मात्र हैं। आत्माएं असंख्य हो सकती हैं। एक ही अखंड आत्मा के असंख्य टुकड़े। इस असंख्य के अवबोध को जैन थोकड़ों की भाषा में 'अनेरी आत्मा' शब्द से संगृहीत किया है। 'अनेरी' का अर्थ है—दूसरी। जिस आत्मा का नामकरण हो सके वह उस नाम से अभिहित हो और जिसका नामकरण न हो सके वह 'अनेरी' शब्द से अभिव्यक्त हो।

आत्मा : साधन भी साध्य भी

आत्मा के द्वारा आत्मा को देखने की प्रक्रिया को हम समझें। हम बाहर से चलें। पहले हम चेतन मन का प्रयोग करें। हम चित्त चेतना के द्वारा देखना शुरू करें। सबसे पहले बाहर की चेतना को देखें। प्रवेश-द्वार से गुजरे बिना भीतरी मकान तक नहीं पहुंचा जा सकता। भीतर तक पहुंचने के लिए सारा रास्ता तय करना होता है। प्रश्न होता है कि जिसने द्वार को देखा, क्या उसने मकान को देख डाला? क्या दरवाजा मकान है? नहीं है, यह भी नहीं कहा जा सकता और है यह भी नहीं कहा जा सकता। यदि दरवाजा मकान नहीं है तो भीतर का मकान भी मकान नहीं है। यदि दरवाजा मकान है तो फिर भीतर क्या है? मकान तो दरवाजा है, कमरा भी दरवाजा है। केवल दरवाजे को ही मकान नहीं कह सकते और केवल कमरे को ही मकान नहीं कह सकते। दरवाजा, कमरे, खिडकियां, मैदान इन सब का समवाय है मकान। मकान के जितने अवयव हैं वे

सब मकान हैं।

हमारा बाहरी चित्त है वह भी आत्मा है और सबसे भीतर जो स्वस्थ चेतना का अधिष्ठान है वह भी आत्मा है। हमारा प्रवेश द्वार है बाहरी चित्त और हमें पहुंचना है शुद्ध चैतन्य तक। एक है साध्य और एक है साधन। साधन है वह भी आत्मा है और साध्य है वह भी आत्मा है। साधन आत्मा के द्वारा साध्य आत्मा तक पहुंचना है।

शरीर है आत्मा

'आत्मा के द्वारा आत्मा को देखें' का तात्पर्य है कि चित्त के द्वारा आत्मा के विभिन्न स्तरों को देखें। देखते-देखते साध्य-चेतना तक पहुंच जाएंगे। जब हम देखना शुरू करेंगे तो सबसे पहले हमारे सामने आएगा शरीर। शरीर हमारी आत्मा है। जब तक उसमें प्राण-शक्ति का संचार है तब तक हम शरीर को सर्वथा अनात्मा नहीं कह सकते। अंगुली इसलिए हिलती है कि वह आत्मा है। क्या शरीर का कोई ऐसा प्रदेश है जहां आत्मा न हो? क्या शरीर का एक भी परमाणु ऐसा है जो आत्मा से भावित न हो? आत्मा है इसलिए आदमी खा रहा है, बोल रहा है, श्वास का स्पंदन हो रहा है। आत्मा के चले जाने पर आदमी न खा सकता है, न बोल सकता है और न श्वास ले सकता है। श्वास आत्मा है, भाषा आत्मा है, आहार आत्मा है और शरीर आत्मा है। आहार एक पर्याप्ति भी है और प्राण-शक्ति भी है। शरीर एक पर्याप्ति भी है और प्राण-शक्ति भी है। भाषा एक पर्याप्ति है तो एक प्राण-शक्ति भी है। मन एक पौद्गलिक शक्ति है तो वह एक प्राण-शक्ति भी है। हम पुद्गल और आत्मा को बांट नहीं सकते।

चंचलता कितनी?

हम चित्त को साधन बनाकर देखना प्रारंभ करें। सबसे पहले आएगा योग आत्मा। इसका अर्थ है—चंचलता। आत्मा के दो लक्षण हैं—चंचलता और स्थिरता। चंचलता के दो प्रकार हैं—एक है स्वाभाविक चंचलता और एक है कृत्रिम चंचलता। सबसे पहले शरीर की चंचलता, श्वास, वाणी और मन की चंचलता आएगी। उसे हम देखें। चंचलता को देखने का प्रयास करें। आत्मा के द्वारा आत्मा को देखने का मतलब है भीतर में होने वाली चंचलता को देखना। चंचलता को देखने का अर्थ है अपने आपको देखना। चंचलता को जानने का अर्थ है अपने आपको जानना। जो अपनी चंचलता को नहीं देखता-जानता वह अपने आपको नहीं देखता-जानता। चंचलता को देखे जाने बिना हम अपने आपको कैसे जान पाएंगे। यदि कोई यह मानकर बैठ जाए कि वह तो शुद्ध, बुद्ध, स्थिर और कूटस्थ है, उसे फिर साधना करने की कोई आवश्यकता ही नहीं है। उसे आत्मा

को देखने-जानने की जरूरत नहीं है। यदि मैं शुद्ध हूं, बुद्ध हूं, निरंजन और निराकार हूं, पवित्र और निर्लेप हूं, कूटस्थ नित्य हूं तो फिर मुझे धार्मिक उपासना करने की क्या जरूरत है? फिर मैं ध्यान या उपासना में अपना समय क्यों लगाऊं? कोई जरूरत नहीं है। जो स्वर्ण शुद्ध हो चुका है उसे फिर तपाने या गलाने की क्या आवश्यकता है? अशुद्ध स्वर्ण को तपाने और गलाने की जरूरत होती है, जिससे की उसकी अशुद्धि मिट जाए। पर जो स्वयं शुद्ध है उसे शुद्ध क्या किया जाए?

किन्तु जब हम आत्मा के द्वारा आत्मा को देखते हैं तब हमें पता चलता है कि हमारे भीतर कितनी चंचलता है। जो व्यक्ति ध्यान नहीं करता, एकाग्र नहीं होता, उसे चंचलता का ज्ञान नहीं होता। कुछ लोग कहते हैं—हम जब दूकान में रहते हैं या अन्यान्य गृहस्थी के कार्यों में संलग्न रहते हैं तब हमारा मन इधर-उधर नहीं भटकता, किन्तु ज्योंही हम ध्यान करने या उपासना करने बैठते हैं तब मन भटकने लग जाता है। तब हमें चंचलता का अनुभव होता है। इस विषय में हम बहुत भ्रांत हैं। जब व्यक्ति घर में या दूकान में होता है, जुआ खेलता है या गप्पें करता है तब वह चंचल ही होता है। उस समय चंचलता का क्या पता चले? सब कुछ चंचल ही है। जब व्यक्ति स्थिर होता है तब उसे भयंकर चंचलता का ज्ञान होता है। चंचल अवस्था में चंचलता का क्या पता चले? कीचड़ में फंसने .. आभास उसे नहीं होता जो सदा कीचड़ में ही फंसा रहता है। कीचड़ में फंसने । आभास उसे होता है जो कीचड़ में नहीं फंसा है, पर फंसने की-सी नौबत आती है।

चंचलता देखें

आत्मा के द्वारा आत्मा को देखने का पहला अर्थ होगा कि आत्मा के द्वारा अपनी चंचलता को देखें। जब व्यक्ति स्थिर होकर चंचलता को देखता है तब उसे इधर-उधर होने वाले दर्द की अनुभूति होती है। यह जागृत अवस्था है। सुषुप्त अवस्था में दर्द की अनुभूति नहीं होती। चंचलता में दर्द की अनुभूति नहीं होती, स्थिरता में वह होती है। दर्पण में क्षमता है कि वह प्रतिबिम्ब को ग्रहण कर सकता है। किन्तु प्रतिबिम्ब तब आता है जब वह स्थिर होता है। जब दर्पण हिलता रहता है तब उसमें कोई प्रतिबिम्ब नहीं आता। जब हम मन और शरीर को स्थिर कर देखते हैं तब ज्ञात होता है कि भीतर कितनी चंचलता है। आत्मा चंचलतामय बनी हुई है। वह स्थिरता को नहीं चाहती। आत्मा के द्वारा आत्मा को देखने का अर्थ है—अपनी चंचलता को देखना! चंचलता को देखने का अर्थ है—आत्मा को देखना यानी योग आत्मा को देखना। आठ आत्माओं में एक आत्मा है—योग आत्मा। योग को देखना, प्रवृत्ति को देखना, कर्म को देखना, अपनी

[illegible]ता को देखना—यह है आत्मा के द्वारा आत्मा को देखने का पहला अर्थ

[illegible]लता का जनक : कषाय

आत्मा के द्वारा आत्मा को देखने का दूसरा अर्थ है कि चंचलता पैदा करने वाली आत्मा को देखना।

जब मन शांत होता है तब ध्यान में स्थिरता शीघ्र ही आ जाती है। जब मन चंचल होता है तब स्थिरता प्राप्त नहीं होती। चंचलता पैदा क्यों होती है? एक आदमी शांत हैं। किसी ने उसको कह दिया—तुम निकम्मे हो, अहंकारी हो। तुमने सारा वातारण विगाड़ डाला। उन वाक्-प्रहारों को सुनकर जब व्यक्ति ध्यान करने वैठता है तब उसका मन स्थिर हो ही नहीं सकता। वह भले ही आसन लगाकर वैठे, आंखें वन्द कर ले, सुझावों के अनुसार ध्यान करने का प्रयत्न करे; फिर भी उसका मन स्थिर हो नहीं सकता क्योंकि उन वाक्-प्रहारों से भीतरी चंचलता बहुत बढ़ जाती है। चंचलता का सारा समुद्र हिलोरें लेने लगता है। विकल्पों का ज्वार आता है और मन उस प्रवाह में वह जाता है। स्थिरता आ ही नहीं सकती।

चंचलता को पैदा करने वाली है—कषाय आत्मा। हम उसको देखें। चंचलता को देखने के बाद हम चंचलता पैदा करने वाली आत्मा को देखें जब कषाय आत्मा विद्यमान होती तब योग आत्मा का अस्तित्व बना रहता है। जब कषाय आत्मा समाप्त हो जाती है तब योग आत्मा का अस्तित्व भी समाप्त हो जाता है। चंचलता अपने आप नहीं चल सकती। उसे सहारा चाहिए। वह वैशाखी के सहारे ही चल पाती है। चंचलता को टिकाने वाली है कषाय आत्मा। हमारी चंचलता के पीछे अनेक चेतनाएं काम करती हैं। एक है क्रोध की चेतना, एक है माया और अभिमान की चेतना, एक है वंचना और विप्रतारणा की चेतना, एक है लोभ और भय की चेतना। ये चेतनाएं चंचलता को बढ़ाती हैं। भय की चेतना से चंचलता के बढ़ने का हम सबको अनुभव हैं। आदमी शांत स्थिर है। ज्योंही उसे पता लगता है कि सांप आ गया, उसकी स्थिरता और शांति गायब हो जाती है। उसका सारा यंत्र शरीर चंचलता से भर जाता है। मन अत्यधिक चंचल हो उठता है। भय की चेतना के जागते ही चंचलता जाग जाती है।

क्रोध की चेतना के जागते ही आदमी चंचल हो उठता है। उसका मस्तिष्क विकल्पों से इतना अक्रान्त हो जाता है कि वह न शांत वैठ सकता है और न सो सकता है।

माया की चेतना का जागरण भी भंयकर होता है। मायावी आदमी अपने माया के जाल को विछाने में इतना चंचल होता है कि दूसरी चंचलताएं उसके सामने नगण्य सी लगती हैं। एक माया को छुपाने के लिए हजारों माया जाल

बुनने पड़ते हैं। क्षण-क्षण चंचलता में ही बीतता है।

लोभ की चेतना भी चंचलता की जननी है। इस चंचलता का अन्त सहज नहीं होता।

हम आत्मा के द्वारा आत्मा को देखने की प्रक्रिया में उस मूल सचाई का अनुभव करें जो चंचलता को पैदा करती है। जब तक इस सचाई का अनुभव नहीं करेंगे तब तक स्थिरता को उपलब्ध नहीं हो सकेंगे। कषाय चेतना को देखना-जानना ही स्थिरता को उपलब्ध करना है।

राजस्थानी में एक कहावत है—'छाछ मांगने आई और घर की मालकिन बनकर बैठ गई।' इन विभिन्न चेतनाओं ने भी ऐसा ही कुछ किया है। ये आत्मा बनकर बैठ गई। सारी विकृतियां आत्मा बनकर जम गई। अब इन स्वामिनियों को उखाड़ फेंकना साधारण बात नहीं है। इन्होंने इतना अधिकार जमा लिया है कि मूल स्वामी को स्थान छोड़ने के लिए ललकार रही हैं। इन सब चेतनाओं को हटाना प्रयत्न-साध्य है।

वीर्य आत्मा का दर्शन

आत्मा के द्वारा आत्मा को देखने का तीसरा अर्थ है—वीर्य आत्मा को देखें। शक्ति की आत्मा को देखें। जब हम चाहते हैं कि चंचलता को मिटाएं और साथ साथ चंचलता को उत्पन्न करने वाली चेतना को भी नष्ट करें तो हमें वीर्य—शक्ति का सहारा लेना होगा। शक्ति-शून्यता की अवस्था में इनसे निपटना संभव नहीं है। पूरी शक्ति चाहिए। इनको देखने में इतनी शक्ति अपेक्षित नहीं होती, किन्तु इनको नष्ट करने में शक्ति का संचय और प्रयोग अपेक्षित होता है।

एक नाविक नाव को खे रहा था। एक पंडित उसमें बैठा था। कुछ दूर जाकर पंडित ने नाविक से पूछा—'तुमने बायोलॉजी पढ़ी है? उसने कहा—'बायोलॉजी क्या बला है, मैं नहीं जानता। पंडित बोला—'नाविक! तुमने अपनी एक चौथाई जिन्दगी व्यर्थ गंवा दी। अच्छा तुमने जूओलॉजी पढ़ी है? वह बोला—मालिक मैं नहीं जानता, यह क्या होती है।' पंडित ने कहा—'तुमने आधी जिन्दगी यों ही खोयी।' अच्छा, क्या तुम सायकोलॉजी जानते हो? नाविक बोला—'बाबूजी! ये 'लोजियां' मैं नहीं जानता।' पंडित तत्काल बोल उठा—'तुमने अपनी पौन जिन्दगी गंवा दी। इतने में ही एक तेज तूफान आया। नाव डगमगाने लगी। नाविक बोला—'बाबूजी! आप तैरना जानते हैं?' पंडित बोला—नहीं मैंने तैरना सीखा ही नहीं।' नाविक बोला—'बाबूजी, आपने सारी जिन्दगी फिजूल खो दी। अब डूबने मरने के लिए तैयार हो जाओ।'

जिसमें तैरने की शक्ति नहीं है, वह डूबने से नहीं बच सकता। वह कितनी ही विद्याएं पढ़ ले किन्तु डूबने से बचने के लिए तैरना ही सीखना होगा। दूसरी

विधाएं यहां कारगर नहीं होतीं।

देखने की प्रक्रिया से हम अपनी क्षमताओं को जान सकते हैं, दुर्बलताओं को जान सकते हैं, अच्छाई और बुराई को जान सकते हैं, किन्तु जहां रूपान्तरण का प्रश्न आता है तब केवल देखना-जानना पर्याप्त नहीं होता। वहां वीर्य-आत्मा से काम लेना होगा। हम यह अनुभव करें कि हमारे भीतर इतनी शक्ति है कि हम इन सब परिस्थितियों को समाप्त कर सकते हैं।

पहले हम वीर्य-आत्मा को देखें। प्रारम्भ में द्रष्टाभाव और ज्ञाताभाव जरूरी होता है। फिर हम वीर्य का प्रयोग करें। शक्ति का प्रयोग कर परिस्थिति से आने वाले सारे प्रभावों को ध्वस्त करें। वीर्य-आत्मा का प्रयोग बहुत महत्त्वपूर्ण है।

संकल्प का जागरण : रूपान्तरण का प्रारंभ

आज के विज्ञान के संदर्भ में हम शक्ति के रहस्य को समझें। विज्ञान ने आज अद्‌भुत खोजें प्रस्तुत की हैं। लेसर किरण आज उसका मूर्त्त रूप है। उसकी शक्ति इतनी है कि वह न्यूनतम समय में हजारों हीरे एक साथ काट देती है। पराध्वनि के द्वारा जो कार्य आज निष्पन्न हो रहे हैं, उनकी कल्पना करना भी आज सहज नहीं है। ध्वनि की शक्ति, प्रकंपनों और रेडियो तरंगों की शक्ति की अद्‌भुतता आज सर्वविदित है। यदि शक्ति का रहस्य समझ में आ जाए तो बदलने की बात असंभव नहीं लगती। आज एक क्रोधी आदमी कह सकता है कि मैं क्रोध को बदल दूंगा। लोभी और भीरु आदमी कह सकता है कि वह लोभ और भय से छुटकारा पा लेगा। ऐसा हो सकता है। पर बदलने के लिए सबसे पहले वीर्य-आत्मा को देखना और जानना जरूरी है। संकल्प-शक्ति को जागृत करना ज़रूरी है। जब संकल्प जाग जाता है तब रूपान्तरण प्रारंभ हो जाता है। जब संकल्प-शक्ति नहीं जागती तब कुछ भी नहीं बदल सकता।

युद्ध लड़ा जा रहा था। एक ओर विशाल सेना थी, दूसरी ओर छोटी सेना थी। सेना हारने लगी। सेनापति को हार का संवाद मिला। वह खिन्न और चिंतातुर होकर घर में बैठ गया। पत्नी ने उदासी का कारण पूछा। सेनापति बोला—'अशुभ संवाद मिला है। मेरी सेना हार रही है। बहुत बुरी घटना है।' पत्नी ने कहा—'सेना हार रही है, यह बहुत बुरी घटना नहीं है। बुरी बात यह है कि आपका मनोबल टूट गया, आपकी संकल्प-शक्ति क्षीण हो गई।' यह सुनते ही सेनापति का मनोबल जाग उठा। उसकी वीर्य-आत्मा, शक्ति की आत्मा जागृत हुई। वह मैदान में आ डटा। बड़ी सेना हारकर भाग गई। छोटी सेना जीत गई।

जब मनुष्य की संकल्प-शक्ति टूट जाती है तब रूपान्तरण की बात ही नहीं उठती, न स्वभाव बदला जा सकता है और न व्यक्तित्व ही बदला जा सकता है।

प्रत्येक व्यक्ति इस सचाई का अनुभव करे कि वह अपनी शक्ति का प्रयोग करके जो चाहे बन सकता है, बदल सकता है। जो अपने वीर्य का उपयोग करता है, वह बदल सकता है। जानें और बदलें। देखें और बदलें। जानने के लिए ज्ञान-आत्मा का उपयोग करें और बदलने के लिए वीर्य-आत्मा का उपयोग करें।

आत्मा के द्वारा आत्मा को देखने के ये तीन अर्थ हैं—

१. अपनी चंचलता को देखें।
२. चंचलता को उत्पन्न करने वाली पदार्थ-चेतना और पदार्थ-प्रतिबद्ध चेतना को देखें।
३. परिणमन घटित करने वाली वीर्य-आत्मा को देखें।

६. प्रेक्षा एक पद्धति है शारीरिक स्वास्थ्य की

१. व्याधि का हेतु है—जटिल आदतें।
२. अपना-अपना मूल्यांकन।
३. अहं से अर्हम् तक।
४. मन कभी स्थिर होता ही नहीं। अमन बनने की साधना। मन को समाप्त करना।
५. एक रोग—मूर्च्छा।
   एक दवा—जागृति।
६. पूरी यात्रा के तीन अंग—इच्छा, आकांक्षा, संकल्प।
७. मूल है उपाधि। उपाधि की चिकित्सा करो, आधि मिटेगी, व्याधि मिटेगी।
८. अनुभव है आस्था-निर्माण का आधार।
९. शब्द-संरचना का प्रभाव।

छह

मूल्यांकन अपना-अपना

एक कन्या ने अपने पिता से कहा—'मैं किसी पुरातत्त्वविद् से विवाह करना चाहती हूं।' पिता ने पूछा—'क्यों?' कन्या बोली—'पिताजी! पुरातत्त्वविद् ही एक ऐसा व्यक्ति होता है जो पुरानी चीजों को ज्यादा मूल्य देता है। मैं भी ज्यों-ज्यों पुरानी होती जाऊंगी, बूढ़ी होती जाऊंगी, मेरा मूल्य भी बढ़ता जाएगा। वह मेरे से नफरत भी नहीं करेगा।' वह यह नहीं देखता कि वस्तु कितनी सुन्दर है, कितनी असुन्दर है। वह इतना देखता है कि वस्तु कितनी पुरानी है। यह उसके मूल्यांकन की दृष्टि होती है।'

मूल्यांकन का अपना-अपना दृष्टिकोण होता है। मूल्यांकन का हमारा भी एक दृष्टिकोण है। अध्यात्म की साधना करने वाले व्यक्ति का अपना एक दृष्टिकोण होता है मूल्यांकन का और वह उसका स्वयं का दृष्टिकोण होता है, किसी से उधार लिया हुआ नहीं। उसका दृष्टिकोण है—दृष्टि बदले, चरित्र बदले। ध्यान की साधना करने वाले साधक का प्रयोजन यही होता है कि दृष्टि बदले, चरित्र बदले। वह पुराना ही न रहे, नया बने। पुरानेपन का आग्रह छूटे। साधना में पुरातत्त्व-विद् की दृष्टि काम नहीं देती। वहां नयेपन का आयाम खुलता है और सदा नया बना रहने की आकांक्षा बनी रहती है।

अहं अर्हं बने

प्रत्येक समझदार आदमी का प्रयत्न सप्रयोजन होता है। ध्यान की साधना करने वाले व्यक्ति का साध्य है—रूपान्तरण। दृष्टि का रूपान्तरण, चरित्र का रूपान्तरण। 'अहं' को 'अर्हम्' में बदलना। अहं और अर्हम् में केवल ऊर्ध्व रेफ का अन्तर है, एक मात्रा का अन्तर है। साधक अहं को छोड़कर अर्हं बनना चाहता है। यह एक छोटी-सी यात्रा है। एक मात्रा का अर्जन करना है। अहं पर ऊर्ध्व रेफ लगे, ऐसा प्रयत्न करना है। आधी मात्रा को प्राप्त करना है। इतना होने से

यात्रा सम्पन्न हो जाती है। साधना सफल हो जाती है। ध्यान के साधक की जितनी छोटी यात्रा होती है उतनी छोटी यात्रा और किसी की नहीं होती। छोटा-सा यात्रा-पथ है।

तादात्म्य नहीं, अभिव्यक्ति

प्रेक्षा-ध्यान प्रारंभ करते समय हम प्रतिदिन अर्हं की यात्रा करते हैं। यह इसलिए कि अर्हंम् हमारा साध्य है। हम अर्हंम् होना चाहते हैं, अहं से मुक्त होना चाहते हैं। यह आत्मा की उपलब्धि का उपाय है। आत्मा अमूर्त्त है, अनाकार है, सूक्ष्म है। हम उसे पाना चाहते हैं। वह दीखती नहीं। हम एक मॉडल बनाते हैं, प्रारूप तैयार करते हैं और उसके आधार पर आत्मा को पाना-जानना चाहते हैं। हम जो होना चाहते हैं, 'अर्हंम्' हमारा प्रतीक है, प्रारूप है। हम इसको सामने रखकर चलें। एक दिन आत्मा तक पहुंच जाएंगे। हम जो होना चाहते हैं वह है—अनन्त-चेतना, अनन्त-शक्ति और अनन्त-आनन्द के साथ तादात्म्य नहीं, किन्तु अभिव्यक्ति। यह सब हमारे भीतर है। बाहर से कुछ पाना नहीं है। केवल उसकी अभिव्यक्ति मात्र करनी है। उस अभिव्यक्ति की सारी सामग्री हमारे भीतर है। केवल प्रयत्न चाहिए। एक भवन वह होता है जो विविध सामग्री से बनाया जाता है। एक भवन वह होता है जो कांट-छांटकर बनाया जाता है। दक्षिण में स्थित बाहुबली की विशाल प्रतिमा किसी सामग्री से नहीं बनाई गई, किन्तु जो कुछ अतिरिक्त था, उसे काट दिया गया और प्रतिमा उभर आई। प्रस्तर की प्रतिमा में सामग्री अपेक्षित नहीं होती। जो प्रस्तर अधिक है, उसे कांट-छांट दिया जाता है, प्रतिमा अभिव्यक्त हो जाती है। यही बात है आत्मा की प्रतिमा के विषय में। उसको पाने के लिए सामग्री की आवश्यकता नहीं है। जो कुछ विजातीय तत्त्व उससे चिपका हुआ है, उसे हटा देने से आत्मा की प्रतिमा उभर आती है। जो कुछ उसके साथ जुड़ गया है, उसे अलग कर देने से आत्मा उपलब्ध हो जाती है।

कोऽहं कोऽहं का उत्तर

ज्ञेय, हेय और उपादेय—यह त्रिपुटी है। ज्ञेय सब कुछ है। अच्छा हो या बुरा, सब कुछ जानने योग्य है। जानने के बाद दो बातें शेष रहती हैं—हेय और उपादेय। हेय का अर्थ है—छोड़ना। जो कुछ अतिरिक्त है उसे अलग कर देना है। शेप जो बचेगा वह है उपादेय, वह है अपना अस्तित्व। अस्तित्व का प्रश्न बहुत जटिल है। अनन्त काल से आदमी पूछता रहा है—'कोऽहं, कोऽहं—मैं कौन हूं? मैं कौन हूं?' ग्रन्थों में इसका उत्तर अप्राप्य है। बुद्धि का व्यवसाय भी इसका उत्तर नहीं दे पाता। तर्क इस प्रश्न को समाहित नहीं कर सकता। यह प्रश्न

समाहित हो सकता है केवल विवेक चेतना के जागरण द्वारा। विवेक, कायोत्सर्ग और व्युत्सर्ग—ये तीनों साधन हैं। जैन आचार्यों ने जिसे विवेक-चेतना या विवेक-प्रतिमा कहा है, उसे ही उपनिषद्‌कारों ने 'नेति नेति' कहा है। विवेक का अर्थ है—छोड़ना, छोड़ते जाना। चलते-चलते जो शेष रहेगा वही है अस्तित्व, वही है 'कोऽहं' प्रश्न का उत्तर। ज्ञेय को जानना और हेय को छोड़ना, जो अतिरिक्त है उसे छोड़ना, शेष जो बचे वही 'मैं हूं।' इस प्रक्रिया में निर्मित कुछ नहीं होता, किन्तु जो अभिव्यक्त नहीं था वह अभिव्यक्त हो जाता है। जो आवृत था, वह अनावृत हो जाता है।

मन स्थिर नहीं हो सकता

सबसे पहले हमें चंचलता को छोड़ना है। ग्रंथ यह बता रहे हैं कि सबसे पहले हमें मन को स्थिर करना है। मैं समझता हूं यह एक भ्रांति है। मन कभी स्थिर होता ही नहीं। आपके मन में प्रश्न हो सकता है कि फिर ध्यान का प्रयोजन ही क्या है ? क्यों ध्यान-शिविर लगाए जाते हैं ? आप इसे गहराई से समझें।

मन की प्रकृति है चंचलता। उसका यह स्वभाव है। वह अपने स्वभाव को कैसे छोड़ेगा ? वह स्थिर क्यों होगा ? आरोपित गुणों को हटाया जा सकता है, किन्तु स्वभाव को कभी नहीं बदला जा सकता। विभाव को नष्ट किया जा सकता है, किन्तु बीमारी को स्वास्थ्य में नहीं बदला जा सकता। मन को स्थिर नहीं किया जा सकता।

मन का अर्थ

मन का अर्थ है—संकल्प-विकल्प। मन का अर्थ है—स्मृति और चिंतन। मन का अर्थ है—कल्पना। मन तीनों कालों में बंटा हुआ है। जो अतीत की स्मृति करता है, उसका नाम है—मन। जो भविष्य की कल्पना करता है, उसका नाम है—मन। जो वर्तमान का चिंतन करता है, उसका नाम है—मन। तीनों चंचलताएं हैं। स्मृति एक चंचलता है। कल्पना एक चंचलता है। चिंतन एक चंचलता है। जब स्मृति, कल्पना और चिंतन नहीं होते तब मन नहीं होता। जब मन होता है तब तीनों आवश्यक हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में मन को स्थिर करने की बात कैसे प्राप्त हो सकती है ? मन को स्थिर करने की बात केवल एक भ्रांति है। इसे हम निकाल दें।

मन को स्थिर नहीं, समाप्त करना

मन को स्थिर करने का अर्थ है—मन के अस्तित्व को समाप्त कर देना। हम इस भाषा का प्रयोग करें कि मन को स्थिर नहीं किया जा सकता, उसको

समाप्त किया जा सकता है। मन को अमन बनाया जा सकता है। मन का स्थायी अस्तित्व नहीं है। उसका अस्तित्व अस्थायी है। यदि कोई सोचे कि वह दीपक की लौ की गति को रोक दे, तो क्या यह संभव है? गति को रोकने का अर्थ है—लौ की समाप्ति। दीपक बुझ जाएगा। हम दीपक को बुझा सकते हैं, लौ की गति को नहीं रोक सकते। नदी के प्रवाह को रोका जा सकता है। रुकने के बाद प्रवाह प्रवाह नहीं रहता, वह केवल बांध का पानी बन जाता है। प्रवाह भी रहे और गति भी न हो, दोनों बातें एक साथ नहीं हो सकतीं। मन भी रहे और स्मृति, कल्पना तथा चिंतन न हो—ये दोनों बातें एक साथ नहीं हो सकतीं। मन होगा तो ये तीनों बातें होंगी। ये होंगी तो मन अवश्य होगा। मन को उत्पन्न न करें, यह संभव है। मन को मिटा दें, यह भी संभव है, किन्तु मन को स्थिर कर दें, यह संभव नहीं है।

अमन की स्थिति

हम ऐसा अभ्यास करें जिससे मन की भूमिका से हटकर चित्त की भूमिका पर चले जाएं। हम मन को उत्पन्न न करें और अधिक से अधिक अमन की स्थिति में रहना सीखें। हमारी साधना का यही प्रयोजन है कि हम मन को पैदा न करें, मन को चंचल बनाने वाली चित्त की चेतना को स्थिर करें और अमन की स्थिति में रहें।

ज्ञाता-द्रष्टाभाव का जितना अधिक विकास होगा, समता का जितना अधिक विकास होगा, राग द्वेष से परे रहने का जितना अधिक विकास होगा, उतना ही विकास अमन की स्थिति का होगा। जब व्यक्ति अमन की स्थिति में जाता है तब दृष्टि में परिवर्तन होना प्रारंभ हो जाता है। हम एक आंख से प्रियता का दर्शन करते हैं और दूसरी आंख से अप्रियता का दर्शन करते हैं। हमारा समूचा जीवन प्रियता और अप्रियता को देखने में बीत जाता है। इसके अतिरिक्त आंख के सामने कोई दर्शन नहीं है। प्रियता और अप्रियता से परे का कोई दर्शन प्राप्त नहीं है। उसे देखने के लिए हमें तीसरी आंख चाहिए। इस तृतीय नेत्र के द्वारा हम प्रियता और अप्रियता से हटकर पदार्थ को केवल पदार्थ की दृष्टि से और यथार्थ को केवल यथार्थ की दृष्टि से देख सकें, सत्य को केवल सत्य की दृष्टि से देख सकें।

इच्छा, आकांक्षा, संकल्प—पूरी यात्रा

बदलने की चाह होती है, किन्तु जब तक चाह संकल्प तक नहीं पहुंचती तब तक बदलाहट नहीं आती। चाह को संकल्प तक पहुंचने में लम्बी यात्रा करनी होती है। पहले इच्छा बने, इच्छा से आकांक्षा, आकांक्षा से संकल्प और संकल्प से भावना बने, तब यात्रा पूरी होती है। प्रत्येक व्यक्ति की इच्छा हो सकती है कि

वह नैतिक बने, चरित्र-संपन्न बने। किन्तु इच्छा को आकांक्षा तक ले जाने में लम्बी यात्रा करनी पड़ती है। नीतिशास्त्र में इस विषय पर बहुत विचार किया गया है। पाश्चात्य विचारकों का कथन है कि इच्छा और आकांक्षा की दूरी को मिटाना बहुत आवश्यक है।

भरत चक्रवर्ती का सेनापति था सुषेण। उसने एक दिन आकर कहा—सम्राट्! एक चक्ररत्न का प्रादुर्भाव हुआ है, किन्तु वह आयुधशाला में प्रवेश नहीं कर रहा है। उसकी यह मर्यादा है कि जब तक सारे राजा आपके अधीन नहीं हो जाते तब तक वह प्रवेश नहीं कर सकता। लगता है कोई राजा आपको अभी सम्राट् मानने के लिए तैयार नहीं है।' चक्रवर्ती भरत ने सोचा। उसे लगा—भाई बाहुबली एक ऐसा नरेश है जो मेरा आधिपत्य स्वीकार नहीं कर रहा है। मैं उसे पराजित करूं जिससे कि चक्ररत्न आयुधशाला में प्रवेश कर सके। भरत के मन में इच्छा हुई। वह आकांक्षा तक पहुंचे, इससे पूर्व ही भरत के मन में आया—बाहुबली छोटा भाई है। भाई पर कैसे आक्रमण करूं? लोग क्या कहेंगे? मेरी प्रतिष्ठा क्या रहेगी? इच्छाओं के बीच संघर्ष चलता रहा। फिर उसने सोचा—भाई है तो क्या? प्रश्न भाई का नहीं है। प्रश्न है साम्राज्य का। मुझे उसी के आधार पर सोचना है। मुझे कर्त्तव्य की दृष्टि से जो करना है वह करना है। भावना जागी और आक्रमण की इच्छा विजयी हो गई। स्नेह पराजित हो गया। इच्छा आकांक्षा में बदली। दूत भेजा। उसके अपमान को देखा-सुना। आकांक्षा संकल्प में बदली युद्ध प्रारंभ हो गया।

प्रेक्षा : विपरीत प्रक्रिया

इच्छा से आकांक्षा और आकांक्षा से संकल्प दृढ़ होता है। जब संकल्प दृढ़ होता है तब कर्म प्रारंभ हो जाता है, प्रगति शुरू हो जाती है। चरित्र का परिवर्तन घटित होने लगता है। एक इच्छा पैदा होती है किन्तु जब अनेक इच्छाओं में संघर्ष होने लगता है तब बहुत कम लोग अपनी मूल इच्छा को विजयी बना पाते हैं। वे उस संघर्ष में शिथिल होकर पराजित हो जाते हैं। आदमी चरित्रवान् और प्रामाणिक बने रहने की इच्छा रखता है। परन्तु जब वह अचरित्रवान् व्यक्ति के वैभव और सुख-सुविधाओं को देखता है तब चरित्रवान् बने रहने की इच्छा पराजित हो जाती है और अनैतिक होकर बड़ा आदमी बनने की इच्छा विजयी बन जाती है। एक प्रश्न होता है कि व्यक्ति चाहते हुए भी नैतिक या चरित्रवान् क्यों नहीं बनता? इसका समाधान यह है कि इच्छाओं के इस जगत् में जब तक व्यक्ति अपनी इच्छाओं को विजयी नहीं बना देता तब तक चरित्रवान् होने की आकांक्षा पैदा नहीं होती। जब आकांक्षा उत्पन्न नहीं होती तब संकल्प पैदा नहीं होता और संकल्प के बिना सफलता नहीं मिलती। यह सारा इसलिए होता है कि व्यक्ति की

दृष्टि केवल प्रियता और अप्रियता के साथ जुड़ी हुई है। उससे परे की बात वह सोच ही नहीं सकता। इस द्वन्द्व (प्रियता और अप्रियता) से परे गए बिना परिवर्तन घटित नहीं होता। अब प्रश्न यह शेष रहता है कि इस द्वन्द्व से परे की दृष्टि का निर्माण कैसे किया जाए ? हमने व्याधि, आधि और उपाधि को मिटाने की चर्चा की। पर ये कैसे मिटे ? क्या प्रेक्षा-ध्यान व्याधि मिटाने की पद्धति है ? हां, यह व्याधि को मिटाने की प्रक्रिया है, किन्तु है उल्टी प्रक्रिया। डॉक्टर रोग की दवा देता है। प्रेक्षा-ध्यान के द्वारा रोग की दवा नहीं दी जाती। उपाधि को मिटाने की दवा दी जाती है। उपाधि की दवा से आधियां मिटती हैं, आधि मिटती है इसलिए व्याधि मिटती है। यह विपरीत प्रक्रिया है।

एक रोग : एक दवा

प्राकृतिक चिकित्सा में एक रोग और एक दवा है। पेट में विजातीय तत्त्व का संचय होना, यही एकमात्र रोग है। उसका निष्कासन करना, यही एकमात्र दवा है, इसके सिवाय न कोई रोग है और न कोई दवा।

ध्यान-पद्धति में भी यह कहा जा सकता है कि एक ही बीमारी है। वह है—मूर्च्छा। इसकी एक ही दवा है। वह है—जागृति।

प्रश्न यह होता है कि जागृति कैसे प्राप्त होती है ? ध्यान से जागृति पैदा होती है। ध्यान के प्रति आकर्षण हो, यह आवश्यक है। ध्यान के प्रति आस्था को बढ़ाने के लिए संकल्प-शक्ति का सहारा लेना होगा। इच्छा, आकांक्षा और संकल्प-शक्ति को बढ़ाना होगा। इसके लिए प्रारंभ में थोड़ा अनुभव करना होगा। अनुभव के बिना आस्था का निर्माण नहीं होता। ये ध्यान-शिविर अनुभव कराने के माध्यम बनते हैं। इनसे व्यक्ति में आस्था का निर्माण होता है। इस आस्था के आधार पर व्यक्ति आगे बढ़ता है और एक दिन चरम बिन्दु पर पहुंच जाता है।

राजा भोज संस्कृत के विद्वानों, आयुर्वेद के आचार्यों और भारतीय विद्याओं को आश्रय देने वाला एक महान् राजा था। एक बार वह शिरःशूल से पीड़ित हो गया। देश के सारे वैद्य चिकित्सा करने आ पहुंचे। कोई लाभ नहीं हुआ। दर्द बढ़ता ही गया। राजा का स्वभाव चिड़चिड़ा हो गया। उसका क्रोध बढ़ गया। दर्द की भयंकरता से परेशान होकर एक दिन उसने आदेश दिया कि मेरे राज्य से सभी वैद्यों को निकाल दिया जाए और चिकित्सा-ग्रन्थों को नदी में बहा दिया जाए। राजा का आदेश लोह की लकीर होती थी। सारे राज्य में खलबली मच गई। वैद्यों को निकाल दिया गया। पुराने ग्रन्थों को एक-एक कर नदी के प्रवाह में डाल दिया गया। आयुर्वेद के महान् आचार्य जीवक ने यह सुना। उनका मन तिलमिला उठा। आयुर्वेद की इस दुर्दशा को वे सहन नहीं कर सके। वे राजा भोज के पास आए और अनुनय विनय किया कि चिकित्सा का एक अवसर उन्हें दिया

जाए। राजा ने कहा—'निकाल दो इसे। नहीं चाहिए मुझे आयुर्वेद की चिकित्सा।' जीवक ने अधिकारियों को समझाया और कहा—'मात्र एक अवसर दिया जाए। यदि मैं असफल रहा तो मेरा सिर काट डालें।' अधिकारियों ने राजा को समझाया। राजा मान गया। महान् वैद्य जीवक ने राजा के सिर की शल्य चिकित्सा की। उसको खोला। उसके आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा जब उसने देखा कि सिर के एक कोने में एक मछली का बच्चा हलचल कर रहा है। उसे बाहर निकाला। सिर को लेप से सांधा। राजा का सिरदर्द समाप्त हो गया।

राजा को चमत्कार-सा लगा। पूछने पर जीवक ने कहा—'आप कभी तालाब पर स्नान-कुल्ला करने गए थे। तब संभव है मछली का अंडा आपके भीतर पानी के साथ चला गया और वह सिर दर्द का मूल कारण बना।' राजा ने कहा—'तालाब पर गया था। उसके बाद ही यह दर्द बढ़ा था।' राजा का मन ग्लानि से भर गया। उसे अपनी मूर्खता पर दुःख होने लगा। उसने कहा—'आयुर्वेद की पुनः स्थापना करें। सारे ग्रन्थों का संग्रह किया जाए।' आस्था का पुनर्निर्माण हो गया।

अनुभव : आस्था-निर्माण का आधार

आस्था का निर्माण महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। आस्था का निर्माण भाषणों, प्रवचनों या उपदेशों से नहीं होता। वह होता है व्यक्ति के अपने अनुभव से।

आज के व्यक्ति का अनुभव यह है कि पदार्थ से सुख मिलता है, धर्म से कोई सुख नहीं मिलता। धर्म के उपदेशों ने सुख को रख दिया परलोक में और धर्म को रखा वर्तमान जीवन में। कितनी दूरी ? धर्म करो। मरने के बाद जलाए जाओगे। परलोक में उत्पन्न होना पड़ेगा। पहले जन्म में जो धर्म किया था, उसका सुख वहां मिलेगा। बहुत बड़ी दूरी पैदा हो गयी, इसीलिए धर्म के प्रति वह आकर्षण नहीं रहा। धर्म करते ही यदि धर्म का अनुभव हो जाता है तो आदमी धर्म से कभी दूर नहीं हो सकता। धर्म के अनुभव का माध्यम है—प्रेक्षा-ध्यान। ध्यान में केवल उपदेश नहीं होता। उसमें यह अनुभव कराया जाता है कि पदार्थ से जो सुख प्राप्त नहीं होता वह सुख भीतरी रासायनिक परिवर्तनों के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। विद्युत् प्रवाह के गतिरोधों को मिटाने से, एक दूसरी प्रकार की तरंगों के उत्पन्न करने से विचित्र प्रकार के सुख की अनुभूति होती है। क्रोध, मान आदि की तरंगों को मिटाकर, विकार की तरंगों को नष्ट कर हम ऐसी तरंगें उत्पन्न कर सकते हैं जो परम आनन्द की अनुभूति देती हैं। ये तरंगें भावना के द्वारा पैदा की जा सकती हैं। भावना, शब्द और विचार—ये तीनों नयी तरंगों को उत्पन्न करने में सहायक होते हैं। व्यक्तित्व को बदलने और पुरानी जटिल आदतों को मिटाने के लिए ये महत्त्वपूर्ण साधन हैं। इसलिए प्रेक्षा-ध्यान की पद्धति में भावना, संकल्प-शक्ति, मंत्र, विचार—सभी का अवकाश है। उसमें केवल देखने का ही

स्थान नहीं है। समय-समय पर इन विभिन्न साधनों का उपयोग किया जाता है।

शब्द-संरचना का प्रभाव

'अर्हम्' शब्द बहुत शक्तिशाली माध्यम है। 'र' अग्नि बीज है और 'ह' आकाश बीज है। जिस मंत्र में 'ह' का प्रयोग होता है, वह शक्तिशाली मंत्र होता है। अर्हम् केवल पवित्र मुक्तात्मा का ही प्रतीक नहीं है, किन्तु मंत्रशास्त्रीय दृष्टि से भी यह बहुत शक्तिशाली मंत्र है। शब्द बहुत शक्तिसंपन्न होते हैं। एक शब्द-संरचना सारे व्यक्तित्व को छिन्न-भिन्न कर देती है और एक शब्द-संरचना सारे व्यक्तित्व को शिखर पर चढ़ा देती है। आज के साहित्यकार मानें या न मानें, यह अजमाया हुआ सत्य है कि जिस रचना में दग्धाक्षर आ जाता है, वह रचनाकार नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है। एक यथार्थ घटना है। एक कवि नागोर में रहता था। उसने एक रचना की। रचना की समाप्ति में उसने लिखा—'नागो रमे।' 'नागो' अलग शब्द और 'रमे' अलग हो गया। उसका आशय तो यह था कि नागोर में उसने यह रचना की है, किन्तु शब्दों को दो भागों में बांट दिया। अब उनका अर्थ हुआ—नागो अर्थात् नग्न और रमे अर्थात् खेलता है। शब्द का असर देखें। कुछ ही दिनों बाद वह रचनाकार पागल हो गया और सचमुच नग्न होकर, बड़बड़ाता हुआ बाजारों में घूमने लगा।

आज की वैज्ञानिक खोजों ने इस सचाई को बहुत उजागर किया है। विज्ञान सूक्ष्म-तरंगों तथा सूक्ष्म-प्रकंपनों से अद्‌भुत कार्य कर रहा है। ध्वनि और विचार के प्रकंपन हमारे चरित्र को प्रभावित करते हैं।

उपाधि को मिटाने के लिए किस प्रकार की ध्वनि तरंगें, विचार या भावना की तरंगें काम में लेनी हैं, इसको हम गंभीरता से समझें। उपाधि की चिकित्सा आधि की चिकित्सा होगी। आधि की चिकित्सा व्याधि की चिकित्सा होगी। इस आधार पर कहा जा सकता है कि प्रेक्षा-ध्यान की पद्धति एक महत्त्वपूर्ण चिकित्सा पद्धति है, शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य का महान् प्रयोग है।

७. प्रेक्षा एक प्रयोग है चिर यौवन का

१. प्रेक्षा-ध्यान के संदर्भ में यौवन की विभिन्न परिभाषाएं हैं।

२. युवा वह है—

- जिसकी मस्तिष्कीय मज्जा में कठोरता नहीं है।
- जिसकी रीढ़ की हड्डी स्वस्थ है।
- जिसका मस्तिष्क तनावमुक्त है।
- जो स्मृतियों में उलझा नहीं रहता।
- जो वर्तमान में जीना जानता है।
- जिसमें सत्य की साधना का उत्साह है।
- जिसमें पुरुषार्थ है।
- जिसमें प्रतिस्रोत में चलने की क्षमता है।
- जिसमें प्राण-शक्ति का पूरा संचय है।
- जो परिस्थिति से प्रताड़ित नहीं होता।

सात

तीर्थंकर कभी बूढ़े नहीं होते

मनुष्य की शाश्वत कामना है—'जीवेम शरदः शतम्—मैं सौ वर्ष तक जीता रहूं।' प्राचीनकाल में जीवन की सामान्य सीमा थी सौ वर्षों की। प्राचीन आचार्यों ने इस सीमा को दस अवस्थाओं में बांटा है। जीवन की दस अवस्थाएं हैं। आदमी जन्म लेता है, बच्चा होता है, युवा बनता है, बूढ़ा होता है और फिर मृत्यु को प्राप्त हो जाता है। बच्चा होना कोई चाहता नहीं। यह चाह का विषय नहीं है। यह प्रश्न नियति का है। तीन अवस्थाएं हैं—बचपन, यौवन और वृद्धत्व। बचपन चाह का विषय नहीं है। बच्चा युवा होना चाहता है। यौवन चाह का विषय है। युवा बूढ़ा बनना नहीं चाहता। वृद्धत्व चाह का विषय नहीं है। बूढ़ा न होने के लिए आदमी ने बहुत प्रयत्न किए हैं। अनेक औषधियों और पद्धतियों का आविष्कार कर यह पूरा प्रयत्न किया गया कि आदमी बूढ़ा न बने। आयुर्वेद ने कायाकल्प की पद्धति चलायी जिससे कि आदमी चिर युवा रह सके, बूढ़ा भी युवक बन जाए। आदमी बूढ़ा इसलिए होता है कि उसके शरीर की कोशिकाएं नष्ट अधिक होती हैं, नयी कोशिकाओं का निर्माण नहीं होता। शरीरशास्त्रीय दृष्टि से जो आदमी शक्ति का व्यय कम करता है, ऊर्जा को कम खर्च करता है, नयी कोशिकाओं को निर्मित होने का अवकाश देता है, वह बूढ़ा नहीं होता, जल्दी बूढ़ा नहीं होता। इसका तात्पर्य यह है कि मनुष्य सदा युवा रहना चाहता है। प्रेक्षा-ध्यान को हम इस दृष्टि से देखें कि उससे चिर यौवन को सुरक्षित रखा जा सकता है। उसे स्थायी बनाया जा सकता है। आगमकार कहते हैं कि देवता कभी बूढ़े नहीं होते। वे सदा मध्यम वय में ही रहते हैं। तीर्थंकर युवावस्था में ही निर्वाण को प्राप्त होते हैं। संभवतः व्याख्याकारों ने यह मान लिया कि मध्यम आयु में ही तीर्थंकरों को निर्वाण की प्राप्ति हो जाती है। इसका सीधा अर्थ है कि तीर्थंकर कभी बूढ़े नहीं होते। जो सिद्धयोगी होते हैं वे कभी बूढ़े नहीं होते। कोई भी वीतराग व्यक्ति बूढ़ा कैसे होगा? बुढ़ापा लाने वाली सारी स्थितियां वहां समाप्त हो जाती हैं। इसलिए

वीतराग, केवली या तीर्थंकर कभी बूढ़े नहीं होते।

युवक कौन ? बूढ़ा कौन ?—एक वैज्ञानिक विश्लेषण

युवक और यौवन की अनेक परिभाषाएं की गयीं। मैं उनके विश्लेषण में नहीं जाऊंगा। मुझे केवल प्रेक्षा-ध्यान के संदर्भ में युवा को समझना है, बूढ़े को समझना है। युवा कौन होता है? बूढ़ा कौन होता है? यौवन क्या है? बुढ़ापा क्या है? मैं इन प्रश्नों की चर्चा आयुर्विज्ञान और मानस-शास्त्र के संदर्भ में करना चाहूंगा। शरीरशास्त्र का कथन है कि मस्तिष्क की कोशिकाएं जब कठोर बन जाती हैं तब आदमी बूढ़ा बनता है। बुढ़ापे का लक्षण है मस्तिष्क की कोशिकाओं का समाप्त हो जाना, उनका लचीलापन मिट जाना, उनका कठोर हो जाना। कठोरता में क्षमता कम हो जाती है। उससे आदमी बूढ़ा बन जाता है। वह बूढ़ा ही नहीं बनता, उसकी सहिष्णुता भी कम हो जाती है, परिस्थितियों को झेलने की क्षमता न्यून हो जाती है, संतुलन कम हो जाता है। यह व्यवहार का अनुभव है कि बूढ़ा आदमी चिड़चिड़े स्वभाव का हो जाता है। उसे क्रोध अधिक आता है, शीघ्र आता है। वह किसी बात को सहन ही नहीं कर सकता। बात-बात में अधीरता परिलक्षित होने लगती है। यह उस व्यक्ति का दोष नहीं है। यह तो मस्तिष्कीय मज्जा की कठोरता का परिणाम है।

एक शब्द में बूढ़ा वह होता है जिसकी मस्तिष्कीय मज्जा कठोर हो जाती है। युवा वह होता है जिसकी मस्तिष्कीय मज्जा में लचीलापन है, आर्द्रता है।

प्रेक्षा-ध्यान की प्रक्रिया से मस्तिष्कीय मज्जा को लचीला बनाए रखा जा सकता है, उसको गीला बनाए रखा जा सकता है। जो व्यक्ति शरीर और चैतन्य-केन्द्रों की प्रेक्षा करता है, गहराई में उतरकर उनके अणु-अणु को देखने का प्रयत्न करता है, तो उसकी इस गहरी प्रेक्षा से रक्त और प्राण-शक्ति का इतना संचार होता है कि मज्जा में कठोरता नहीं आती। वह वैसी की वैसी तरल और आर्द्र बनी रहती है। यह आर्द्रता आदमी को केवल बूढ़े होने से ही नहीं बचाती, वह उसके चिड़चिड़ेपन, असंतुलन और उत्तेजना को भी समाप्त कर देती है।

बूढ़ा वह होता है जिसकी रीढ़ की हड्डी विकृत और कठोर हो जाती है। युवा वह होता है जिसकी रीढ़ की हड्डी लचीली रहती है। आगम के व्याख्याकारों ने बताया कि आदमी चालीस वर्ष तक युवा होता है और सत्तर वर्ष तक प्रौढ़ रहता है। यह मध्यम वय है। उसके बाद क्षीणता आती है और आदमी बूढ़ा होता जाता है। आयुर्विज्ञान और स्वास्थ्य-विज्ञान से यह कथन उचित है। किन्तु ध्यान-विज्ञान में यह नियम लागू नहीं होता। जो व्यक्ति पवन-मुक्तासन, धनुरासन, पश्चिमोत्तानासन आदि रीढ़ को लचीला बनाने वाले आसन करता है, शक्ति-केन्द्र से ज्ञान-केन्द्र और ज्ञान-केन्द्र से शक्ति-केन्द्र तक मन की अन्तर्यात्रा करता है,

सुषुम्णा मार्ग से प्राण-धारा को प्रवाहित करता है, वह चाहे ८० वर्ष का हो या ९० वर्ष का हो, कभी बूढ़ा नहीं हो सकता। वह पूरे सौ वर्ष पार कर ले, फिर भी बूढ़ा नहीं हो सकता, क्योंकि उसकी रीढ़ की हड्डी का लचीलापन बना रहता है। वह युवा ही है।

प्रेक्षा-ध्यान का प्रयोग रीढ़ की हड्डी को स्वस्थ और लचीली रखने का अचूक उपाय है।

युवा वह होता है जिसका मस्तिष्क तनाव से मुक्त रहता है। जो मस्तिष्कीय तनाव से मुक्त है, उसकी आयु कितनी भी क्यों न हो, वह युवा है और जो मस्तिष्कीय तनाव से ग्रस्त है, उसकी आयु चाहे ४०-५० ही क्यों न हो, वह बूढ़ा है। तनाव बुढ़ापा लाता है। तनावमुक्ति बुढ़ापे से मुक्ति दिलाती है। शारीरिक तनाव, मानसिन तनाव और भावनात्मक तनाव—ये तीनों प्रकार के तनाव कोशिकाओं में कठोरता पैदा करते हैं और यह कठोरता बुढ़ापे का मूल कारण है। जो व्यक्ति ध्यान का अभ्यास नहीं करता वह तनाव से सर्वथा मुक्त नहीं हो सकता। कुछेक लोग तनाव-मुक्ति के लिए विभिन्न औषधियों का सेवन करते हैं। लगता है कि कुछ घंटों के लिए उनका तनाव शिथिल हो गया है, पर वे औषधियां और अधिक हानि करती हैं, उसके बहुत बुरे परिणाम आते हैं। तनाव को मिटाने का उपाय है—अपनी जटिल आदतों को बदलना, कषायों को कम करना, आवेगों को शान्त करना। यह सारा ध्यान से ही सम्भव हो सकता है।

धर्मगुरु समझाते रहे हैं कि क्रोध मत करो, क्योंकि उससे नरक मिलता है। आज का बुद्धिवादी युवक नरक के भय से किसी बात को छोड़ने के लिए तैयार नहीं है। क्रोध करने से नरक मिलता हो तो भले ही मिले, किन्तु यदि मुझे उससे सुख की अनुभूति होती है तो वह करणीय है, त्याज्य नहीं है। आज के आदमी में नरक का भय नहीं रहा। किन्तु यदि आज के आदमी को बताया जाए कि क्रोध से तनाव बढ़ता है, बीमारियां उत्पन्न होती हैं, केन्सर होता है, अल्सर होता है, नाना प्रकार के मनोकायिक रोग होते हैं, तो वह क्रोध को छोड़ने की बात सोच सकता है। क्रोध न करने का प्रश्न केवल परलोक से संबंधित नहीं है, वह शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य से संबंधित है। यदि यह बात समझाई जाती है तो हर व्यक्ति उस पर ध्यान दे सकता है। तनावग्रस्त व्यक्ति असमय में बूढ़ा बन जाता है। प्रेक्षा-ध्यान एक प्रयोग है तनावमुक्ति का। तनाव निरुत्साह पैदा करता है। निरुत्साही व्यक्ति बूढ़ा होता है। युवा वह होता है जो उत्साह को कभी नहीं खोता।

आचार्य भिक्षु से पूछा—'प्रमाद का अर्थ क्या है?' उन्होंने कहा—'धर्म के प्रति अनुत्साह।' फिर पूछा—अप्रमाद का अर्थ क्या है?' उन्होंने कहा—'धर्म के प्रति उत्साह।'

हम एक परिभाषा बनाएं। युवा वह होता है जो अप्रमत्त होता है। बूढ़ा वह होता है जो प्रमत्त होता है। जो अप्रमत्त होगा उसमें धर्म का उत्साह होगा, अपने अस्तित्व के प्रति उत्साह होगा, अपने चैतन्य के जागरण के प्रति उत्साह होगा। बूढ़ा वह होता है जिसका उत्साह मर जाता है, जिसका धर्म या अपने अस्तित्व के प्रति उत्साह मर जाता है। बूढ़ा वह होता है जिसके चैतन्य की लौ बुझ जाती है, यौवन का कोई भी लक्षण दृग्गोचर नहीं होता।

भावक्रिया : विकास का आदि-बिन्दु

प्रेक्षा-ध्यान एक प्रक्रिया है अप्रमाद के विकास की, चैतन्य के जागरण की। जिस व्यक्ति ने भावक्रिया का थोड़ा-सा भी अभ्यास किया है, वह व्यक्ति अप्रमत्त रहने का अभ्यासी कहा जा सकता है। यदि हम गहरे में जाएं, दर्शन की बहुत सारी गुत्थियों को सुलझाने बैठें तो यह लगेगा कि भावक्रिया ने मनुष्य के विकास में बहुत बड़ा योग दिया है। भावक्रिया ने ही प्राणी को निगोद (वनस्पति) से मनुष्य की अवस्था तक पहुंचाया है। निगोद विकास का आदि-बिन्दु है और मनुष्य अवस्था विकास का चरम-बिन्दु है। निगोद प्राणियों का अक्षय कोष है। वहीं से सारा विकास प्रारंभ होता है। मनुष्य का जीव जब उस निगोद में था तब एककोशीय प्राणी के रूप में था। कोई संकल्प जागा, भावक्रिया होती रही, अल्प-विकसित चेतना को विकसित होने का योग मिलता रहा। वह चलते-चलते चेतना-विकास का चरम बिन्दु मनुष्य अवस्था तक पहुंच गया। अमनस्क अवस्था से समनस्क अवस्था तक पहुंच गया। उसमें इन्द्रिय चेतना, मनश्चेतना और बौद्धिक चेतना विकसित हुई। विवेक चेतना जागी। यह सब भावक्रिया से ही सम्भव हो सका है।

क्रियेटिव इवोल्यूसन

यूनान के दार्शनिकों ने 'क्रियेटिव इवोल्यूसन' (Creative evolution) पर बहुत विचार किया है। उनका कहना है कि मनुष्य का जो जैविक विकास-क्रम है, वह सारा एक संकल्प के द्वारा हुआ है। यदि हम भावक्रिया को ठीक समझ लें तो उस सृजनात्मक विकास की व्याख्या को समझ सकते हैं। भावक्रिया के बिना, निरंतर संकल्प की प्रेरणा के बिना कोई भी प्राणी अविकास से विकास की दशा तक नहीं पहुंच सकता। यह प्रेक्षा का प्रयोग अप्रमाद या सतत जागरूकता का प्रयोग है। यह चैतन्य की दीपशिखा को निरंतर प्रज्ज्वलित रखने का प्रयोग है। इस प्रयोग के द्वारा मनुष्य सदा युवा रह सकता है। जो अप्रमत्त रहता है वह सदा युवा बना रहता है। जो प्रमत्त होता है वह बूढ़ा बन जाता है। बूढ़ा वह होता है जो झपकियां ज्यादा लेता है। युवा झपकियां नहीं लेता। बूढ़ा वह होता है

अतीत की स्मृतियों में खोया रहता है। युवा वह होता है जो वर्तमान में रहता है। बूढ़ा आदमी निरंतर अतीत की यादों में रस लेता रहता है। उसे वर्तमान अच्छा ही नहीं लगता। वह अतीत के गुण गाता है, अपने अतीत को याद कर खिल उठता है। वह स्मृतियों के कगार पर खड़ा होता है और स्मृतियों की बैसाखी के सहारे चलता रहता है। युवा अतीत को समझता है पर जीता है वर्तमान को। वह वर्तमान पर चलता है, खड़ा होता है और उसे जानता-समझता है। वह अतीत की बातों में कभी नहीं उलझता। वह उलझेगा भी क्यों? उसका अतीत है ही क्या? एक बूढ़े व्यक्ति का अतीत ८० वर्ष का है और एक युवा व्यक्ति का अतीत २०-२५ वर्ष का है। वह युवा क्या स्मृति करेगा और कौन से अतीत की प्रशंसा करेगा? उसे रस ही नहीं आएगा। जो केवल अतीत के गीत गाता है वह चालीस वर्ष का युवा भी बूढ़ा है और जो वर्तमान को पकड़ कर चलता है वह अस्सी वर्ष का बूढ़ा भी युवा है। जो पुराने के नाम पर जहर पीने को तैयार रहता है और नये के नाम पर अमृत को भी ठुकरा देता है, जिसमें पुरानेपन का इतना मोह और अनुराग हो जाता है, भूतकाल पर इतनी श्रद्धा हो जाती है, वह चाहे कितनी ही कम उम्र का हो, है बूढ़ा ही। बूढ़े को या युवा को अवस्था के साथ नहीं जोड़ा जा सकता।

प्रेक्षा है वर्तमान में जीना

प्रेक्षा-ध्यान का एक महत्त्वपूर्ण सूत्र है—वर्तमान में जीना। वह वर्तमान में देखना सिखाता है। वह कहता है—शरीर-प्रेक्षा करो। वर्तमान में शरीर में क्या-क्या घटित हो रहा है उसे देखो। कौन-सा पर्याय चल रहा है? कौन-सा पर्याय नष्ट हो रहा है? कौन-सा पर्याय उत्पन्न हो रहा है? क्या-क्या जैविक और रासायनिक परिवर्तन हो रहा है? हृदय का संचालन कैसे हो रहा है? शरीर के रसायन और वैद्युत्-प्रवाह किस प्रकार के हो रहे हैं? इन सारी घटनाओं को शरीर में देखना। जो इन सारी घटनाओं को देखता है वह वर्तमान को देखता है और जो वर्तमान को देखता है वह कभी बूढ़ा नहीं होता। प्रेक्षा-ध्यान का अर्थ है—वर्तमान में जीना, वर्तमान को देखना। न अतीत में जीना और न भविष्य में जीना, केवल वर्तमान में जीना। जो वर्तमान में जीता है, जिसने वर्तमान को पकड़ रखा है वह कभी बूढ़ा नहीं होता। सबसे कठिन है वर्तमान को पकड़ पाना। जिसने वर्तमान को पकड़ लिया, उसने सचमुच महान् सत्य को पा लिया।

साइप्रस में काल देवता की एक मूर्त्ति बनी। वह बहुत ही महत्वपूर्ण है। उस मूर्त्ति के सिर के अगले भाग में सघन केश दिखाए गए हैं और पीछे के भाग में वह मुंड है, एक भी केश नहीं है। वह मूर्त्ति काल—समय का वास्तविक ज्ञान कराती है। समय सामने से आता है। वर्तमान आता है। जिसने उसको आगे से पकड़ लिया वह जीत गया। पीछे से उसे पकड़ा नहीं जा सकता। अतीत व्यर्थ है। उसे नहीं

पकड़ा जा सकता।

वर्तमान ही यथार्थ है। अतीत बीत चुका। वह अयथार्थ हो गया। भविष्य प्राप्त नहीं है। वह भी अयथार्थ है। वर्तमान को पकड़ना, समझना ही सत्य को पकड़ना है, समझना है।

पटुता का तारतम्य

प्रेक्षा-ध्यान वर्तमान में जीना सिखाता है। वर्तमान में शरीर में जो कुछ घटित होता है, जो चंचलता हो रही है या जिन कारणों से चंचलता हो रही है उनको देखना ही प्रेक्षा-ध्यान है। शरीर की संरचना बहुत ही जटिल और सूक्ष्म है। एक-एक सेल की संरचना भी बहुत सूक्ष्म है। दस दिन के अभ्यास मात्र से शरीर को पूरा नहीं समझा जा सकता। लम्बे अभ्यास से ही हम उससे कुछ परिचित हो सकते हैं। साधकों में देखने-पकड़ने की तरतमता होती है। एक प्रश्न कई बार सामने आता है कि शिविरों में वे लोग भी आते हैं जो पहली बार प्रेक्षा का अभ्यास करने के इच्छुक हैं और वे लोग भी आते हैं जिन्होंने लम्बे समय तक प्रेक्षा का अभ्यास कर लिया है। दोनों में संगति कैसे हो सकती है? यह कोई जटिल समस्या नहीं है। जो व्यक्ति मतिज्ञान और श्रुतज्ञान की सूक्ष्मताओं को जानता है वह ऐसे प्रश्नों में नहीं उलझता। वह जानता है कि एक व्यक्ति के ज्ञान में और दूसरे व्यक्ति के ज्ञान में अनन्त गुना तारतम्य होता है। सबका पाटव या कौशल एक समान नहीं होता। वह व्यक्ति-व्यक्ति में विसदृश होता है। आज जो एक व्यक्ति प्रेक्षा का अभ्यास प्रारंभ करता है वह बहुत स्थूल पर्यायों को ही पकड़ पाता है। जिस व्यक्ति ने बहुत बार अभ्यास कर लिया वह आगे से आगे इतनी सूक्ष्मताओं को पकड़ लेता है, उसमें इतनी पटुता आ जाती है कि उसकी तुलना नहीं की जा सकती। एक कहानी है। कहानी ही नहीं, एक मार्मिक बात है जो व्यक्ति की पटुता का तारतम्य स्पष्ट करती है।

एक विदेशी राजा ने भारत पर आक्रमण करना चाहा। उसने सोचा कि आक्रमण करने से पूर्व यह जान लेना चाहिए कि उस राजा के पास कोई बुद्धिमान व्यक्ति है या नहीं? कोई अनुभवी या वृद्ध व्यक्ति है या नहीं?

बूढ़े व्यक्ति का बहुत महत्त्व होता है। यह मत मानिए कि बूढ़े का कोई महत्त्व नहीं है। बहुत महत्त्व है बूढ़े व्यक्ति का। हमारे यहां एक उक्ति है—'साठी बुद्ध नाठी—साठ वर्ष का हुआ और बुद्धि नष्ट हो गई।' यह धारणा भी आज भ्रान्ति सिद्ध हो गई है। पश्चिमी जर्मनी के दो मनोवैज्ञानिकों ने आ... व्यक्तियों पर परीक्षण कर यह निष्कर्ष निकाला कि साठ वर्ष के बाद ही व्यक्ति का वास्तविक जीवन शुरू होता है। बौद्धिक क्षमता का पूरा विकास उसी समय में होता है। साठ वर्ष के बाद ही स्वास्थ्य का पूरा विकास होता है। ...

शक्ति भी उसी समय विकसित होती है। साठ वर्ष के पहले मनुष्य का अनुभव इतना परिपक्व नहीं होता। साठ वर्ष के बाद ही उसमें परिपक्वता आती है। उनकी इस घोषणा ने 'साठी बुद्ध नाठी' को सर्वथा भ्रान्त सिद्ध कर डाला। बूढ़ा आदमी सर्वथा व्यर्थ नहीं होता। अनुभव और बौद्धिक परिपक्वता की दृष्टि से बूढ़े व्यक्ति का बड़ा मूल्य है। जहां भी अनुभव के आधार पर निर्णय लेने का प्रश्न आता है वहां बूढ़ा आदमी खोजा जाता है। न केवल मनुष्यों में किन्तु पशु-पक्षियों में भी बूढ़े का महत्त्व रहा है। बूढ़े वानर और हंस की कथाएं प्रचलित हैं। इसी प्रकार बूढ़े आदमियों के अनुभवपरक घटनाक्रम भी प्रचलित हैं।

उस विदेशी राजा ने सुरमे की एक डिबिया देकर एक दूत भेजा। उस डिबिया में दो आंखों में आंजा जाए इतना सा सुरमा था। वह सुरमा अंधे को आंख देने में समर्थ था। दूत आया। राजा ने दूत का स्वागत किया। दूत ने कहा—'इस डिबिया में दो आंखों में आंजे इतना-सा सुरमा है। हमें इसकी अधिक आवश्यकता है। आपके पास हो तो हमें दें। या इस सुरमे के आधार पर कोई व्यक्ति ऐसा ही सुरमा बना सके तो हम उस आदमी को अपने साथ ले जाना चाहेंगे।' राजा ने सुना। मंत्रियों से सलाह ली। किन्तु ऐसा सुरमा कौन बना सके? किसी की बुद्धि में समाधान नहीं आया। राजा ने सोचा—मेरा एक बूढ़ा मंत्री था, जो अभी सेवा-निवृत्त हुआ है, उसे बुलाकर पूछा जाए। राजा ने उसे बुला भेजा। वह अंधा हो गया था। वह आया। राजा ने सारी बात कही। अन्त में कहा—'इस सुरमे से तुम अपनी आंखें खोल लो। आंखों से दीखने पर जीवन सुखद रूप से कट जाएगा।' मंत्री अनुभवी था। उसने डिबिया ली। एक आंख में सुरमा आंजा। कुछ ही क्षणों बाद उसकी एक आंख प्रकाशित हो गई। उसको दीखने लगा। जो शेष सुरमा बचा था, उसने अपनी दूसरी आंख में नहीं आंजा, किन्तु जीभ पर रख लिया। स्वाद से उसने सुरमे के सारे द्रव्यों का विश्लेषण कर लिया। घर जाकर वैसा ही सुरमा बनाया। परीक्षण के लिए अपनी दूसरी आंख में उसे आंजा। आंख खुल गई। वह सूझता हो गया। न वह अंधा रहा और न काना। उसने शेष सुरमा डिबिया में भरकर दूत से कहा—'जाओ, अपने सम्राट् से कहना कि उन्हें ऐसा सुरमा जितना चाहे उतना यहां से मंगा लें।' दूत गया। सम्राट् को सारा वृत्तान्त सुनाया। सम्राट् ने सोचा—जिस देश में ऐसे अनुभवी और वृद्ध रहते हैं, इतने बुद्धिमान मंत्री हैं, उस देश पर आक्रमण करना भयंकर भूल होगी। उसका इरादा बदल गया।

यह पटुता का तारतम्य होता है। एक ही दिन के अभ्यास से इतनी पटुता आ नहीं सकती। वह धीरे-धीरे विकसित होती है। जो व्यक्ति पटुता को उपलब्ध हो जाते हैं वे बिना किसी यंत्र के रासायनिक विश्लेषण कर सारे रासायनिक द्रव्यों को जान लेते हैं।

शरीर रसायनों का आकर

सुरमे में तो गिनती के द्रव्य हो सकते हैं। उनको सहजतया कुछ अभ्यास से जाना जा सकता है। किन्तु शरीर में अनगिन रसायन हैं। अनेक वैज्ञानिकों ने खोज के बाद बताया कि व्यक्ति जो सोचता है, चिन्तन करता है, उसके रसायन सारे शरीर में जमा हो जाते हैं। एक नख में पचास प्रकार के रसायन हैं। हमारे एक बाल में सैकड़ों प्रकार के रसायन हैं। सिर का एक बाल पूरे व्यक्तित्व की व्याख्या करने में पर्याप्त है। एक बाल के आधार पर व्यक्ति के अतीत को जाना जा सकता है, वर्तमान और भविष्य को जाना जा सकता है। उसके आधार पर मनुष्य के स्वभाव और चरित्र को जाना जा सकता है। एक शब्द में कहा जा सकता है कि एक बाल में वे सारे रसायन हैं जो व्यक्तित्व को अभिव्यक्ति देते हैं। सारा शरीर रसायनों से भरा पड़ा है। दस, बीस या पचास दिन की शरीर प्रेक्षा से उन सब रसायनों को नहीं जाना जा सकता। निरन्तर प्रेक्षा करने से ही उनसे परिचित हो सकते हैं। निरन्तर प्रेक्षा करते हुए हम यह सोचें कि सूक्ष्म पर्यायों को पकड़ने की क्षमता कितनी विकसित हो रही है? सूक्ष्म सत्य कितने हस्तगत हो रहे हैं? जो व्यक्ति जितना ज्यादा वर्तमान में जीता है वह उतना ही पटु होता जाता है, कुशल होता जाता है।

बूढ़ा वह होता है जो परिस्थितियों से प्रताड़ित होता है। युवा वह होता है जो तियों से प्रताड़ित नहीं होता।

प्रतिस्रोत : भीड़रहित मार्ग

प्रेक्षा-ध्यान एक यात्रा-पथ है। यह प्रतिस्रोत में चलने का मार्ग है। भगवान् महावीर ने साधना का एक महत्त्वपूर्ण सूत्र दिया—'पडिसोयमेव अप्पा दायव्वो होउकामेणं'—जो व्यक्ति कुछ होना चाहता है, उसे प्रतिस्रोतगामी बनना होगा। हमारे सामने दो मार्ग हैं। एक मार्ग है अनुस्रोत का और एक मार्ग है प्रतिस्रोत का। एक वह मार्ग है जिस पर सारी भीड़ चल रही है, सारी दुनिया चल रही है। एक वह मार्ग है जिस पर संसार से विमुख कुछेक व्यक्ति चल रहे हैं। वह भीड़-रहित मार्ग है। एक वे लोग हैं जो वर्तमान के स्रोत के साथ चल रहे हैं। दूसरे वे लोग हैं जो स्रोत के साथ नहीं चलते, स्रोत के प्रतिकूल चलते हैं। आज का स्रोत है—आनन्द से जीओ। सुख-सुविधाओं का अधिक से अधिक भोग करते हुए जीओ। पदार्थों को भोगो। जब पास में धन है तो उसको ऐश-आराम में खर्चो और उसका भोग करो। वे धन का यही उपयोग समझते हैं। आज का पिता चिन्तित है कि उसकी संतान सच्चरित्र कैसे रह सकती है? आज युवकों के सामने इतने प्रलोभन हैं, इतने लुभावने वातावरण हैं कि वे अपने चरित्र की सुरक्षा नहीं कर

सकते। जब चरित्र नष्ट हो जाता है तब व्यापारिक समस्याएं उभरती हैं, व्यावसायिक उलझनें आती हैं, पारिवारिक संगठन टूटने लगता है। सारे लोग इस चिन्ता से ग्रस्त हैं। किन्तु आज का युवक प्रतिस्रोत में चलना नहीं चाहता। उसके अपने तर्क हैं। वह सिगरेट पीता है इस तर्क के साथ कि जब पांच-सात मित्र पीते हैं तो मैं कैसे न पीऊं? वह मदिरा पीता है तो इस तर्क के साथ कि मेरे मित्रों की पूरी गोष्ठी मदिरापान करती है तो मेरे पीने में क्या दोष? वह सोसायटी के साथ चलता है। वह सोसायटी से अलग नहीं रहना चाहता। इसीलिए आज सारी वर्जनाएं समाप्त हो रही हैं। प्राचीन समाज की जितनी वर्जनाएं थीं, जितने निषेध थे, वे आज चल नहीं सकते। जो आचार-संहिता थी, वह आज व्यर्थ प्रमाणित हो रही है, क्योंकि आज का समाज बहुत संक्रमणशील हो गया है। दुनिया छोटी हो गयी है। आज कोई अवरोध नहीं रहा। प्राचीनकाल में भारतीय समाज में यह वर्जना थी कि कोई भी भारतीय समुद्र से पार न जाए। आज वे सारी वर्जनाएं समाप्त हो चुकी हैं। पहले अन्तर्जातीय विवाह नहीं होता था। आज यह सीमा भी समाप्त हो चुकी है। आज समाज में कोई निश्चित वर्जनाएं नहीं हैं। कोई कुछ करता है और कोई कुछ। इतना संक्रमण हो गया कि सारी सीमाएं विलीन हो गयीं। जितने बेरियर थे वे सारे टूट गए। ऐसे संक्रमणशील समाज में जीने वाला युवक कौन से आचार का पालन करे? किन वर्जनाओं को मान्यता दे? कठिन समस्या है। इस समस्या का हल यह है कि यदि उसमें प्रतिस्रोत में चलने की भावना जागे तो वह अनेक अनैतिकताओं से बच सकता है अन्यथा नहीं।

प्रेक्षा-ध्यान के द्वारा प्रतिस्रोतगामिता का भाव पैदा होता है। आदमी हमेशा आंख खोलकर देखता है। यदि वह आंख मूंदकर देखने का अभ्यास करे तो उसमें प्रतिस्रोत की वृत्ति पैदा होती है। जब आदमी बाहरी संगीत को छोड़कर भीतरी संगीत को, नाद को सुनने का प्रयास करता है तो उसमें प्रतिस्रोत की भावना जागृत होती है। आदमी दूसरों को देखने में रस लेता है। जहां कहीं जाएगा वह दूसरों को ही देखेगा। धर्म-स्थान में आने वाले भी दूसरों को अधिक देखते हैं। वे साधुओं के छिद्र देखने में बड़ा रस लेते हैं। धर्म-स्थान आत्म-निरीक्षण का स्थान होता है। वहां भी आदमी पर-निरीक्षण करता है। कैसी विडम्बना! निरन्तर दूसरों को देखने के कारण आदमी की दृष्टि ऐसी बन गयी कि वह अपने-आपको देखना ही भूल गया। यह है दिये तले अंधेरा। आदमी भूल ही गया कि उसे अपने आपको भी देखना चाहिए। प्रेक्षा-ध्यान अपने आपको देखने की प्रक्रिया है। यह प्रक्रिया प्रतिस्रोत की चेतना का निर्माण करती है जिससे यह फलित होता है कि दूसरों को देखना बंद करें और स्वयं को देखें। हम प्रति बार यह दोहराते हैं—'स्वयं स्वयं को देखें। अपने आपको देखने के लिए ही प्रेक्षा-ध्यान का अभ्यास करें।' ये सूत्र इसलिए बार-बार दोहराए जाते हैं कि हमारे भीतर प्रतिस्रोत

चेतना का निर्माण हो। इस चेतना के निर्माण से व्यक्ति युवा रह सकता है, अन्यथा नहीं।

परिस्थितिवाद : एक विपर्यय

आज एक नये दर्शन का उदय हुआ है। उसका नाम है—परिस्थितिव इसके आधार पर माना जाता है कि जो कुछ होता है सारा परिस्थितिजन्य होता है। व्यक्ति का उसमें कोई दोष नहीं है। इस प्रकार सारा दोष परिस्थि पर ही लाद दिया जाता है। व्यक्ति से पूछा—'तुमने लड़ाई क्यों की। अप्रामाणिकता का वर्ताव क्यों किया?' गालियां क्यों दी? वह सीधा-सा उ देगा—'मैं क्या करता? ऐसी परिस्थिति में इसके सिवाय कोई चारा ही नहीं। मेरे स्थान पर यदि तुम होते तो तुम भी ऐसा ही वर्ताव करते।' इस प्रकार अ आपको निर्दोष और पवित्र प्रमाणित करने के लिए आदमी ने परिस्थिति का ऐसा चोला पहन रखा है कि वह सारा दोष परिस्थिति पर मढ़कर निश्चिन्त जाता है। इस प्रकार मनुष्य परिस्थिति को मुख्य और अपने अस्तित्व को ग मानकर चल रहा है। वह अपने कर्तृत्व को गौण और परिस्थिति को मु मानता है। यह एक विपर्यय है। जहां यह विपर्यय काम करता है वहां समस्या का कभी अंत नहीं हो सकता। प्रेक्षा-ध्यान के द्वारा एक ऐसी चेतना का निर्म किया जाता है कि उसमें परिस्थिति द्वयं और व्यक्ति का कर्तृत्व प्रथम हो ज है। उससे गौण को गौण और मुख्य को मुख्य मानने की चेतना विकसित होती यह सच है कि व्यक्तित्व के निर्माण में परिस्थिति का भी योग है। पर वह है गौ मुख्य योग नहीं है।

अन्त में, हम प्रेक्षा-ध्यान के अभ्यास से प्रतिस्रोत की चेतना का निर्माण क प्रतिस्रोत की चेतना के द्वारा परिस्थितियों को समझने और झेलने में हम सक्ष हों और उन पर हम अपना स्वामित्व स्थापित करें।

युवा वह होता है जिसमें परिस्थिति को झेलने की क्षमता होती है, परिस्थि को ठुकराने की क्षमता होती है और अपने स्वामित्व को प्रतिष्ठापित करने क्षमता होती है। प्रेक्षा-ध्यान चिर यौवन का महत्त्वपूर्ण उपाय है। जो साध प्रेक्षा-ध्यान की अभ्यास-भूमिका में आते हैं, अपने आपको उसके प्रति समर्पित कि रहते हैं वे अनुभव कर सकते हैं कि उनका यौवन कितना स्थायी, कित चिरंजीवी और विशाल हो गया है और वे समाधि-मृत्यु के क्षण तक यही अनुभ करेंगे—'मैं बूढ़ा नहीं हूं। मैं युवा हूं, मैं युवा हूं, मैं युवा हूं।'

८. प्रेक्षा एक प्रयोग है ज्ञानी होने का

१. दो जगत्—अज्ञात जगत्, ज्ञात जगत्।
२. अज्ञात जगत् बड़ा है, ज्ञात जगत् छोटा।
३. ज्ञानी कौन? अज्ञानी कौन?
   - ज्ञानी वह जो अपने अज्ञान को जानता है, स्वीकार करता है।
   - अज्ञानी वह जो अपने अज्ञान को नहीं जानता, स्वीकार नहीं करता।
४. स्थूल सत्य ज्ञात—सूक्ष्म सत्य अज्ञात।
५. सूक्ष्म सत्यों का ज्ञान अन्तर्दृष्टि के जागने पर होता है।
६. अपने ज्ञान की सीमा को समझें।
७. इन्द्रिय ज्ञान की विकलता।
८. आत्मा से दूरी हमने पैदा की है मूर्च्छा के द्वारा।
९. ऋजुता शुद्धि की साधना है।

आठ

ज्ञानी बांटता है, बौद्धिक बटोरता है

एक सेठ महात्मा गांधी के पास आकर बोला—'गांधीजी ! आपके नाम टोपी चलती है। उसका नाम है 'गांधी टोपी'। हजारों-हजारों व्यक्ति उस टो को पहनते हैं, किन्तु आप नंगे सिर घूमते हैं, यह क्यों ?' गांधीजी बोले—'तुम्हा सिर पर पगड़ी है। एक पगड़ी से बीसों टोपियां बन सकती हैं। जब बीस आदमि की टोपियां तुम अकेले पहन कर फिरते हो तो फिर उन्नीस आदमियों को तो नं सिर ही रहना होगा।'

मैं देखता हूं, जब कुछ लोग बौद्धिकता की पगड़ी को पहन लेते हैं तब कु व्यक्तियों को अबौद्धिक होकर ही रहना पड़ता है। बुद्धि को बांटें। उसका सं न करें। बौद्धिकता की पगड़ी को इतनी लंबी न बनाएं जिससे कि बहुत लोगों क अबौद्धिक रहना पड़े। कोई ऐसा रास्ता चुनें जिससे सब भागीदार बन सकें। व रास्ता है ज्ञानी होने का। जो ज्ञानी होता है वह नहीं बटोरता। जो बौद्धिक होत है वह बटोरता है। ज्ञानी और बौद्धिक में बहुत बड़ा अन्तर है। बौद्धिक वह होत है जिसे अपने अज्ञान का पता नहीं होता, जो अपनी ज्ञान की सीमा को नहीं जानता ज्ञानी वह होता है जिसे अपने अज्ञान का पता होता है, अपने ज्ञान की सीमा क पता होता है। बौद्धिक अपने प्रति जागृत नहीं होता, अपने आप में स्थिर या एका नहीं होता। ज्ञानी अपने प्रति जागृत होता है, अपने आप में स्थिर और एका होता है। ज्ञानी और बौद्धिक में बहुत बड़ा अन्तर है। बहुत सारे लोग ऐसे होते जो अनेक शास्त्र पढ़ते हैं, पारायण करते हैं, किन्तु उन्हें अपने आपका पता नहं होता, अपने अज्ञान का पता नहीं होता। कुछ लोग आकर कहते हैं—'आत्मा हं नहीं है तो फिर धर्म क्यों ? ध्यान की साधना क्यों ? चेतना नाम की कोई वस् नहीं है। सारी की सारी भौतिक जगत् की लीला है। सब कुछ भौतिक हं भौतिक। ऐसी स्थिति में अध्यात्म और धर्म के नाम पर जगत् को प्रवंचना में क्यो डाला जाए ? जब चेतना दिखाई नहीं देती, आत्मा का स्वतंत्र अस्तित्व ज्ञात नहीं

होता तो फिर ये धर्म-कर्म क्यों ?' जब मैं यह सुनता हूं तब लगता है कि आदमी अपने अज्ञान को नहीं जानता, अपने अज्ञान और अपने ज्ञान की सीमा को स्वीकार नहीं करता। जिस व्यक्ति को अन्तर्दृष्टि उपलब्ध नहीं होती, वह अपने अज्ञान को नहीं जान सकता। अपने अज्ञान को वही व्यक्ति जान सकता है जिसे अन्तर्दृष्टि प्राप्त है। 'मैं नहीं जानता'—इसका अर्थ अस्तित्व का लोप नहीं है। यदि इसका अर्थ अस्तित्व का लोप हो तो सारी दुनिया ही नष्ट हो जाएगी।

अस्तित्व ज्ञान पर आधृत नहीं

सामने यह आकाश है। इसमें अनन्त-अनन्त परमाणु भरे पड़े हैं। सभी प्रकार के परमाणु हैं। विश्व में जितने तत्त्व हैं, उन सबके परमाणु आकाश में विद्यमान हैं। अंगुली हिल रही है उसके चारों ओर अनन्त परमाणु हैं। क्या हम उन्हें जानते हैं? देखते हैं? नहीं देख पाते। क्या इसकेआधार पर उनके अस्तित्व को ही नकार दें? ऐसा हो तो फिर दुनिया में कोई तत्त्व रह नहीं पाएगा। आज का विज्ञान इस दिशा में प्रयत्नशील है कि हजारों वर्ष पहले जो लोग बोले थे, उनके परमाणु जो आकाश-मंडल में आज भी विद्यमान हैं, उनको खोजना, उनके आधार पर उनकी मूल वाणी को खोज निकालना। इस आकाश-मंडल में चिन्तन के, भोजन के, प्राण के परमाणु विद्यमान हैं, और भी अनेक प्रकार के परमाणु हैं, तत्त्व हैं। किन्तु उन सबको हम नहीं जानते। पर हम यह नहीं कह सकते कि वे नहीं हैं, उनका अस्तित्व नहीं है। यदि हम ऐसा मान बैठें तो हमारी दुनिया बहुत छोटी हो जाएगी और दुनिया उस व्यक्ति की ही होगी, उतनी ही होगी जितना वह व्यक्ति जानता है। दुनिया अनेक भागों में बंट जाएगी। एक बच्चा कम जानता है तो उसकी दुनिया छोटी होगी। एक वयस्क आदमी अधिक जानता है तो उसकी दुनिया बड़ी होगी। दुनिया का अपना कोई अस्तित्व नहीं होगा। उसका सारा अस्तित्व हमारे ज्ञान पर आधृत हो जाएगा।

इन्द्रियों की शक्ति कितनी विकल ?

आत्मा एक सूक्ष्म सत्ता है। चैतन्य एक सूक्ष्म सत्ता है। हम सूक्ष्म को जानना चाहते हैं। पर हम अपने अज्ञान को देखें। अपने ज्ञान की सीमा को देखें। आंख में देखने की शक्ति है। पर उसके देखने की भी एक सीमा है। वह एक निश्चित आवृत्ति की तरंगों को ही देख पाती है। रूप तो बहुत हैं, पर आंख सबको नहीं देख पाती। अति निकटता या अति दूरी हो तो आंख नहीं देख सकती। आंख सामने बैठे हुए व्यक्ति को देख सकती है। यदि आंख में सुरमा आंजा हुआ हो तो वह नहीं देख पाती। आंख से पन्ना पढ़ा जा सकता है। पर यदि पन्ने को आंख से सटा दें तो वह नहीं पढ़ सकती। अति निकटता में आंख नहीं देख पाती। इसी प्रकार

अति दूर में भी आंख नहीं देख पाती। आंख एक निश्चित अवधि में ही देख सकती है, उससे परे नहीं देख सकती। इसी प्रकार आंख सूक्ष्म को नहीं देख सकती। इसीलिए सूक्ष्म-वीक्षण यंत्रों का आविष्कार हुआ। यदि आंख में सूक्ष्म को देखने की क्षमता होती तो वैज्ञानिकों को सूक्ष्म-वीक्षण यंत्रों के निर्माण की जरूरत ही नहीं होती। आंख व्यवहित को नहीं देख सकती। बीच में भींत आ गई, कोई व्यवधान आ गया, तो आंख देख नहीं पाती। मिश्रण कर देने पर आंख उन वस्तुओं का विवेक नहीं कर सकती। दूध में चीनी मिला दी। आंख चीनी को देख नहीं सकती। इस प्रकार हमारे इन्द्रिय-ज्ञान की अनेक सीमाएं हैं। यदि हम सीमा को नहीं जानते तो बहुत बड़े असत्यों का पालन करते चले जाते हैं। आज के युग में सूक्ष्म अस्तित्व को नकारना बहुत बड़ा दुःसाहस होगा। हम सत्य के प्रति बहुत विनम्र रहें। हम यह कहना सीखें—'मैं इतना ही जानता हूं। इससे आगे मैं नहीं जानता।' यह सत्य का स्वीकार है। कभी-कभी कम जानने वाले व्यक्ति जानने का बहुत बड़ा दावा कर लेते हैं और जो कुछ अपने ज्ञान की सीमा से परे है, उन सबका अस्तित्व अस्वीकार करने लग जाते हैं। ऐसे व्यक्ति कोरे बौद्धिक हो सकते हैं, ज्ञानी नहीं।

ज्ञानी वह, जो ध्यानी है

आचार्य भिक्षु सत्य के प्रति पूर्ण समर्पित थे। उन्होंने कहा—'कोई नया तत्त्व सामने आए और तुम्हारी बुद्धि में पैठ जाए, तुम उसको समझ लो तो उसे सहर्ष स्वीकार करो। यदि तुम्हारी समझ में न आए तो तुम बहुत विनम्रता के साथ कहो—आपने अच्छा कहा, किन्तु मेरी बुद्धि स्थूल है, मैं उसे पकड़ नहीं सका। मैं उसे समझने का प्रयत्न करूंगा और जब समझ में आ जाएगी तब मैं कहूंगा कि बात समझ में आ गई और जब तक समझ में नहीं आएगी तब तक कहूंगा कि अमुक व्यक्ति ने यह बात कही है, इसलिए मैं कहता हूं कि यह है, पर मैं नहीं जानता कि यह ऐसे ही है।' यह सत्य के प्रति विनम्र दृष्टिकोण है। यह विनम्र दृष्टिकोण तब ही आ सकता है जब व्यक्ति ज्ञानी होता है। बौद्धिक उद्दंड हो सकता है, ज्ञानी उद्दण्ड नहीं हो सकता। ज्ञानी वह होता है जो ध्यानी होता है। जो ध्यानी नहीं होता, वह ज्ञानी भी नहीं होता। ध्यानी होने का केवल यही अर्थ नहीं है कि व्यक्ति घंटा भर आंख मूंदकर बैठ जाए, कायोत्सर्ग करे या श्वास और शरीर की प्रेक्षा करे। ध्यानी होने का अर्थ होता है अपने आपके प्रति जाग जाना। जो व्यक्ति अपने आपके प्रति जाग जाता है, अपने अस्तित्व के प्रति सजग हो जाता है और अपने आपको सत्य की खोज में लगा देता है वह ध्यानी होता है, फिर चाहे वह चले, बैठा रहे, खाए, पीए। ध्यानी होने का अर्थ है—सतत अप्रमत्त रहना, सतत जागृत रहना, सतत भावक्रिया में संलग्न रहना। जिसकी मूर्च्छा टूट गई,

वह ध्यानी बन गया।

अस्तित्व-बोध : कब ? कैसे ?

हम आत्मा को इसीलिए नहीं जानते कि वह बहुत निकट है, बहुत सूक्ष्म है, व्यवहृत है। मूर्च्छा का व्यवधान है। मूर्च्छा की ऐसी अभेद्य दीवार खड़ी हो गई है कि हम आत्मा को नहीं देख पाते, नहीं जान पाते। आत्मा विशुद्ध नहीं रही। उसमें विजातीय तत्त्वों का सम्मिश्रण हो गया। हम इस मिश्रण के कारण उसे नहीं जान पाते।

जैसे-जैसे मूर्च्छा का व्यवधान टूटेगा, प्रमाद की शृंखला टूटेगी, जागृति बढ़ेगी, अपने आप आत्मा का बोध होगा, अस्तित्व का बोध होगा। जो व्यक्ति तर्क के द्वारा, बुद्धि के द्वारा और शाब्दिक प्रपंच के द्वारा अपने आपको जानने का प्रयत्न करता है वह वैसा ही व्यर्थ प्रयत्न है जैसा कि पानी को विलोकर मक्खन निकालना। किन्तु पानी से मक्खन निकालना भी कभी संभव हो सकता है। क्या कभी किसी ने दो शताब्दी पूर्व मिट्टी से चीनी निकालने की कल्पना की थी ? आज तारकोल में से चीनी निकाली जाती है। यौगलिक युग में मिट्टी आज के युग की चीनी से अनन्तगुना मीठी थी। जैसे-जैसे काल बदला, स्वभाव बदला, स्निग्धता कम हुई, रूक्षता बढ़ी और मिट्टी में भी परिवर्तन आ गया। उसकी मिठास कम होती गई। फिर भी मिट्टी से मिठास निकाला जा सकता है। प्रत्येक द्रव्य से प्रत्येक पर्याय का उद्भव किया जा सकता है। ये सारे व्यर्थ प्रयत्न न हों, किन्तु तर्क, बुद्धि और शब्दों के मायाजाल के द्वारा अपने आपको जाना जा सके, यह कभी संभव नहीं लगता।

महावीर न पंडित थे, न विद्वान्

इन्द्रभूति गौतम पारगामी विद्वान्, शास्त्रों के मर्मज्ञ और ज्ञाता थे। वे भगवान् महावीर के पास आए। उनके मन में एक जिज्ञासा थी। वे उसे कहीं प्रकट करना नहीं चाहते थे। उन्होंने इसे अहं का प्रश्न बना लिया था। वे कभी यह जताना नहीं चाहते थे कि उनके मन में एक संशय है। वे भगवान् महावीर के पास आए। आते ही महावीर ने कहा—'इन्द्रभूति ! आ गए ! तुम्हारे मन में एक संशय है कि आत्मा का अस्तित्व है या नहीं ?' यह सुनते ही इन्द्रभूति स्तब्ध रह गए। उन्होंने सोचा—यह क्या ! मैंने आज तक अपना संशय किसी के समक्ष प्रकट नहीं किया, पर महावीर ने कैसे जान लिया ? हजारों लोग संशय-निवारण के लिए मेरे पास आते हैं और यदि यह ज्ञात हो जाए कि मेरे मन में भी संशय है तो फिर मैं रहा ही क्या ? मेरी अस्तित्व और मेरा विद्वत्ता ही क्या ? पता नहीं महावीर ने क्या किया। उन्होंने मेरी चेतना की गहराई में रहे हुए संशय का पर्दाफाश कर डाला। उस संशय पर मैंने अनेक आवरण डाल रखे थे, पर

महावीर ने उन आवरणों को अनावृत कर डाला। इन्द्रभूति का अहं इतना प्रबल हो उठा था कि वे आए थे महावीर को परास्त करने। उन्होंने सोचा—मेरे रहते दूसरा पंडित क्यों रहे? सही बात है। यदि महावीर पंडित होते तो अवश्य ही परास्त हो जाते। पर महावीर न पंडित थे और न विद्वान्। विद्वान् वह होता है जो शास्त्रों को पढ़ता है। पंडित वह होता है जो पुस्तकों को पढ़ता है। महावीर ने एक भी पुस्तक न पढ़ी हो, यह संभव है। उन्होंने एक भी ग्रंथ का अध्ययन नहीं किया था, यह सच है। इसलिए न वे पंडित थे और न विद्वान्। वे तो मात्र ज्ञानी थे। उन्हें अन्तर्दृष्टि प्राप्त थी। उन्हें कैवल्य उपलब्ध था। उन्हें आत्मा प्राप्त थी। वे तर्कजाल से मुक्त और बुद्धि की माया से शून्य थे। इन्द्रभूति तर्क और बौद्धिकता में प्रखर थे। उनके सामने महावीर कभी नहीं टिक पाते, किन्तु महावीर ज्ञानी थे।

पंडित ज्ञानी को नहीं हरा सकता

पंडित ज्ञानी को परास्त नहीं कर सकता। इतिहास साक्षी है कि पंडित सदा ज्ञानी के पास जाते रहे हैं और परास्त होते रहे हैं। उपाध्याय यशोविजयजी बहुत गंभीर विद्वान् थे। उनको लघु हरिभद्र कहा जाता था। पंडित सुखलाल जी कहते थे कि हरिभद्र के पश्चात् ऐसा विद्वान् एक भी नहीं हुआ। उस समय आनन्दघनजी थे। वे ज्ञानी और साधक थे। उपाध्याय यशोविजयजी आनन्दघनजी के पास आए। उनको देखते ही वे श्रद्धा से झुक गए। उनका मस्तक ज्ञानी के चरणों में नत हो गया। आज तक के समूचे संत-साहित्य और अध्यात्म-चेतना के इतिहास में यह घटना कभी नहीं घटी कि किसी पंडित ने संत को परास्त किया हो, किसी विद्वान् ने ज्ञानी को हराया हो। फिर चाहे कबीर हो, सूरदास हो, आनन्दघन हो, आचार्य भिक्षु हो या और कोई हो। पंडित ज्ञानी को परास्त नहीं कर सकता। एक बार की घटना है। आचार्य तुलसी भिवानी में थे। एक व्यक्ति आया। उसने कहा—'आचार्य जी! मैं चर्चा करना चाहता हूं, शास्त्रार्थ करना चाहता हूं।' आचार्यश्री ने कहा—'शास्त्रार्थ की बातें बीते युग की बातें बन गयी हैं। आज उनका कोई प्रयोजन नहीं रहा है। वह एक जमाना था। उसमें मल्ल-कुश्तियां होती थीं। अखाड़े होते थे। आज वह जमाना नहीं है। आखिर तुम मेरे साथ शास्त्रार्थ करना क्यों चाहते हो?' उसने कहा—'आपको परास्त करना चाहता हूं।' आचार्यश्री ने मुस्कराकर कहा—'अरे भाई! मुझे परास्त कर तुम क्या करोगे? मैं तो एक चींटी से भी परास्त हूं। एक चींटी भी सामने आती है तो रास्ता बदल देता हूं। वह भी मुझे परास्त कर देती है। तुम परास्त कर क्या करोगे? यदि तुम्हारी प्रबल इच्छा है कि तुम मुझे परास्त करो, तो शास्त्रार्थ करने का यह समारंभ क्यों? तुम्हारा भी समय लगेगा और मेरा भी समय लगेगा। तुमको भी बोलना

महावीर ने उन आवरणों को अनावृत कर डाला। इन्द्रभूति का अहं इतना प्रबल हो उठा था कि वे आए थे महावीर को परास्त करने। उन्होंने सोचा—मेरे रहते दूसरा पंडित क्यों रहे? सही बात है। यदि महावीर पंडित होते तो अवश्य ही परास्त हो जाते। पर महावीर न पंडित थे और न विद्वान्। विद्वान् वह होता है जो शास्त्रों को पढ़ता है। पंडित वह होता है जो पुस्तकों को पढ़ता है। महावीर ने एक भी पुस्तक न पढ़ी हो, यह संभव है। उन्होंने एक भी ग्रंथ का अध्ययन नहीं किया था, यह सच है। इसलिए न वे पंडित थे और न विद्वान्। वे तो मात्र ज्ञानी थे। उन्हें अन्तर्दृष्टि प्राप्त थी। उन्हें कैवल्य उपलब्ध था। उन्हें आत्मा प्राप्त थी। वे तर्कजाल से मुक्त और बुद्धि की माया से शून्य थे। इन्द्रभूति तर्क और बौद्धिकता में प्रखर थे। उनके सामने महावीर कभी नहीं टिक पाते, किन्तु महावीर ज्ञानी थे।

पंडित ज्ञानी को नहीं हरा सकता

पंडित ज्ञानी को परास्त नहीं कर सकता। इतिहास साक्षी है कि पंडित सदा ज्ञानी के पास जाते रहे हैं और परास्त होते रहे हैं। उपाध्याय यशोविजयजी बहुत गंभीर विद्वान् थे। उनको लघु हरिभद्र कहा जाता था। पंडित सुखलाल जी कहते थे कि हरिभद्र के पश्चात् ऐसा विद्वान् एक भी नहीं हुआ। उस समय आनन्दघनजी थे। वे ज्ञानी और साधक थे। उपाध्याय यशोविजयजी आनन्दघनजी के पास आए। उनको देखते ही वे श्रद्धा से झुक गए। उनका मस्तक ज्ञानी के चरणों में नत हो गया। आज तक के समूचे संत-साहित्य और अध्यात्म-चेतना के इतिहास में यह घटना कभी नहीं घटी कि किसी पंडित ने संत को परास्त किया हो, किसी विद्वान् ने ज्ञानी को हराया हो। फिर चाहे कबीर हो, सूरदास हो, आनन्दघन हो, आचार्य भिक्षु हो या और कोई हो। पंडित ज्ञानी को परास्त नहीं कर सकता। एक बार की घटना है। आचार्य तुलसी भिवानी में थे। एक व्यक्ति आया। उसने कहा—'आचार्य जी! मैं चर्चा करना चाहता हूं, शास्त्रार्थ करना चाहता हूं।' आचार्यश्री ने कहा—'शास्त्रार्थ की बातें बीते युग की बातें बन गयी हैं। आज उनका कोई प्रयोजन नहीं रहा है। वह एक जमाना था। उसमें मल्ल-कुश्तियां होती थीं। अखाड़े होते थे। आज वह जमाना नहीं है। आखिर तुम मेरे साथ शास्त्रार्थ करना क्यों चाहते हो?' उसने कहा—'आपको परास्त करना चाहता हूं।' आचार्यश्री ने मुस्कराकर कहा—'अरे भाई! मुझे परास्त कर तुम क्या करोगे? मैं तो एक चींटी से भी परास्त हूं। एक चींटी भी सामने आती है तो रास्ता बदल देता हूं। वह भी मुझे परास्त कर देती है। तुम परास्त कर क्या करोगे? यदि तुम्हारी प्रबल इच्छा है कि तुम मुझे परास्त करो, तो शास्त्रार्थ करने का यह समारंभ क्यों? तुम्हारा भी समय लगेगा और मेरा भी समय लगेगा। तुमको भी बोलना

मनुष्य को अन्तर्दृष्टि उपलब्ध हैं। उसके पीछे एक महान् स्रोत है। जव यह स्रोत खुलता है तव विकास प्रारम्भ होता है। हमारे शरीर में ऊपर, नीचे और बीच में स्रोत हैं। जव ये स्रोत खुलते हैं तव सारी स्थितियां वनती हैं। हम इन स्रोतों को उद्घाटित करने का प्रयत्न करें, अपनी अन्तर्दृष्टि जगाएं, आन्तरिक चेतना की शक्ति को विकसित करें। मनोविज्ञान ने अचेतन मन की खोज कर एक नयी क्रांति का सूत्रपात किया। यदि मनोविज्ञान केवल स्थूल मस्तिष्क, जागृत मस्तिष्क तक ही उलझा रहता तो मनोविज्ञान के क्षेत्र में इतनी क्रान्ति नहीं होती। उसने मन के तीन स्तरों की खोज की—चेतन मन, अवचेतन मन और अचेतन मन। इससे सचमुच अज्ञात का द्वार खुल गया। ज्ञात और अज्ञात के बीच जो खाई थी, वह पट गयी। उसने ज्ञात जगत् से परे जाकर अज्ञात जगत् को समझने की चावी मनुष्य के हाथ में सौंप दी।

ज्ञात से वड़ा अज्ञात

हमारा ज्ञात जगत् बहुत छोटा है, किन्तु मनुष्य अपने अहंकार के कारण इसे बहुत बड़ा मानकर निर्णय लेता है। यही सवसे वड़ी भूल है। जो व्यक्ति ज्ञात जगत् को छोटा मानकर अज्ञात जगत् की संभावनाओं की ओर प्रस्थान कर देता है, वह सचमुच ज्ञानी होता है। जिसने ज्ञात जगत् को सव कुछ मानकर अज्ञात जगत् के द्वार वन्द कर दिए, वह सवसे वड़ा अज्ञानी होता है।

अज्ञान को जानना है ज्ञानी होना

यूनान में डेल्फी देवी का एक मन्दिर है। वह देवी घोषणाएं करती है। लोग प्रश्न पूछते हैं। वह उत्तर देती है। एक वार लोगों ने पूछा—'यूनान में सवसे बड़ा ज्ञानी कौन है?' देवी ने कहा—'सुकरात सवसे वड़ा ज्ञानी है।' लोग सुकरात के पास गए और वोले—'देवी ने कहा है कि आप यूनान के सवसे बड़े ज्ञानी हैं।' सुकरात वोले—'कहीं भूल हो गयी है। वापस जाओ। देवी से पूछो।' लोग दौड़े-दौड़े गए। देवी से पूछा—'वड़ा ज्ञानी कौन है?' देवी ने कहा—'मैंने पहले ही कह दिया है, सुकरात सवसे वड़ा ज्ञानी है।' लोग पुनः सुकरात के पास आए। सुकरात वोले—'कुछ वर्ष पहले आते तो मैं तुम्हारी वात मान लेता कि मैं सवसे वड़ा ज्ञानी हूं। किन्तु अव मुझे अपने अज्ञान का पता लग गया है, इसलिए मैं तुम्हारी वात स्वीकार नहीं कर सकता।' लोग असमंजस में पड़ गए। वे पुनः देवी के पास आए और वोले—'या तो आप झूठ कह रही हैं या सुकरात झूठ वोल रहे हैं। दोनों में से कोई एक झूठा है।' देवी ने कहा—'नहीं, मैं सच कह रही हूं क्योंकि जिस व्यक्ति को यह ज्ञात हो जाता है कि वह अज्ञानी है, वही वास्तव में वड़ा ज्ञानी होता है। सुकरात को अपने अज्ञान का पता है, इसलिए वही बड़ा ज्ञानी है।

यह एक महत्त्वपूर्ण बात है। हम यदि अपने अज्ञान को समझ लेते हैं तो ज्ञानी बन जाते हैं। व्यक्ति का अहंकार इतना बड़ा होता है कि वह अपने अज्ञान को प्रकट करना नहीं चाहता, उसे छिपाए रखना चाहता है। दशवैकालिक आगम में एक सुन्दर गाथा है—

तवतेणे वयतेणे, रूवतेणे य जे नरे।
आयारभावतेणे य, कुव्वइ देवकिव्विसं ॥

एक व्यक्ति साधुओं के स्थान पर गया। उसने देखा—एक दुबला-पतला साधु स्वाध्याय कर रहा है। उसने पूछा—'सुना है, आपके धर्म-संघ में एक महान् तपस्वी मुनि हैं। क्या वे आप ही हैं?' साधु का अहं जाग उठा। उसने कहा—'साधु तपस्वी ही होते हैं।' वास्तव मे वह साधु था बीमार, इसीलिए दुबला-पतला था। किन्तु वह यह कहना नहीं चाहता था कि वह बीमार है। आगन्तुक व्यक्ति ने उस साधु की तपस्वी के रूप में प्रशंसा की। प्रशंसा सुन साधु फूल उठा। यह तपस्या की चोरी है। वह साधु तपःचोर है। इसी प्रकार अवस्था, रूप और आचार—शील की भी चोरी होती है। यह सारा अहंकार के कारण होता है। आदमी अपने आपको किसी से न्यून दिखाना नहीं चाहता। अपनी दुर्बलताओं को स्वीकार करना नहीं चाहता। वह मरकर यदि देवयोनि में भी जाता है तो अधम जाति का देव किल्विषिक होता है। सामान्यतः आदमी अपनी कमजोरी को प्रगट करना नहीं चाहता। अपनी दुर्बलताओं को वही व्यक्ति प्रगट कर सकता है जो [illegible] होता है, जो अपने ज्ञान की सीमा को जानता है, अपने चरित्र की सीमा जानता है।

व्यक्ति साधना के पथ पर चलता है, बढ़ता है। कोई साधु बन जाता है और कोई गृहस्थ ही बना रहता है। साधु बनते ही यदि कोई सोच ले कि वह सिद्ध बन गया, अब उसमें कोई त्रुटि नहीं रही, कोई दोष नहीं रहा तो यह भूल होगी। साधना प्रारंभ करते ही कोई सिद्ध नहीं बन जाता। सिद्ध बनने में बहुत तपना पड़ता है, खपना पड़ता है।

प्रेक्षा : वृत्तियों के प्रति जागना

प्रेक्षा-ध्यान साधना का मार्ग है। कोई व्यक्ति प्रेक्षा-ध्यान की साधना प्रारंभ करते ही सोचता है कि मैं सिद्ध बन गया। अब यदि कोई यह जान लेगा कि मेरे में यह दुर्बलता है, यह कमजोरी है तो फिर मैं साधक ही कैसा! इस प्रकार सोचने वाले साधक का अहं उभर आता है और वह फिर दूसरों से मार्ग-दर्शन लेना भूल जाता है। उसमें जब वासना जागती है, क्रोध की उर्मियां उभरती हैं, हिंसा की भावना जागृत होती है, असत्य और चोरी की भावना जागती है तब वह इन सभी

दुर्बलताओं को छिपाकर अपने आपको एक विशुद्ध ध्यानी के रूप में प्रस्तुत करना पसन्द करता है और सिद्ध करता है कि उसमें ये कमजोरियां नहीं हैं। साधना का यह सबसे बड़ा विघ्न है। साधक को चाहिए कि वह अपना गुरु चुने और अपनी समस्त कमजोरियां गुरु के समक्ष प्रकट करता रहे।

समय-समय पर उभरने वाली वृत्तियों के उपशमन के लिए वह गुरु से मार्ग-दर्शन ले और अपना परिमार्जन करे। शिष्य की कमजोरियों को जानकर गुरु को कोई कष्ट नहीं होगा। गुरु जानते हैं कि साधनाकाल में ये वृत्तियां जागती हैं। हजारों-लाखों वर्षों के अर्जित संस्कार जागते हैं, यह आश्चर्य नहीं है। किन्तु जो उन उभरने वाली वृत्तियों की प्रेक्षा करता है, उन्हें देखता है, वह धीरे-धीरे उनसे छुटकारा पा लेता है। साधना का अर्थ सारी वृत्तियों और संस्कारों से एक साथ छूट जाना नहीं है, किन्तु उन संस्कारों और वृत्तियों के प्रति जाग जाना है, अपने भीतर में संचित सड़ांध को साफ करने के प्रति जाग जाना है। इसका नाम है ज्ञान, ध्यान या साधना। जब यह जागृत होती है तब जीवन में साधना उतरती है, व्यक्ति ज्ञानी बनने की ओर अग्रसर होता है। इस जागृति से ही साधना में निखार आता है।

ऋजुता : शुद्धि की साधना

भगवान् महावीर ने कहा—'सोही उज्जुयभूयस्स'—शुद्धि उसकी होती है जो ऋजु होता है, सरल होता है। क्राइस्ट की भाषा में—बच्चे जैसा। भारतीय परम्परा में विशुद्धि के लिए प्रायश्चित्त का कथन किया गया है। प्रायश्चित्त की पहली शर्त है कि व्यक्ति बच्चे जैसा सरल होकर अपने दोषों को गुरु के समक्ष रखे। यह है—आलोचना। बच्चों की तरह सरल होकर बिना कुछ छिपाए, गुरु को सब कुछ कह देना ही आलोचना है। फिर गुरु जाने। तुम्हें कोई चिन्ता नहीं। कुछ भी छिपाओगे तो शल्य रह जाएगा। शुद्धि नहीं होगी। जो अपने ज्ञान को छिपाता है, दुर्बलता और कमजोरी को छिपाता है, उसकी शुद्धि नहीं हो सकती। जिसकी शुद्धि नहीं हो सकती उस आत्मा में धर्म नहीं टिक सकता। ऋजु आत्मा शुद्ध होती है और शुद्ध आत्मा में ही धर्म टिकता है।

हम प्रेक्षा-ध्यान के द्वारा धर्म की आराधना करें, अन्तःकरण को शुद्ध करें और ऋजुता को उपलब्ध हों। जैसे-जैसे ऋजुता बढ़ेगी वैसे-वैसे छिपाने की वृत्ति कम होगी और तब हम अपनी कमजोरियों का तीव्रता से अनुभव करेंगे, उनको स्वीकार करने में नहीं हिचकेंगे। ऐसी स्थिति में ही प्रेक्षा-ध्यान का महत्त्व जीवन में अवतरित होगा और हम अज्ञान की भूमिका से हटकर ज्ञान की सीमा में प्रवेश पा सकेंगे।

दुर्बलताओं को छिपाकर अपने आपको एक विशुद्ध ध्यानी के रूप में प्रस्तुत करना पसन्द करता है और सिद्ध करता है कि उसमें ये कमजोरियां नहीं हैं। साधना का यह सबसे बड़ा विघ्न है। साधक को चाहिए कि वह अपना गुरु चुने और अपनी समस्त कमजोरियां गुरु के समक्ष प्रकट करता रहे।

समय-समय पर उभरने वाली वृत्तियों के उपशमन के लिए वह गुरु से मार्ग-दर्शन ले और अपना परिमार्जन करे। शिष्य की कमजोरियों को जानकर गुरु को कोई कष्ट नहीं होगा। गुरु जानते हैं कि साधनाकाल में ये वृत्तियां जागती हैं। हजारों-लाखों वर्षों के अर्जित संस्कार जागते हैं, यह आश्चर्य नहीं है। किन्तु जो उन उभरने वाली वृत्तियों की प्रेक्षा करता है, उन्हें देखता है, वह धीरे-धीरे उनसे छुटकारा पा लेता है। साधना का अर्थ सारी वृत्तियों और संस्कारों से एक साथ छूट जाना नहीं है, किन्तु उन संस्कारों और वृत्तियों के प्रति जाग जाना है, अपने भीतर में संचित सड़ांध को साफ करने के प्रति जाग जाना है। इसका नाम है ज्ञान, ध्यान या साधना। जब यह जागृत होती है तब जीवन में साधना उतरती है, व्यक्ति ज्ञानी बनने की ओर अग्रसर होता है। इस जागृति से ही साधना में निखार आता है।

ऋजुता : शुद्धि की साधना

भगवान् महावीर ने कहा—'सोही उज्जुयभूयस्स'—शुद्धि उसकी होती है जो ऋजु होता है, सरल होता है। क्राइस्ट की भाषा में—बच्चे जैसा। भारतीय परम्परा में विशुद्धि के लिए प्रायश्चित्त का कथन किया गया है। प्रायश्चित्त की पहली शर्त है कि व्यक्ति बच्चे जैसा सरल होकर अपने दोषों को गुरु के समक्ष रखे। यह है—आलोचना। बच्चों की तरह सरल होकर बिना कुछ छिपाए, गुरु को सब कुछ कह देना ही आलोचना है। फिर गुरु जाने। तुम्हें कोई चिन्ता नहीं। कुछ भी छिपाओगे तो शल्य रह जाएगा। शुद्धि नहीं होगी। जो अपने ज्ञान को छिपाता है, दुर्बलता और कमजोरी को छिपाता है, उसकी शुद्धि नहीं हो सकती। जिसकी शुद्धि नहीं हो सकती उस आत्मा में धर्म नहीं। [illegible]। ऋज [illegible] शुद्ध होती है और शुद्ध आत्मा में ही धर्म टिकता है।

हम प्रेक्षा-ध्यान के द्वारा धर्म की आराधना [illegible] ऋजुता को उपलब्ध हों। जैसे-जैसे ऋजुता ब[illegible] होगी और तब हम अपनी कमजोरियों का [illegible] करने में नहीं हिचकेंगे। ऐसी स्थिति में [illegible] अवतरित होगा और हम अज्ञान की [illegible] सकेंगे।

यह एक महत्त्वपूर्ण बात है। हम यदि अपने अज्ञान को समझ लेते हैं तो ज्ञानी बन जाते हैं। व्यक्ति का अहंकार इतना बड़ा होता है कि वह अपने अज्ञान को प्रकट करना नहीं चाहता, उसे छिपाए रखना चाहता है। दशवैकालिक आगम में एक सुन्दर गाथा है—

तवतेणे वयतेणे, रूवतेणे य जे नरे।
आयारभावतेणे य, कुव्वइ देवकिब्बिसं॥

एक व्यक्ति साधुओं के स्थान पर गया। उसने देखा—एक दुबला-पतला साधु स्वाध्याय कर रहा है। उसने पूछा—'सुना है, आपके धर्म-संघ में एक महान् तपस्वी मुनि हैं। क्या वे आप ही हैं?' साधु का अहं जाग उठा। उसने कहा—'साधु तपस्वी ही होते हैं।' वास्तव में वह साधु था बीमार, इसीलिए दुबला-पतला था। किन्तु वह यह कहना नहीं चाहता था कि वह बीमार है। आगन्तुक व्यक्ति ने उस साधु की तपस्वी के रूप में प्रशंसा की। प्रशंसा सुन साधु फूल उठा। यह तपस्या की चोरी है। वह साधु तपःचोर है। इसी प्रकार अवस्था, रूप और आचार—शील की भी चोरी होती है। यह सारा अहंकार के कारण होता है। आदमी अपने आपको किसी से न्यून दिखाना नहीं चाहता। अपनी दुर्बलताओं को स्वीकार करना नहीं चाहता। वह मरकर यदि देवयोनि में भी जाता है तो अधम जाति का देव किल्विषिक होता है। सामान्यतः आदमी अपनी कमजोरी को प्रगट नहीं चाहता। अपनी दुर्बलताओं को वही व्यक्ति प्रगट कर सकता है जो होता है, जो अपने ज्ञान की सीमा को जानता है, अपने चरित्र की सीमा को जानता है।

व्यक्ति साधना के पथ पर चलता है, बढ़ता है। कोई साधु बन जाता है और कोई गृहस्थ ही बना रहता है। साधु बनते ही यदि कोई सोच ले कि वह सिद्ध बन गया, अब उसमें कोई त्रुटि नहीं रही, कोई दोष नहीं रहा तो यह भूल होगी। साधना प्रारंभ करते ही कोई सिद्ध नहीं बन जाता। सिद्ध बनने में बहुत तपना पड़ता है, खपना पड़ता है।

प्रेक्षा : वृत्तियों के प्रति जागना

प्रेक्षा-ध्यान साधना का मार्ग है। कोई व्यक्ति प्रेक्षा-ध्यान की साधना प्रारंभ करते ही सोचता है कि मैं सिद्ध बन गया। अब यदि कोई यह जान लेगा कि मेरे में यह दुर्बलता है, यह कमजोरी है तो फिर मैं साधक ही कैसा! इस प्रकार सोचने वाले साधक का अहं उभर आता है और वह फिर दूसरों से मार्ग-दर्शन लेना भूल जाता है। उसमें जब वासना जागती है, क्रोध की उर्मियां उभरती हैं, हिंसा की भावना जागृत होती है, असत्य और चोरी की भावना जागती है तब वह इन सभी

दुर्बलताओं को छिपाकर अपने आपको एक विशुद्ध ध्यानी के रूप में प्रस्तुत करना पसन्द करता है और सिद्ध करता है कि उसमें ये कमजोरियां नहीं हैं। साधना का यह सबसे बड़ा विघ्न है। साधक को चाहिए कि वह अपना गुरु चुने और अपनी समस्त कमजोरियां गुरु के समक्ष प्रकट करता रहे।

समय-समय पर उभरने वाली वृत्तियों के उपशमन के लिए वह गुरु से मार्ग-दर्शन ले और अपना परिमार्जन करे। शिष्य की कमजोरियों को जानकर गुरु को कोई कष्ट नहीं होगा। गुरु जानते हैं कि साधनाकाल में ये वृत्तियां जागती हैं। हजारों-लाखों वर्षों के अर्जित संस्कार जागते हैं, यह आश्चर्य नहीं है। किन्तु जो उन उभरने वाली वृत्तियों की प्रेक्षा करता है, उन्हें देखता है, वह धीरे-धीरे उनसे छुटकारा पा लेता है। साधना का अर्थ सारी वृत्तियों और संस्कारों से एक साथ छूट जाना नहीं है, किन्तु उन संस्कारों और वृत्तियों के प्रति जाग जाना है, अपने भीतर में संचित सड़ांध को साफ करने के प्रति जाग जाना है। इसका नाम है ज्ञान, ध्यान या साधना। जब यह जागृत होती है तब जीवन में साधना उतरती है, व्यक्ति ज्ञानी बनने की ओर अग्रसर होता है। इस जागृति से ही साधना में निखार आता है।

ऋजुता : शुद्धि की साधना

भगवान् महावीर ने कहा—**'सोही उज्जुयभूयस्स'**—शुद्धि उसकी होती है जो ऋजु होता है, सरल होता है। क्राइस्ट की भाषा में—बच्चे जैसा। भारतीय परम्परा में विशुद्धि के लिए प्रायश्चित्त का कथन किया गया है। प्रायश्चित्त की पहली शर्त है कि व्यक्ति बच्चे जैसा सरल होकर अपने दोषों को गुरु के समक्ष रखे। यह है—आलोचना। बच्चों की तरह सरल होकर बिना कुछ छिपाए, गुरु को सब कुछ कह देना ही आलोचना है। फिर गुरु जाने। तुम्हें कोई चिन्ता नहीं। कुछ भी छिपाओगे तो शल्य रह जाएगा। शुद्धि नहीं होगी। जो अपने ज्ञान को छिपाता है, दुर्बलता और कमजोरी को छिपाता है, उसकी शुद्धि नहीं हो सकती। जिसकी शुद्धि नहीं हो सकती उस आत्मा में धर्म नहीं टिक सकता। ऋजु आत्मा शुद्ध होती है और शुद्ध आत्मा में ही धर्म टिकता है।

हम प्रेक्षा-ध्यान के द्वारा धर्म की आराधना करें, अन्तःकरण को शुद्ध करें और ऋजुता को उपलब्ध हों। जैसे-जैसे ऋजुता बढ़ेगी वैसे-वैसे छिपाने की वृत्ति कम होगी और तब हम अपनी कमजोरियों का तीव्रता से अनुभव करेंगे, उनको स्वीकार करने में नहीं हिचकेंगे। ऐसी स्थिति में ही प्रेक्षा-ध्यान का महत्त्व जीवन में अवतरित होगा और हम अज्ञान की भूमिका से हटकर ज्ञान की सीमा में प्रवेश पा सकेंगे।

९. प्रेक्षा एक चिकित्सा है मनोरोग की

१. स्वास्थ्य का मूल आधार—रक्तशुद्धि ।

२. रक्तशुद्धि हृदय और गुर्दे करते हैं ।

३. विष निकालने के माध्यम—
आंतें, मूत्राशय, स्वेदग्रन्थियां, रोमकूप, निःश्वास ।

४. स्वास्थ्य का उपाय दवा नहीं, स्वास्थ्य का उपाय है—स्वास्थ्यकारी भोजन ।

५. सबसे बड़ी बीमारी—सत्य को झुठलाने की मनोवृत्ति ।

६. एकाग्रता—प्रतिरोधकशक्ति ।
- अनुप्रेक्षा—सफाई ।
- शरीर-प्रेक्षा—विष-विसर्जक ।

७. चिकित्सा रोग की नहीं, रोगी की ।

८. सचाई का अवबोध : तनाव-विसर्जन का कारण ।

नौ

बड़ी बीमारी क्या ?

प्रेक्षा-ध्यान के लिए उपस्थित साधक एक प्रकार की चिकित्सा का प्रयोग कर रहे हैं। सब अपनी-अपनी चिकित्सा कर रहे हैं। कोई डॉक्टर नहीं है। अपनी चिकित्सा अपने आप जितनी अच्छी होती है दूसरे के द्वारा की जाने वाली चिकित्सा इतनी अच्छी नहीं होती। एक व्यक्ति और दूसरे व्यक्ति के बीच में बहुत बड़ा व्यवधान होता है। जहां व्यवधान होता है, वहां दूसरों को नहीं समझा जा सकता। हमारा अपना भी व्यवधान है, पर औरों से बहुत कम। बहुत कम दूरी है। दूसरे की दूरी बहुत बढ़ जाती है। अध्यात्म और मानस के क्षेत्र में स्वयं की चिकित्सा स्वयं के द्वारा ही की जा सकती है, किसी दूसरे के द्वारा नहीं। व्यक्ति स्वयं ही अपनी चिकित्सा कर सकता है और स्वयं ही स्वास्थ्य को उपलब्ध हो सकता है।

चिकित्सा से पूर्व बीमारी को जानना जरूरी होता है। बीमारी क्या है? दुनिया में सदा एक प्रश्न उभरता रहा है—सबसे बड़े का। हम किसी भी क्षेत्र में जाएं, पहला प्रश्न होगा—सबसे बड़ा कौन है? साहित्य में ऐसे सैकड़ों प्रश्न पूछे जाते रहे हैं—सबसे बड़ा रस क्या है? सबसे मीठा क्या है? सबसे बड़ा पाप क्या है? सबसे बड़ा धर्म क्या है? सबसे बड़ा गुण क्या है? सबसे बड़ा दोष क्या है? यह सनातन प्रश्न रहा है—सबसे बड़ा कौन? इसी संदर्भ में हम समझें कि सबसे बड़ी बीमारी क्या है? छोटी-छोटी बीमारियों की चिकित्सा करते रहेंगे तो एक बीमारी शान्त होगी और दूसरी उभर आएगी। एक की चिकित्सा करेंगे तो दूसरी सताने लग जाएगी। दूसरी की चिकित्सा करेंगे तो तीसरी सताने लग जाएगी। इसका कहीं अन्त नहीं होगा। कब तक करते रहेंगे? इसका समाधान यह है कि हम उस बीमारी की चिकित्सा करें जिस बीमारी के समाप्त होने पर सब बीमारियां अपने आप समाप्त हो जाएं। एक कहावत है—चोर को मारने की अपेक्षा चोर की मां को ही मार डालना श्रेयस्कर है। क्योंकि चोर की मां के समाप्त होने पर चोर स्वयं समाप्त हो जाते हैं। हम बड़ी बीमारी की चिकित्सा

करें जिससे कि छोटी बीमारियां अपने आप शांत हो जाएं। प्रश्न एक ही रहता है—बड़ी बीमारी है क्या ? उस बीमारी की खोज हमें स्वयं करनी है। सबसे बड़ी बीमारी है—सचाई को झुठलाने की मनोवृत्ति। मनुष्य सत्य को झुठलाने और नकारने का प्रयत्न करता है। वह सत्य को सीधा स्वीकार नहीं करता। यह बीमारी अन्यान्य बीमारियों को जन्म देती है। आज के मानसिक चिकित्सक से पूछा जाए कि सबसे बड़ी बीमारी क्या है तो वह कहेगा—मानसिक तनाव सबसे बड़ी बीमारी है। मैं इस भाषा में नहीं सोचता। मानसिक तनाव बड़ी बीमारी नहीं है। यह स्वयं बीमारी नहीं है, बीमारी का वंश है। बीमारी है सत्य को झुठलाने की मनोवृत्ति। जब हम सत्य को झुठलाते हैं तब मानसिक तनाव पैदा हो जाता है। जब-जब मनुष्य ने सत्य को झुठलाया है तब-तब उसने मनो-व्यथाओं को भोगा है, मानसिक यातनाओं और पीड़ाओं को भोगा है। सत्य को झुठलाने की मनोवृत्ति बनती है निरपेक्षता के द्वारा। हमारा स्वभाव ही ऐसा एकांगी बन गया कि हम एक बात को पकड़कर चलते हैं, सर्वांगीण सत्ता को देखना नहीं चाहते। हम निरपेक्षता की पगडंडी पर चलना पसन्द करते हैं, किन्तु सापेक्षता के राजपथ पर चलना पसन्द नहीं करते।

तीन अनुप्रेक्षाएं

हम तीन अनुप्रेक्षाओं का प्रयोग करते हैं। वे तीन अनुप्रेक्षाएं हैं—अनित्य अनुप्रेक्षा, अन्यत्व अनुप्रेक्षा और एकत्व अनुप्रेक्षा।

सारे संयोग अनित्य हैं। संयोग मेरे से भिन्न हैं। जब सारे संयोग छूट जाते हैं, जो बचता है वह मैं हूं। एकोऽहम्—मैं अकेला हूं। आदमी ने इसे झुठलाया।

एकत्व अनुप्रेक्षा

एकत्व सचाई है। किन्तु मनुष्य ने इसको झुठलाने का जितना प्रयत्न किया उतना प्रयत्न शायद किसी और दिशा में नहीं किया। झुठलाने का प्रयत्न निरंतर चलता रहा और वह प्रयत्न चलते-चलते आज इस बिन्दु पर पहुंच गया कि समाज ही परम सत्य या ध्रुव सत्य बन गया। आदमी ने मान लिया कि समाज ही अन्तिम सत्य है, व्यक्ति तो समाज का एक पुर्जा मात्र है। एक महायन्त्र का छोटा-सा पुर्जा है व्यक्ति। इसके अतिरिक्त व्यक्ति का कोई अस्तित्व ही नहीं है। इस मान्यता ने व्यक्ति के स्वतंत्र अस्तित्व को ही समाप्त कर डाला। व्यक्ति की स्वतन्त्रता पर भारी कुठाराघात हुआ। क्या व्यक्ति का कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है ? क्या व्यक्ति समाज का एक पुर्जा मात्र है ? जब व्यक्ति समाज का पुर्जा ही है तब फिर समाज के द्वारा जो प्राप्त होता है उसे सहर्ष स्वीकार करना चाहिए। किन्तु कठिनाई यह है कि समाज से जो सहर्ष उपलब्ध होता है उसे व्यक्ति स्वीकार

नहीं करता। तत्काल उसका मानसिक तनाव बढ़ जाता है। वह भीतर में अनुभव करता है—मैं व्यक्ति हूं। मेरी स्वतन्त्र सत्ता है। मेरा स्वतंत्र अस्तित्व है। एक ओर स्वतंत्र अस्तित्व की बात मन से निकलती नहीं और दूसरी ओर सामुदायिकता का सघन सूत्र उसके सिर पर थोपा जाता है। इन दोनों स्थितियों के बीच सारे तनाव बढ़ते चले जाते हैं।

संयोग-वियोग : अधूरा सच

व्यक्ति ने संयोग को इतना सत्य मान लिया कि उसे लगता ही नहीं कि संयोग से परे भी कोई सचाई है। एक घटना घटी। एक व्यक्ति मर गया। उम्र छोटी थी। सारा परिवार दुःखी हो गया। सारे परिवार के लोग मानसिक व्यथा के शिकार हो गए। उस व्यथा ने सारा व्यापार चौपट कर डाला। एक व्यक्ति के जाने मात्र से परिवार के दसों व्यक्ति इतने पीड़ित हो गए कि उनका दुःख कभी कम नहीं हुआ।

वियोग होता है तब दुःख होता है, पर यह क्यों होता है, क्यों तनाव बढ़ता है यह हमें सोचना है। यह दुःख इसलिए होता है कि व्यक्ति संयोग को शाश्वत मानकर चलता है। वह अपनी उपयोगिता को ध्रुव सत्य मानकर चलता है। जो व्यक्ति हमारे लिए उपयोगी है, वह यदि चला जाता है तब दुःख अधिक होता है। दुःख इसलिए नहीं हुआ कि व्यक्ति चला गया, पर दुःख इसलिए हुआ कि उपयोगिता बन्द हो गई। व्यक्ति के चले जाने का दुःख नहीं होता। दुःख इसलिए होता है कि हमने उपयोगिता को शाश्वत मान लिया और यह मान लिया कि जो उपयोगिता आज है वह सदा के लिए बनी ही रहनी चाहिए। उस उपयोगिता में अन्तर आता है तो तत्काल मानसिक व्यथा का अनुभव होता है।

पूर्ण सचाई : सापेक्ष सत्य

हमारी गलत मान्यताओं, मन के द्वारा निर्मित भ्रान्तियों और दोषपूर्ण सिद्धान्तों की स्वीकृति के कारण ऐसा सब कुछ होता रहता है। यदि हम सापेक्ष सत्य को स्वीकार कर चलें तो ये मनोव्यथाएं नहीं हो सकतीं। हम यह सोचें—समुदाय भी एक सचाई है और व्यक्ति भी एक सचाई है। अकेलापन भी एक सचाई है और समुदाय भी एक सचाई है। इन दोनों सचाइयों को सापेक्षता के आधार पर मानकर चलें तो हमारे निष्कर्ष बहुत सही होंगे। ऐसी स्थिति में मानसिक तनाव को उभरने का बहुत कम अवसर प्राप्त होगा। एक पिता अपने पुत्र को कोई आदेश देता है। पुत्र उसे स्वीकार नहीं करता तब पिता तत्काल तनाव से भर जाता है। वह सोचता है—मेरा बेटा मेरी बात नहीं मानता। यह विचार उसके लिए सबसे बड़ा सिर दर्द बन जाता है। नौकर यदि आदेश न माने

तो इतना तनाव नहीं होता, क्योंकि नौकर के प्रति यह भावना होती है कि वह पराया है, अपना नहीं है। आज है कल उसे छोड़ा जा सकता है। 'पराये' की भावना में पीड़ा की तीव्रता इतनी नहीं होती जो 'अपने' की भावना में होती है। जब मेरा बेटा, मेरी पत्नी, मेरा भाई, मेरी बहिन कहना नहीं मानती तब मन में तनाव पैदा हो जाता है। पडोसी या रास्ते में मिलने वाला आदमी गालियां दे या तिरस्कार करे तो भी उतना तनाव पैदा नहीं होता। भाई भाई की अवज्ञा कर देता है तो जीवन भर के लिए अलगाव की स्थिति आ जाती है। नौकर अवज्ञा कर दे तो कुछ हल्की-सी अनुभूति होती है। भाई के बिना भाई का काम चल सकता है। नौकर के बिना सेठ का और सेठ के बिना नौकर का काम नहीं चल सकता।

समाज के क्षेत्र में एकत्व का आरोपण और एकत्व की सीमा में समाज का आरोपण करना सचाई को झुठलाना है। यह मानसिक तनाव पैदा करता है। इस तनाव को मिटाने के लिए गोलियां पर्याप्त नहीं हैं। जब तक भ्रान्तियां नहीं टूटेंगी, सचाई की अनुप्रेक्षा नहीं होगी तब तक इस तनाव का कोई उपचार नहीं होगा।

संकट का सागर

आज की भयंकर समस्या है—मानसिक तनाव। किन्तु इसके पीछे जो भयंकरता है उसके प्रति ध्यान नहीं दिया जा रहा है। यह भयंकरता है—अध्यात्म को भुला बैठना। यह विकट समस्या है। आदमी अध्यात्म को, अपने अस्तित्व को भुलाकर, अपने द्वारा खोजे गए सत्यों को भुलाकर वह एक ऐसे संकट के सागर में उतरता जा रहा है कि जहां पहुंचने पर आर-पार दिखाई नहीं देता।

तर्कशास्त्र का एक न्याय है—'जलपोतकाकन्याय।' एक कौआ जहाज के शिखर पर जा बैठा। जहाज चला। अथाह महासागर को चीरता हुआ वह काफी आगे बढ़ गया। कौए ने उड़कर भूमि पर जाना चाहा। पर उसने देखा चारों ओर पानी ही पानी है। भूमि कहीं दृष्टिगोचर नहीं हुई। वह पुनः वहीं आकर बैठ गया। वह चकाचौंध में पड़ गया। मुझे लगता है आज का आदमी भ्रान्तियों के जहाज पर बैठकर मिथ्या धारणाओं के समुद्र में इतना गहरा चला गया है कि उसे सचाई का तट कहीं नजर नहीं आता। तनाव से तनाव बढ़ते जा रहे हैं। हम इस सत्य को स्वीकार करें कि जब तक व्यक्ति एकत्व की सचाई से नहीं गुजरेगा, चिन्तन ही नहीं, उसका अनुभव नहीं करेगा, भेदानुभूति नहीं करेगा, तब तक मानसिक उलझनों का समाधान नहीं मिलेगा।

अकेला कौन ?

आचार्य भिक्षु ने एक महत्त्वपूर्ण सूत्र दिया था। उन्होंने कहा—'गण में रहूं

निरदाव अकेलो'—मैं गण समुदाय में रहूंगा, पर अकेला रहूंगा। संघ में रहते हुए अकेले रहना—एक महत्त्वपूर्ण सूत्र है। यह साधना का परम रहस्य है। हम सर्वथा अकेले नहीं हो सकते। व्यक्ति सोच सकता है कि वह जंगल में जाकर तो अकेला हो सकता है। कभी नहीं हो सकता। जंगल में जाने वाला तो इतनी भीड़ से घिर जाता है कि गांव में रहने वाला भी नहीं घिरता। हम अकेले कैसे हो सकते हैं जब हमने अपने भीतर हजारों-हजारों संस्कार पाल रखे हैं। मस्तिष्क में इतनी भीड़ है कि जिसका अन्दाजा नहीं लगाया जा सकता। इतना होने पर हम कहीं भी चले जाएं, अकेले कैसे हो सकते हैं? अकेला होने का अवकाश ही प्राप्त नहीं है। जब तक यह मस्तिष्क खाली नहीं हो जाता तब तक आदमी अकेला नहीं हो सकता, कभी नहीं हो सकता।

अकेला होने का एकमात्र उपाय है—इस सचाई को स्वीकार करना कि संयोग मात्र संयोग है। शरीर, कपड़े, मकान सब संयोग हैं। क्रोध आदि कषाय बीमारियां—ये सब संयोग हैं। ये हमारा स्वभाव नहीं विभाव है। किन्तु हमने इन सबको स्वभाव मानकर पालने का प्रयत्न किया है। आज भी यही धारणा है कि क्रोध करना जब स्वभाव बन गया है तो उस स्वभाव को बदला नहीं जा सकता। कोई अप्रिय बात कहे और क्रोध न आए—यह कैसे संभव हो सकता है? वह मनुष्य ही क्या जो क्रोध न करना जानें? वह तो मिट्टी है, और कुछ नहीं। वह मालिक ही क्या जो नौकर के आदेश न मानने पर गुस्सा न करें। वह सेठ या ऑफिसर ही क्या जो अपने अधीनस्थ व्यक्ति को बरखास्त करना या छोड़ना न जाने।

एक चौकीदार सेठ के पास आकर बोला—'सेठजी! आज आप यात्रा पर जा रहे हैं। आपने सारी तैयारियां कर ली हैं, किन्तु मेरा कहना है कि आज आप यात्रा पर न जाएं। अपनी यात्रा स्थगित कर दें।' सेठ ने पूछा—'क्यों?' उसने कहा—'मुझे आज रात को एक स्वप्न आया है। मैंने देखा है कि आप जिस ट्रेन से यात्रा करने वाले हैं, वह दुर्घटनाग्रस्त होगी। अनेक यात्री मारे जाएंगे। मेरा स्वप्न सत्य होता है। इसलिए आज आप यात्रा न करें।' सेठ ने बात मान ली। यात्रा स्थगित कर दी। दूसरे दिन पत्रों में ट्रेन के दुर्घटनाग्रस्त होने के समाचार पढ़े। सेठ ने चौकीदार को बुलाकर कहा—'तुमने मुझे मृत्यु से बचा लिया, इसलिए ये सौ रुपये पुरस्कार स्वरूप देता हूं और साथ ही साथ मैं तुम्हें नौकरी से बर्खास्त करता हूं। क्योंकि मैंने तुम्हें रात को चौकीदारी करने के लिए रखा है, नींद लेने या सपने देखने के लिए नहीं।'

मानदण्ड अनेक : रोग अनेक

आदमी ने अनेक मानदण्ड बना रखे हैं। वह मानता है कि क्रोध और

अभिमान करना भी जरूरी है, बड़प्पन का प्रदर्शन भी जरूरी है, अन्यथा बड़े बनने का अर्थ ही क्या ? कपट करना भी जरूरी है। यदि कोई वंचना करना नहीं जानता, धोखा-धड़ी नहीं जानता, लोग उसे सरल या भोला समझकर ठग लेते हैं। जब देखते हैं कि सामने वाला कपटी है, तब सोचते हैं कि संभलकर बात करनी होगी। लोग सावधान रहते हैं, जीवन के ऐसे मूल्य बना रखे हैं कि उनसे सारी मानसिक बीमारियां उत्पन्न होती हैं। सचमुच व्यक्ति सापेक्षता को नहीं जानता। वह जीवन के हर क्षेत्र में सचाइयों को अस्वीकार करता जा रहा है। इसीलिए ये कठिनाइयां उत्पन्न होती हैं।

शरीर बीमार इसलिए होता है कि उसमें विष जमा होता है। जब विष अधिक जमा हो जाता है तब शरीर अधिक रुग्ण बन जाता है। विष निकालने का सबसे बड़ा साधन है—मल-मूत्र का विसर्जन। जब मल नियमित रूप से विसर्जित होता रहता है तब कोई बीमारी नहीं होती। जब शरीर में विटामिन 'बी' की कमी होती है, बी कॉम्प्लेक्स की कमी होती है तब कोष्ठबद्धता की बीमारी हो जाती है। यह शारीरिक बीमारी की बात है। कोष्ठबद्धता का यह भी कारण है कि आज का आदमी निस्सार भाग खाए जा रहा है और सार भाग फेंके जा रहा है। गेहूं में सार भाग है चोकर। वह उसे निकाल फेंकता है और फिर सारहीन भाग को खाता है। वह जानता हुआ भी यही करता है। ऐसा क्यों होता है? यह इसीलिए होता है कि वह हर जगह सचाई को झुठलाना चाहता है। यह कैसे हो कि भोजन के विषय में वह सचाई को न झुठलाए। यह संभव नहीं है। झुठलाना जिसका स्वभाव ही बन गया, वह फिर हर जगह झुठलाने का प्रयत्न क्यों नहीं करेगा ?

चित्त-स्वास्थ्य का माध्यम—धर्म

शरीर एक ऐसा यंत्र है जिसमें अपने आपको स्वस्थ रखने के लिए पूरी व्यवस्था है, किन्तु चित्त को स्वस्थ रखने के लिए उसमें कोई व्यवस्था नहीं है। उसे व्यवस्था देना आवश्यक है। वह व्यवस्था है—धर्म। किन्तु कठिनाई एक है कि संपन्नता के शिखर पर चढ़कर जो खोज की जाती है, गरीबी में उस खोज का मूल्य समाप्त हो जाता है। आदमी भोग के अंतिम बिन्दु पर पहुंच गया। उसने पदार्थ के शिखर पर पहुंच कर पाया कि अब आगे पदार्थ से कुछ भी उपलब्ध नहीं हो सकता, पदार्थ की शक्ति समाप्त है, पदार्थ सुख नहीं दे सकता, प्रत्युत भ्रांति दे रहा है, व्यथा दे रहा है, ऐसी स्थिति में उसने पाया कि एक ऐसा भी तत्त्व है जो पदार्थ-निरपेक्ष है, जहां पदार्थ की सुख देने की शक्ति समाप्त हो जाती है वहां भी वह सुख दे सकता है, और वह तत्त्व है धर्म। किन्तु संपन्नता के शिखर पर

भ्रांति बन जाती है। आज यही हुआ है। हिन्दुस्तान में जो धर्म या सत्य की खोज हुई वह उन लोगों ने की जो संपन्नता के शिखर का, भोग के अन्तिम विन्दु का स्पर्श कर चुके थे। वे राजे-महाराजे और सम्राट् भोग के द्वारा शान्ति नहीं पा सके, तब दूसरे पथ पर चल पड़े। सत्य की खोज में लग गए। उस खोज में उन्हें मिला धर्म। अब आज इस गरीब देश में हम धर्म की बात करते हैं तो लोग कहते हैं—रोटी चाहिए। धर्म हमारा क्या भला करेगा ? मैं समझता हूं कि आज लोगों को धर्म की कम जरूरत है, रोटी की अधिक जरूरत है। गरीब देश में धर्म की कम जरूरत होती है। धर्म की जरूरत तब होती है जब मानसिक व्यथाएं अधिक बढ़ती हैं, विभिन्न प्रकार के तनाव उत्पन्न होते हैं। ध्यान और धर्म की जरूरत शायद उन लोगों को होती है जो अपनी संपदा से ऊबकर मानसिक तनाव से ग्रस्त हो गए हैं। जिस बेचारे गरीब को दो जून रोटी भी नहीं मिलती तो वह क्या ध्यान करेगा ? उसका सारा प्रयत्न रोटी जुटाने में ही खत्म हो जाएगा। तनाव उन लोगों का ज्यादा होता है जो पदार्थ से चारों ओर घिरे रहते हैं। जब यह घेराव सघन होता है तब वे उससे बाहर आना चाहते हैं। उस चाह से वे नया रास्ता खोजते हैं।

एक व्यक्ति ने मधुमक्खियां पाल रखी थीं। दूसरे व्यक्ति ने पूछा—'इनसे क्या लाभ हुआ ?' उसने कहा—'सबसे बड़ा यह लाभ हुआ कि अब मेहमान आने कम हो गए।' मधुमक्खियां पालने की उसके लिए जरूरत है जो सब कुछ बटोरकर अपने में ही रखना चाहता है। जो यह सोचता है—मैं एक व्यवसाय में संलग्न हूं। दूसरा कोई उसमें आ न जाए। मेरे लाभ में वह सहभागी न बन जाए। उसे मधुमक्खियां पालनी आवश्यक होती हैं। जो मधुमक्खियां पालता है क्या वह उनके काटने से स्वयं बच सकता है ? यह कभी नहीं होगा। जो दूसरों को मधुमक्खियों का शिकार बनाना चाहता है, क्या वह स्वयं उसका शिकार नहीं बनेगा ? उसके लिए भी उनसे राहत पाने की जरूरत है। वह उनसे बचने का उपाय खोजे।

सामाजिक दुर्व्यवस्था और मान्यताएं

आज आदमी ने पदार्थों की अनेक मधुमक्खियां पाल रखी हैं। पहली जरूरत है कि उनसे बचने का उपाय खोजा जाए। आदमी की एकांगिता के कारण उसने पदार्थ को इतना स्थान दे दिया कि वह पदार्थों में दूसरों को संभागी बनाना नहीं चाहता। आज जो सामाजिक कठिनाइयां या समस्याएं बढ़ी हैं, वे सब सामाजिक व्यवस्थाओं के कारण बढ़ी हैं। यह सच है। किन्तु व्यवस्थाएं आईं कहां से ? अनेक प्रकार की व्यवस्थाएं हैं—राजतंत्र की व्यवस्था, सामंतशाही की व्यवस्था, संपत्ति के एकाधिकार या स्वामित्व की व्यवस्था। इन व्यवस्थाओं का स्रष्टा कौन है ? व्यवस्था व्यवस्था से नहीं आई। इनका स्रष्टा है—मनुष्य का मस्तिष्क। ये

व्यवस्थाएं आई हैं मनुष्य की गलत मान्यताओं के कारण। यदि ये मान्यताएं नहीं होतीं तो ये व्यवस्थाएं नहीं जन्मतीं। जितनी सामाजिक दुर्व्यवस्थाएं आई हैं, वे सत्य को झुठलाने के कारण आई हैं।

आदमी आदमी का स्पर्श नहीं करता, उसे अछूत मानता है। हमने देखा है—कुत्ता थालियों को चाटता है। आदमी उसे देखते हुए भी नहीं हटाता। यदि एक आदमी उसे छू लेता है तो वह आगबबूला हो जाता है। क्या कुत्ते से आदमी निकृष्ट है? कुत्ता कितना घृणित है? वह क्या नहीं खाता? आज स्वास्थ्य की दृष्टि से देखा जाए तो पता चलेगा कि बीमारी के कितने परमाणु कुत्ते के मुंह पर लगे रहते हैं। वह कभी मांस पर मुंह देता है, कभी सड़े-गले कलेवर पर और कभी मल पर। वह थाली को चाटता है। कोई आपत्ति नहीं होती। आदमी यदि उन बर्तनों से छू भी जाए तो आपत्ति के पहाड़ टूट पड़ते हैं। यह क्या है? आदमी ने एक भयंकर भ्रान्ति पाल रखी है। यह मानसिक बीमारी है। इससे अनेक छोटी-मोटी बीमारियां पैदा होती हैं। ये मनोविकृतियां जब तक रहेंगी। तब तक मानसिक तनाव कभी नहीं मिट सकेगा। इसलिए प्रथम आवश्यकता यह है कि इन विकृतियों को मिटाया जाए।

चिकित्सा रोग की नहीं, रोगी की

रोग की चिकित्सा में अध्यात्म का विश्वास नहीं है। उसका विश्वास है रोगी की चिकित्सा में। चिकित्सा रोगी की होनी चाहिए। रोग की चिकित्सा से बहुत लाभ नहीं हो सकता। रोग की चिकित्सा करते हैं और यदि रोगी कमजोर है या उसमें प्रतिरोधात्मक शक्ति कम है तो एक रोग के उपशमन के साथ दूसरे रोग के कीटाणु आक्रमण कर देंगे। केवल रोग की चिकित्सा चलेगी तो बीमारियों की श्रृंखला भी चलती चली जाएगी। इसलिए जरूरत है कि रोगी की चिकित्सा की जाए। प्राकृतिक चिकित्सक यही करता है।

आज चिकित्सा की एक नयी पद्धति प्रचलित हुई है। वह है भोजन के द्वारा चिकित्सा। कुछ अमरीकी वैज्ञानिकों ने इस पद्धति का प्रयोग किया है। इसमें किसी भी प्रकार की औषधि का सहारा नहीं लिया जाता। वे मानते हैं कि बीमारी पैदा होती है विष के संचय से। विष का अर्थ है शरीर में अम्लता का जमाव। अम्लता शरीर में जितनी बढ़ती है उतनी ही बीमारियां पैदा होती हैं। औषधि के द्वारा अम्लता को मिटाना पर्याप्त नहीं है। वे ऐसे भोजन का चुनाव करते हैं जिसमें क्षारधर्मिता ज्यादा हो और अम्लता कम हो। चीनी मीठी होती है, पर अम्लता बहुत पैदा करती है। वे इसका वर्जन करते हैं। उपयुक्त भोज्य पदार्थों का चुनाव कर वे रोग की नहीं, रोगी की चिकित्सा करते हैं।

हमारा भी यही प्रयत्न है। मानसिक तनाव से मुक्त करने के लिए हम मनो-

रोग की नहीं, मनोरोगी की चिकित्सा करें। किसी के डिप्रेसन हो गया, अवसाद या विषण्णता हो गई, हम इन मनोरोगों की चिकित्सा न करें, किन्तु जो व्यक्ति इनसे ग्रस्त है उसकी चिकित्सा करें। चिकित्सा है क्षारधार्मिता, चिकित्सा है अनुप्रेक्षा। जो मनोरोग से ग्रस्त है, हम उस रोगी को कहें—तुम एकत्व की अनुप्रेक्षा करो, मैत्री की अनुप्रेक्षा करो, करुणा और माध्यस्थ्य भाव की अनुप्रेक्षा करो। यह अनुप्रेक्षा उसको रोग से मुक्त कर देगी।

सच्चाई का अवबोध : तनाव-विसर्जन का कारण

जब ये सचाइयां मस्तिष्क में जागेंगी तब उलझनें अपने आप समाप्त होती जाएंगी। जब सचाइयां प्रकट होंगी तब मानसिक तनाव स्वतः मिटने लगेगा। व्यक्ति अपने पुरुषार्थ की सीमा को भी समझे और नियति की सीमा को भी समझे। नियति या कर्म की भी एक सीमा है और पुरुषार्थ की भी एक सीमा है। कर्म से जो अनुदान प्राप्त होता है उसे भी सचाई मानकर स्वीकार करे और जो पुरुषार्थ से अनुदान प्राप्त होता है उसे भी सचाई मानकर स्वीकार करे। कर्म से मिलने वाले फल को पुरुषार्थ के द्वारा न झुठलाए और पुरुषार्थ के द्वारा मिलने वाले परिणाम को कर्म के द्वारा न झुठलाए। एक दूसरे की सीमा का अतिक्रमण न करे। किसी भी सच्चाई को अस्वीकार न करे। दोनों सचाइयों को साथ में लेकर चले। जब इन सचाइयों का उद्बोध होगा, जागरण होगा तब मानसिक तनाव स्वतः समाप्त हो जाएंगे।

समाधि की खोज

शिविर २

लुधियाना
१४-८-७६ से २३-८-७६

१०. समाधि की खोज : समस्या का जीवन

- संजतमणुस्साणं सुत्ताणं पंच जागरा पण्णत्ता, तं जहा—सद्दा, रूवा, गंधा, रसा, फासा।
- संजतमणुस्साणं जागराणं पंच सुत्ता पण्णत्ता, तं जहा—सद्दा, रूवा, गंधा, रसा, फासा।
- असंजतमणुस्साणं सुत्ताणं वा जागराणं वा पंच जागरा पण्णत्ता, तं जहा—सद्दा, रूवा, गंधा, रसा, फासा।

[ठाणं ५।१२५, १२६, १२७]

- संयत मनुष्य सुप्त होते हैं तब उनके पांच जागृत होते हैं—
शब्द, रूप, गंध, रस, स्पर्श।
- संयत मनुष्य जागृत होते हैं तब उनके पांच सुप्त होते हैं—
शब्द, रूप, गंध, रस, स्पर्श।
- असंयत मनुष्य सुप्त हों या जागृत फिर भी उनके पांच जागृत होते हैं—
शब्द, रूप, गंध, रस, स्पर्श।

१. समाधि की खोज उन सबके लिए जो समस्या के साथ जीते हैं। केवल योगी के लिए नहीं, गृहस्थ के लिए भी आवश्यक है।

२. मूर्च्छा असमाधि।
चैतन्य का अनुभव समाधि।

३. आत्मा जागती है, पांच सो जाते हैं।
आत्मा सोती है, पांच जाग जाते हैं।

४. पांच बाहर भी हैं, भीतर भी हैं।
- मस्तिष्क में शब्द के टेप हैं। स्मृति और चिन्तन सब शब्दात्मक हैं।
- मस्तिष्क में आकृति, रस आदि के भी टेप हैं।

५. मूर्च्छा के परमाणुओं का एक वर्ग है—प्रियता और अप्रियता।

- प्रियता का संवेदन भी असमाधि।
- अप्रियता का संवेदन भी असमाधि।
- मनोज्ञ राग के हेतु बनते हैं।
- अमनोज्ञ द्वेष के हेतु बनते हैं।
- मनोज्ञ-अमनोज्ञ में मन का योग न करना समाधि है।

दस

समस्या और समाधि

प्रश्न है—'मकान क्यों?' उत्तर बहुत सीधा है। दुनिया में धूप है, इसलिए मकान बनाने की आवश्यकता हुई। यदि धूप, सर्दी-गर्मी और आंधियां नहीं होतीं तो भवन बनाने की जरूरत नहीं होती। एक है तो दूसरे का होना अनिवार्य है। पहला दिन है तो दूसरा दिन होना जरूरी है।

प्रश्न है—'समाधि की खोज क्यों?' समस्या है इसलिए समाधि की खोज जरूरी है। यदि कोई समस्या नहीं होती तो समाधि की खोज की आवश्यकता भी नहीं होती। समाधि की साधना इसीलिए जरूरी है कि समस्या को समाहित किया जा सके। मनुष्य ने समस्या को सुलझाने के अनेक उपाय किए। वह शारीरिक समस्या को सुलझाने में पूर्ण सफल रहा है। पुराने युग से भी आज वह इस दिशा में अधिक सफल है। वह शत-प्रतिशत समस्याओं को सुलझा सका है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। आज भी ऐसी बीमारियां हैं जिनका उपचार उसके पास नहीं है। वह खोज कर रहा है, पर अभी पूर्ण सफल नहीं हो पाया है। पूरी समस्याओं का समाधान कभी होता ही नहीं। जिस दिन जिस समस्या का शत-प्रतिशत समाधान हो जाता है, वह समस्या ही नहीं मिटती, साथ-साथ समस्या से सम्बद्ध सारी सामग्री भी समाप्त हो जाती है। यदि शरीर को रहना है तो उसके साथ-साथ शरीर की समस्याओं को भी रहना है। जिस दिन शरीर की कोई समस्या नहीं रहेगी, पता नहीं उस दिन शरीर रहे या न रहे। यह कभी संभव नहीं है कि सारी समस्याएं समाहित हो जाएं। इस युग में शारीरिक समस्याओं का पर्याप्त समाधान हुआ है, परंतु मानसिक समस्याओं का समाधान बहुत ही कम हुआ है। इनको सुलझाने का जितना प्रयत्न किया गया, ये अधिक उलझती गयीं और आज ऐसा लग रहा है कि प्रत्येक व्यक्ति इससे अत्यधिक ग्रस्त है। इसलिए आज समाधि की बहुत आवश्यकता है। अतीत में समाधि की उतनी आवश्यकता नहीं थी, जितनी आज है क्योंकि आज बीमारी अधिक बढ़ गयी है, मानसिक पागलपन

वहुत वृद्धिगत हो गया है। आज के जीवन में जितना मानसिक तनाव और दबाव है उतना अतीत में नहीं था। इतिहास इसका साक्षी है।

तनाव का कारण है—भय

आज तनाव के कारणों की संख्या बढ़ गयी है। उसमें भय मुख्य कारण है। पुराने जमाने में भय होता था चोर का, डाकू का। आज चोर और डाकू का भय उतना नहीं है जितना भय राज्य-तंत्र का है। राज्य का इतना नियंत्रण है कि व्यक्ति सर्वथा परतंत्र है। आज का आदमी सोता है तो भय को सिरहाने लेकर सोता है और उठता है तो भय की चप्पल पहनकर ही पैर आगे रखता है। उसका कोई भी क्षण ऐसा नहीं जाता जो भयमुक्त हो। जिन लोगों ने अपने आपको ज्यादा सुखी बनाने का प्रयत्न किया और कर रहे हैं उन्होंने तो ऐसा मान लिया कि मानो जीने का अर्थ है—भय और भय का अर्थ है—जीना। वे भय और जीवन को दो नहीं मानते। यह द्विवचन नहीं, एकवचन बन गया।

एक विद्यार्थी से पूछा गया—'पाजामा एकवचन है या बहुवचन?' उसने कहा—'ऊपर से एकवचन और नीचे से बहुवचन।'

आज पूछा जाए—'भय और जीवन एक है या दो?' उत्तर होगा—'ऊपर से एक और नीचे से दो।'

भय को जीवन से अलग नहीं किया जा सकता। यदि भय को अलग नहीं किया जा सकता तो आदमी समस्या से मुक्त जीवन नहीं जी सकता। भय का इतना बड़ा तनाव है कि जीवन की सारी व्यवस्थाएं गड़बड़ा जाती हैं। इसके कारण नाड़ी-संस्थान, तंत्रिका-तंत्र और समूचा शरीर-तंत्र अव्यवस्थित हो जाता है। शरीर के रसायन और विद्युत्-प्रवाह बदल जाता है। इस स्थिति में आदमी सुख से कैसे जी सकता है? उसे भयमुक्त जीवन जीने का अवसर ही उपलब्ध नहीं होता। सुखी जीवन का एकमात्र उपाय है—समाधि।

समाधि सबके लिए

प्राचीन-काल में समाधि की खोज योगियों ने की। यह माना जाता रहा है कि समाधि योगियों और संन्यासियों के लिए है, गृहस्थों के लिए नहीं है। किन्तु आज हर व्यक्ति जो जीता है, प्राण-धारण करता है, उसके लिए समाधि और ध्यान की अत्यन्त आवश्यकता है। आज प्रत्येक व्यक्ति को योगी बनना जरूरी है। जो गृहस्थ योगी नहीं बनेगा, ध्यान और योग का अभ्यास नहीं करेगा वह पूरा जीवन नहीं जी सकेगा। उसे अकाल-मृत्यु का सामना करना पड़ेगा। अस्सी वर्ष जीने वाला पचास वर्ष में ही काल-कवलित हो जाएगा। आज समाधि की आवश्यकता सबके लिए है।

हम समाधि का जो प्रयत्न कर रहे हैं वह सबको संन्यासी या जंगलवासी या योगी बनने के लिए नहीं कर रहे हैं। हम सबको घर छुड़वाना नहीं चाहते। हम इस सिद्धांत के साथ यह प्रयत्न कर रहे हैं कि हर गृहस्थ योगी का जीवन भी जीये, हर घरवासी ध्यानी और समाधि का जीवन भी जीये।

समाधि क्या ? समस्या क्या ?

प्रश्न होता है—समाधि क्या है ? समस्या क्या है ? संवर समाधि है और आश्रव समस्या है। जिससे दुःख आता है, समस्याएं आती हैं, वह दरवाजा है—आश्रव। दरवाजे को बन्द कर देने पर न दुःख आता है और न समस्याएं आती हैं, यह संवर है, यह समाधि है। दरवाजा खुला है तो आश्रव। दरवाजा बंद है तो संवर। अधिक अन्तर नहीं है। खुलावट और बन्द का ही अन्तर है। दरवाजा खुला है तो सब कुछ आ सकता है, बन्द होने पर कुछ भी नहीं आ सकता। यह समाधि है।

आश्रव समस्या है, संवर समाधि है। आज के लोगों ने आश्रव और संवर को भी टेक्निकल बना डाला, परिभाषा में उलझा दिया। इसलिए आश्रव और संवर की धारणा ही बदल गई। आश्रव के छह प्रकार हैं। हमारी स्पर्शन इन्द्रिय एक आश्रव है जिससे स्पर्श की अनुभूति होती है। हमारी जीभ एक आश्रव है, जिससे रसानुभूति होती है। हमारी आंख एक आश्रव है, जिसमें से रूप आता है। हमारा कान एक आश्रव है, जिससे शब्द आता है और हमारी घ्राण इन्द्रिय एक आश्रव है, जिससे गंध की अनुभूति होती है। हमारा मन एक आश्रव है, जिससे विचार आता है। छह दरवाजे और छह आगन्तुक। शब्द, रूप, रस, गंध, स्पर्श और भाव ये आगन्तुक हैं। इनके आने के छह द्वार हैं।

शब्द का प्रभाव

जब शब्द भीतर जाता है तब समस्या पैदा करता है। शब्द व्यर्थ की कल्पनाएं और उलझनें पैदा करता है और आदमी को पीड़ा की कारा में बन्द कर देता है।

एक आदमी अपनी धुन में चला जा रहा था। पीछे से दूसरा आदमी आया और बोला—'अरे ! यह क्या ! तुम यहां घूम रहे हो और तुम्हारी पत्नी अपने प्रेमी के साथ उस बगीचे में बैठी है।' यह सुनते ही वह क्रोध से भर गया। उसके होंठ फड़कने लगे। आंखें लाल हो गईं। उसने कहा—'अभी दोनों को गोली से उड़ा देता हूं।' वह बन्दूक लेकर बगीचे की ओर चला। इतने में ही उसे याद आया—अरे, मेरी तो अभी शादी भी नहीं हुई है। कहां है पत्नी और कहां है उसका प्रेमी ! उसका गुस्सा शांत हो गया।

शब्द का आक्रमण बड़ा भयंकर होता है। उस समय वस्तुस्थिति का भान

नहीं होता। आदमी कल्पना के जाल में उलझ जाता है। शब्दों के द्वारा जीवन में कितनी घटनाएं घटित होती हैं ! यथार्थ में समस्या कुछ भी नहीं होती, किन्तु आदमी शब्द को पकड़कर इतने संघर्ष में उतर जाता है कि जिसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती।

राजनेता के पास आकर एक आदमी ने कहा—'अमुक व्यक्ति 'ख' आपको बुरा-भला कह रहा था। आपको वह भ्रष्ट, धूर्त्त और धोखेबाज बता रहा था।' राजनेता ने कहा—'यदि मैं इस बार मंत्री बन जाऊंगा तो उस नालायक को नरक में भेज दूंगा। वह मुझे समझता क्या है ?'

इतने में दूसरा व्यक्ति आकर बोला—'अमुक व्यक्ति 'क' आपकी बहुत प्रशंसा कर रहा था। वह जनता को बता रहा था कि आप जैसे नेता भारत में इने-गिने हैं। आप जैसा कोई प्रामाणिक-ईमानदार व्यक्ति मिलना मुश्किल है।' राजनेता ने हंसते हुए कहा—'उसने मेरा यथार्थ मूल्यांकन किया है। यदि मैं मंत्री बनूंगा तो उसे स्वर्ग में भेज दूंगा।'

शब्दों की इस दुनिया में जीने वाला व्यक्ति क्षण-क्षण बदलता जाता है। वह क्षण में अनुग्रह करता है और क्षण में शाप देने लग जाता है।

समस्याओं के जनक

रूप भी अनेक समस्याएं पैदा करता है। वह भीतर उतरकर व्यक्तित्व को चकनाचूर कर देता है।

रस, गंध और स्पर्श भी अनेक प्रकार की समस्याएं उत्पन्न करते हैं।

मन के भाव भयंकर समस्याओं के जनक हैं।

समस्या का हल : समाधि

इन्द्रिय और मन की परिधि में जीने वाले लोग हजारों-हजारों प्रकार की समस्याएं भोगते हैं। ये समस्याएं सरकार नहीं सुलझा सकतीं। अनाज की समस्या, मकान या कपड़े की समस्या को सरकार सुलझाने में सक्षम होती है। किन्तु इन्द्रियों और मन की समस्या को कोई नहीं सुलझा पाता। इन समस्याओं को सुलझाने में सक्षम है केवल व्यक्ति की अपनी समाधि। दूसरा कोई उपाय नहीं है। इसलिए हम आज समाधि की चिन्ता कर रहे हैं। जिस समस्या को समाज या राज्य के स्तर पर नहीं सुलझाया जा सकता उस समस्या को व्यक्ति के स्तर पर समाधि के द्वारा सुलझाया जा सकता है।

समस्या का अर्थ है—आश्रव और समाधि का अर्थ है—संवर। समस्या का **अर्थ है—मूर्च्छा और समाधि का अर्थ है—चैतन्य का अनुभव।** एक बात है, यदि मूर्च्छा नहीं होती तो आदमी दुनिया में जी नहीं पाता। हर व्यक्ति मूर्च्छा से

जुड़ा हुआ है, इसलिए वह जी रहा है। अगर मूर्च्छा नहीं होती तो आदमी नहीं जी सकता। हमारे शरीर की एक व्यवस्था है। शरीर में जब तक कष्टों को झेलने की क्षमता होती है तब तक वह जागृत रहता है और जब कष्ट अधिक बढ़ जाता है और शरीर उसे झेलने में असमर्थ होता है तब आदमी मूर्च्छित हो जाता है। जब भयंकर बीमारी, अवसाद या कष्ट होते हैं तब आदमी तत्काल मूर्च्छा में चला जाता है। यह प्रकृति की अपनी व्यवस्था है कि जागृत रहकर आदमी उतने कष्ट को झेल नहीं सकता इसलिए उसे मूर्च्छित कर दो। या तो शरीर स्वयं उसे मूर्च्छित कर देता है या फिर डॉक्टर उसे बाहरी साधनों से मूर्च्छित कर देता है।

मूर्च्छा असमाधि है, समस्या है। चैतन्य का अनुभव समाधि है।

सोना समस्या है और जागना समाधि। हम सोते हैं, यह सबसे बड़ी समस्या है। हम जागते हैं, यह समाधि है। समाधि है—चैतन्य का अनुभव, समाधि है—जागरण और समाधि है—संवर।

समाधि के विषय में एक धारणा है कि वह योगजन्य है। उसके अधिकारी केवल योगी ही हो सकते हैं। वह एकान्त में या हिमालय पर जाकर ही साधी जा सकती है। लोग बड़ी बीमारी की चिकित्सा करना जानते हैं, पर छोटी बीमारी की चिकित्सा नहीं जानते।

एक रोगी वैद्य के पास गया, बोला—मुझे सर्दी लग गयी है, दवाई दे दीजिए। वैद्य बोला—भाई! मेरे पास सर्दी को मिटाने की कोई दवाई नहीं है, किन्तु न्यूमोनिया की रामबाण दवाई है। तुम तालाब पर जाओ। ठंडे पानी से स्नान करो। सर्दी बिगड़कर न्यूमोनिया बन जाएगी। फिर मेरे पास आना। मैं क्षणभर में तुम्हें स्वस्थ कर दूंगा।

न्यूमोनिया को मिटाने वाले लोग अनेक हैं, किन्तु सर्दी जैसी सामान्य बीमारी को मिटाने वाले लोग नहीं हैं। क्या साधारण रोग को बड़ा रोग बनाकर फिर चिकित्सा करें? क्या पहले बड़ी समस्याएं पैदा करें फिर समाधि की बात सोचें? समाधि ऐसी नहीं है। समाधि न्यूमोनिया की रामबाण दवाई नहीं है। हम समाधि के कुछेक बिन्दुओं पर ध्यान दें।

समाधि के दो बिन्दु

समाधि का पहला बिन्दु है—प्रत्याहार, प्रतिसंलीनता। यह एक प्रकार का तप है। भगवान् महावीर की भाषा में जो प्रतिसंलीनता है वही महर्षि पतंजलि की भाषा में प्रत्याहार है। प्रत्याहार का अर्थ है—निरोध, अपने आप में गुप्त रहना। यदि समस्या का समाधान करना है, समाधि को प्राप्त होना है तो सबसे पहले हम इन्द्रियों के संवेदनों को बन्द करें। आंख, कान और नाक का संवेदन बन्द, त्वचा

और जीभ का संवेदन बंद और मन के भावों का संवेदन भी बंद। बाहर से जो आ रहा है, वह सब बंद, यह समाधि का पहला बिन्दु है। बन्द करना समाधि का उपक्रम है। सारे दरवाजे बंद करना सीखें। परन्तु इसके साथ एक प्रश्न होता है कि खिड़कियों को बन्द कब तक रखा जाए? दुर्गन्ध आयी, खिड़की को बन्द कर दिया। दुर्गन्ध में कमी हो गयी, किन्तु साथ-साथ में अच्छी हवा भी बन्द हो गयी। कब तक बन्द रखें। क्या कोई व्यक्ति आंखें बन्द कर जी सकता है? क्या कोई व्यक्ति कानों को बन्द कर, बिना शब्द सुने जी सकता है? क्या सरस भोजन करना सदा के लिए छोड़ दिया जाए? यह असंभव नहीं है? दुनिया में जीना है तो सरसता भी चाहिए। इन्द्रियों को बन्द कर जीने में सारी सरसताएं समाप्त हो जाती हैं। सारा जीवन नीरस और भार बन जाता है। दुर्गन्ध को रोकने के लिए खिड़की बन्द की तो सुगन्ध भी भीतर नहीं आ पाएगी। बुरे के साथ अच्छे का भी निरोध हो जाएगा। इस प्रश्न को समाहित करने के लिए समाधि का दूसरा बिन्दु खोजा गया।

समाधि का दूसरा बिन्दु है—समता। जो आता है, उसे आने दो। शब्द, रूप, रस और गंध जो भी आए, इन्द्रियां जो कुछ ग्रहण करें उसे आने दो। भीतर प्रवेश करने दो। मन में जो विचार उठे, उन्हें रोको मत, उठने दो। बस, एक ऐसी चेतना जागृत करो कि वह जो कुछ आए उसका संवेदन न करें, केवल देखें, जानें, किन्तु उसके साथ प्रियता या अप्रियता को न जोड़ें। चेतना को इतनी समतामय बना लें कि अच्छा आए तो भी स्वागत है और बुरा आए तो भी स्वागत है। कोई भी आए, सबका स्वागत है। किन्तु उससे कोई प्रयोजन नहीं। आने वाला आए और चला जाए, यह है—समता। यह है—समाधि का दूसरा बिन्दु। इस बिन्दु पर प्रियता या अप्रियता, मनोज्ञ या अमनोज्ञ, कुछ भी नहीं रहता। वस्तु केवल वस्तु-मात्र रह जाती है। चेतना चेतनामात्र रह जाती है। संवेदन संवेदनमात्र रह जाता है और ज्ञान ज्ञानमात्र रह जाता है। वहां ज्ञान संवेदन से प्रभावित नहीं होता और संवेदन की छाया में ज्ञान की ज्योति दबती नहीं, वह ऊपर दीप्त होती रहती है। वहां ज्ञान ऊपर रहता है और संवेदन नीचे। यह है समता की स्थिति।

दो बातें हो गयीं। पहली बात है कि बाहर से कुछ लिया नहीं और दूसरी बात है कि बाहर से जो आया उसके साथ प्रियता या अप्रियता का संवेदन नहीं जोड़ा। परन्तु इन दोनों से भी समस्या का पूरा समाधान नहीं हुआ।

भीतर का आक्रमण

आंखें बंद कर लीं। मन को एकाग्र करने का अभ्यास किया। सर्वेन्द्रिय-संयम-मुद्रा कर बाहर से सम्बन्ध-विच्छेद कर डाला। अब बाहर से न शब्द आ रहा है, न रूप और रस आ रहा है। सब कुछ बंद है। किन्तु मस्तिष्क में लाखों-करोड़ों,

असंख्य शब्द, रूप, गंध कैद किये हुए पड़े हैं। हजारों-लाखों वर्षों से यह क्रम चल रहा है। बाहर से एक बार बंद कर देते हैं किन्तु जब ये भीतर में संगृहीत शब्द-रूप उभरते हैं तब आदमी विस्मय से भर जाता है। जो व्यक्ति ध्यान से पूर्व स्थिर था, इतना चंचल नहीं था, वह एकाग्र होते ही इतना चंचल हो जाता है कि जिसकी कल्पना भी नहीं कर सकते। ध्यान दें। शब्द कहां से आ रहे हैं? बाहर का दरवाजा बन्द है। बाहर से कोई प्रवेश नहीं कर पाता। जब कोई बाहर से प्रवेश करता था, तब भीतर का सोया पड़ा था। जब बाहर से कोई नहीं आ रहा है तो भीतर वाले को जागने का अवसर मिल जाता है। जब चेतन मन जागता है तब अवचेतन मन सोया रहता है। मनोविज्ञान की भाषा में कहा जाता है कि जब कोन्शियस माइंड काम करता है तब सब-कोन्शियस माइन्ड काम नहीं करता। स्थानांग सूत्र का कथन है—जब संयमी जागता है तब उसके शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्श—ये पांच सोए रहते हैं। जब संयमी सोता है तब ये पांचों जाग जाते हैं। जब चेतन मन जागता है तब भीतर का तंत्र सोया रहता है। जब हम इस चेतन मन को सुला देते हैं तब भीतरी मन जाग जाता है। जब बाहरी मन जागता रहता है तब भीतर का भण्डार भरता जाता है और एक दिन ऐसा आ सकता है कि एक भीषण विस्फोट होता है और आदमी उसे झेल नहीं पाता। जब चेतन मन जागृत रहता है तब हमें समस्याओं का अनुभव ही नहीं होता। वास्तव में जब हम ध्यान-साधना के द्वारा चेतन मन को सुला देते हैं तब हमें ज्ञात होता है कि भीतर क्या-क्या है। जब तक सफाई का प्रयत्न नहीं किया जाता तब तक कुछ भी पता नहीं लगता।

समाधि है शोधन की प्रक्रिया

समाधि शोधन की प्रक्रिया है। जब यह प्रक्रिया चलती है तब शब्द जागते हैं, भावनाएं जागती हैं, ऐसे शब्द और ऐसी भावनाएं जिनकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। जो आदमी भला और सज्जन दिखायी देता रहा है, वह भी अचानक हिंसक और बेईमान हो जाता है। उसके मन में बुराई की भावना जागती है, हिंसा की बात उभरती है, आत्महत्या के विचार आते हैं, चोरी करने की भावना जागृत होती है। गृहस्थ में ही नहीं, साधु-संन्यासी में भी ऐसा परिवर्तन होता है। जब वह ध्यान की गहराइयों में जाता है तब संस्कार उभरते हैं और परिणाम-स्वरूप ये सारी वृत्तियां जाग जाती हैं। स्वयं के मन में इन वृत्तियों के प्रति ग्लानि होती है। वह सोचता है—अरे, यह क्या? मैंने कभी इन निम्न वृत्तियों को पोषण दिया ही नहीं, फिर ये क्यों उभर रही हैं? ये वृत्तियां इसीलिए उभरती हैं कि उनके मूल संस्कार चेतना की गहराई में दबे होते हैं। ध्यान से वे जब छेड़े जाते हैं तब विपरीत भावनाएं आती हैं और व्यक्ति को बदल देती हैं। केवल आंख बंद कर

लेने मात्र से, केवल प्रतिसंलीनता का अभ्यास कर लेने से या प्रियता या अप्रियता की भावना को साध लेने से समस्या का समाधान नहीं होता। समस्या का समाधान तब होता है जब भीतर में रहे हुए शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्श के भंडार को रिक्त करना जान लें। जब यह रिक्त या रेचन करने की प्रक्रिया सीख ली जाती है तब वह भंडार खाली हो जाता है। यही निर्जरा की प्रक्रिया है।

समाधि के लिए दो प्रक्रियाएं बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं। एक है—संवर की प्रक्रिया और दूसरी है—निर्जरा की प्रक्रिया। केवल संवर से पूरा समाधान नहीं होता। संवर से बाहर का आना बंद हो जाएगा किन्तु भीतर में अवस्थित संस्कारों का अटूट भंडार इससे रिक्त नहीं होगा। बाहरी तत्त्व पीड़ा पहुंचाना बन्द कर देंगे, पर भीतरी तत्त्व इतने जाग जाएंगे कि उनकी पीड़ा असह्य हो जाएगी। बाहर का शत्रु इतना खतरनाक नहीं होता जितना भीतर का शत्रु खतरनाक होता है। घर का शत्रु जितनी हानि पहुंचा सकता है उतनी हानि दूसरा कोई नहीं पहुंचा सकता।

समाधि की अवस्था

समाधि का अर्थ है—केवल चैतन्य का अनुभव। जब केवल चैतन्य का अनुभव होने लगता है तब भीतर के सारे शब्द, रूप बंद हो जाते हैं। तब न भीतर का शब्द सताता है और न भीतर का रूप सताता है। न शब्द की तरंग, न रूप की शृंखला, न गंध की लहर, न रस की अनुभूति और न स्पर्श का अनुभव, न संकल्प और न विकल्प। सब कुछ शांत, शांत और शांत। सारी तरंगें शान्त, सारा तूफान और बवंडर शान्त। भीतर का सारा समुद्र शांत हो जाता है। उसमें कोई तरंग नहीं उठती। वह अथाह समुद्र शांत और निस्तरंग हो जाता है। यह है समाधि का चरम-बिन्दु। न बाहर का कोई शब्द सुनाई देता है और न भीतर में कोई शब्द की तरंग उठती है। न बाहर का कोई रूप दिखायी देता है और न भीतर से कोई रूप की कल्पना उभरती है। न कोई भाव बाहर से मन को उद्वेलित करता है और न अन्तर् में कोई संकल्प-विकल्प जागता है। बाहर से भी ये सब समाप्त और भीतर में भी ये सब समाप्त हो जाते हैं। केवल चेतना का अनुभव निस्तरंग और शांत-अवस्थित रहता है। यह है समाधि की अवस्था।

समाधि है अप्रयत्न

समाधि का अभ्यास एक प्रयत्न नहीं है, यह प्रयत्नों को छोड़ने का अभ्यास है। आदमी शरीर से बहुत प्रयत्न करता है। वह बोलने का प्रयत्न करता है, सोचने का प्रयत्न करता है और प्रयत्न करते-करते तनाव से भर जाता है। इन प्रयत्नों से मूर्च्छा होती है और आदमी की आंखें बंद हो जाती हैं। आंखें बंद होते

है इसलिए आदमी जी रहा है। आंखें बंद न हों तो आदमी जी नहीं सकता।

एक वकील के एक लड़की थी। वह कुरूप थी। कोई भी आंख वाला उसके साथ शादी करने के लिए तैयार नहीं होता था। आंख से अंधा ही उसके साथ शादी करने के लिए तैयार हो पाता था। अंधे से उसकी शादी हो गयी। एक दिन एक डॉक्टर ने वकील से कहा—देखो, मैं तुम्हारे दामाद को आंखें दे सकता हूं। आप आज्ञा दें, मैं उसकी चिकित्सा कर दूं। वकील बोला—अंधा ही रहने दो। जिस दिन यह देखने लग जाएगा शादी का अनुबंध टूट जाएगा। यह अंधा है इसीलिए मेरी कुरूप लड़की से शादी कर पाया है।

इस संसार के प्रति आकर्षण, मोह और लगाव तब तक ही बना रह सकता है जब तक हम आंखें बंद कर चलते हैं, अंधे होकर जीते हैं। जिस दिन आंख खुल जाएगी, रोशनी आ जाएगी, तब यह सारा लगाव एक झटके में ही टूट जाएगा। सारा सपना समाप्त हो जाएगा। एक दृष्टि से इस ससार में अंधे होकर जीने का भी एक अर्थ है। परंतु प्रश्न है कि आदमी अंधा होकर कब तक जीएगा? यदि आंख खुलती है तो इस संसार से भी अधिक सुंदर संसार हमारे सामने होगा या हम एक सुंदर संसार का निर्माण कर सकेंगे।

अब हम एक ऐसा प्रयत्न करें और प्रयत्नों को छोड़ने का प्रयत्न करें। मन, वाणी और शरीर को शान्त करें। कायोत्सर्ग करें और एकाग्र होने का उद्यम करते रहें। भीतर में प्रवेश पाने के लिए एक सेतु का निर्माण करें। श्वास इस काम को पूरा कर सकता है। यदि यह घटना घटित होगी तो समाधि का पहला चरण हस्तगत हो जाएगा। इसके सहारे हम समाधि के चरम-बिन्दु तक सहजतया पहुंच जाएंगे। इससे सारी मूर्च्छा टूटेगी और हम अंधता को समाप्त कर प्रकाश और ज्योति के साथ जी सकेंगे।

११. समाधि : मानसिक समस्या का स्थायी समाधान

- पंच ठाणा अपरिण्णाता जीवाणं अहिताए असुभाए अखमाए अणिस्सेसाए अणाणुगामियत्ताए भवंति, तं जहा—

  सद्दा, रूवा, गंधा, रसा, फासा।
- पंच ठाणा सुपरिण्णाता जीवाणं हिताए सुभाए खमाए णिस्सेसाए आणुगामियत्ताए भवंति, तं जहा—

  सद्दा, रूवा, गंधा, रसा, फासा।
- पंच ठाणा अपरिण्णाता जीवाणं दुग्गतिगमणाए भवंति, तं जहा—

  सद्दा, रूवा, गंधा, रसा, फासा।

१. मनोरंजन—तात्कालिक समाधान।

२. संज्ञा है, वृत्तियां हैं तो असमाधि होती रहेगी।

३. संवेग को उपशान्त करें। रेचन का प्रयोग।

४. प्रियता और अप्रियता असमाधि के बीज। शेष उनका विस्तार।

ग्यारह

मानसिक समस्या

मानसिक समस्याओं को सुलझाने के लिए मनुष्य ने हजारों-हजारों प्रयत्न किए हैं और आज भी वह प्रयत्नशील है। आज का युग ही मानसिक समस्याओं से आक्रान्त नहीं है, अतीत का युग इन समस्याओं से शून्य था, ऐसा नहीं है। अतीत में भी वे समस्याएं थीं और आज भी हैं। हो सकता है कि कभी वे दस प्रतिशत बढ़ गयी हों और कभी कम हो गयी हों। मनुष्य है, मन है तो मन की उलझनें भी अवश्यंभावी हैं। जब-जब मनुष्य ने मानसिक उलझनों का भार अनुभव किया तब-तब उसने उनको सुलझाने का प्रयत्न भी किया है। मनोरंजन के जितने साधन हैं, वे सब मानसिक समस्याओं के संवेदन को कम करने के साधन हैं, मानसिक उलझनों को सुलझाने के साधन हैं। आदमी ताश खेलता है, शतरंज खेलता है, नाटक और सिनेमा देखता है, इनका एकमात्र प्रयोजन है मनोरंजन और मनोरंजन का प्रयोजन है मानसिक उलझनों को कम करना, संवेदनों को मंद करना।

मनोरंजन के साधन मादक द्रव्यों के सेवन जैसे हैं। सिर में दर्द हुआ, एनासीन की गोली ली, दर्द का अनुभव कम हो गया। किन्तु दर्द मिटा नहीं। केवल दर्द का संवेदन कम हो गया। हमारे संवेदन-केन्द्र जो दर्द को पकड़ते हैं, उनके साथ संबंध कट गया तब ऐसा लगा कि दर्द नहीं है। जैसे-जैसे मादक द्रव्यों का असर कम होता गया, वैसे-वैसे दर्द फिर बढ़ता गया।

मनोरंजन के जितने उपाय हैं, वे सब तात्कालिक हैं। बहुत लोग इन तात्कालिक उपायों में रस लेते हैं क्योंकि तात्कालिक उपाय एक भुलावा है। वह यथार्थ पर पर्दा डाल देता है, सचाई को ढक देता है। जब सचाई पर पर्दा आ जाता है तब आदमी मान लेता है कि काम हो गया। सिर का दर्द मिटता नहीं, दबता है, तो भी आदमी मान लेता है कि उससे पूरा छुटकारा मिल गया। मनोरंजन के सभी साधन मानसिक समस्याओं को समाप्त नहीं करते, उन पर

आवरण डालते हैं। आदमी भुलावे में आकर सचाई को विस्मृत कर देता है।

मनोविज्ञान : तनावमुक्ति के परिप्रेक्ष्य में

मनोवैज्ञानिक मानसिक समस्याओं के समाधान के लिए बहुत प्रयत्नशील हैं। पुराने जमाने में केवल शरीर की चिकित्सा पर अधिक बल दिया जाता था किन्तु आज मनोविज्ञान मानसिक उलझनों के निवारण के लिए अनेक प्रयोग प्रस्तुत कर रहा है। डॉ० जार्ज स्टीवन्सन और डॉ० टील ने एक पुस्तक लिखी है—'लाइफ, टेन्सन एंड रिलेक्सेशन।' उस पुस्तक में तनावमुक्ति के कुछ उपाय निर्दिष्ट हैं। उनका कथन है कि जब क्रोध आए या क्रोध का तनाव बढ़े तब किसी न किसी प्रकार के शारीरिक श्रम में लग जाना चाहिए, जिससे कि ध्यान बंट जाने के कारण क्रोध का आवेग कम हो जाए। दूसरा प्रयोग यह है कि जब क्रोध आदि का आवेग आए तब स्वाध्याय या किसी मनोरंजन में लग जाना चाहिए।

ये दोनों उपाय भी तात्कालिक हैं, सामयिक हैं, किन्तु ये समस्या को स्थायी रूप में समाहित नहीं कर सकते।

मनोवैज्ञानिकों की शोध के अनुसार यह तथ्य प्रतिपादित हुआ है कि यदि व्यक्ति नौ मिनट तक क्रोध के आवेश में रहता है तो नौ घंटा तक काम करने में प्रयुक्त होने वाली शक्ति नष्ट हो जाती है। कहां नौ मिनट और कहां नौ घंटा! कितनी हानि? यह धार्मिक उपदेश नहीं है, यह एक प्रयोगशाला में परीक्षित सत्य है।

धर्मशास्त्र क्रोध के दुष्परिणामों की लंबी तालिका प्रस्तुत करते हैं। वह सारी तालिका नरक के संदर्भ में कही गयी है। क्रोध करने वाला नरकगामी होता है। क्षमा करने वाला स्वर्ग को प्राप्त होता है। मध्यकाल में इन दो शब्दों में सारी समस्या को बांध लिया। आज का आदमी इस भाषा को नहीं समझ सकता कि क्रोध करने से नरक मिलता है और क्षमा करने से स्वर्ग मिलता है। एक बार यह मान भी लिया जाए कि क्रोध करने से नरक मिलता है, तो भी उसके लिए कोई फर्क नहीं पड़ता, क्योंकि उसके मन में न नरक का भय है और न स्वर्ग का प्रलोभन है। आदमी इस भय और प्रलोभन से ऊपर उठ चुका है।

किन्तु आज की शरीरशास्त्रीय और मानसशास्त्रीय खोजों ने जिन सचाइयों का उद्घाटन किया है वे सचमुच सोचने के लिए बाध्य करती हैं। किन्तु वे भी सही और स्थायी समाधान नहीं हैं। वे भी तात्कालिक हैं। यह माना गया है कि भावनात्मक आवेगों (इमोसन्स) का जो आघात होता है, उसे न रोकना चाहिए और न दबाना चाहिए। उनका निरोध और दमन—दोनों हितकर नहीं होते। उन आवेगों का तात्कालिक उपाय भी किया जा सकता है, किन्तु उसे स्थायी मान लेना उचित नहीं होता।

आवेग-उपशमन : व्यावहारिक उपाय

आवेगों के उपशमन के लिए अनेक उपाय सुझाए गए हैं—गुस्सा आए तो मुंह में मिश्री की डली लेकर चूसने लग जाओ, ध्यान बंट जाएगा। ध्यान बंटते ही गुस्सा मंद हो जाएगा। गुस्सा आए तो मुंह में पानी भर लो। पानी को निगलो मत। गुस्सा बदल जाएगा।

एक युवती बहुत कलह करती थी। लड़ना-झगड़ना उसका दैनंदिन का कार्य बन गया था। उसके कटु परिणामों से भी वह पीड़ित थी। एक दिन वह अपने पड़ोसी के पास जाकर बोली—पिताजी! आदत बदलती नहीं है। कलह से तंग आ गयी हूं। क्रोध न आए, कुछ उपाय सुझाएं। उसने कहा—बेटी! मेरे पास इसकी अचूक दवा है। वह मैं तुम्हें देता हूं। बहुत कीमती है। जब गुस्सा आए तब एक घूंट दवा ले लेना, किन्तु उसको पन्द्रह-बीस मिनट तक निगलना मत, मुंह में ही रखना। कुछ ही दिनों में तुम्हारी आदत बदल जाएगी।

युवती का दिन क्रोध और कलह के साथ ही उगता था और क्रोध और कलह के साथ ही अस्त होता था। इस दुनिया में आवेगों के उद्दीपन के हेतु भरे पड़े हैं। पग-पग पर उनका सामना होता रहता है। आदमी उनसे बच नहीं पाता।

युवती काम कर रही थी। उत्तेजना का अवसर आया। उसने तत्काल उस मूल्यवान् औषधि की एक घूंट मुंह में ली। क्रोध का आवेग भी तात्कालिक होता है। वह पंद्रह-बीस मिनट कैसे रहे? उसका क्रोध शान्त हो गया। दूसरा प्रसंग आया। तीसरा और चौथा प्रसंग आया। उसने वैसा ही किया। तीन दिन तक प्रयोग किया। कलह शांत हो गया। घर वाले अचंभे में पड़ गए। इतना परिवर्तन कैसे हुआ?

पड़ोसी से पूछा ऐसी क्या दवा है जो भयंकर क्रोध को भी शांत कर दे। पड़ोसी ने कहा—केवल पानी दिया था। जब पानी मुंह में होता है तब क्रोधी व्यक्ति बोल नहीं सकता। बोले बिना क्रोध का उभार नहीं होता। वह धीरे-धीरे शान्त हो जाता है। यही इसका रहस्य है।

यह भी एक उपाय है। इससे क्रोध आना रुकेगा नहीं, किन्तु क्रोध बाहर अभिव्यक्त नहीं होगा। इसलिए क्रोध का जो कटु परिणाम होना चाहिए वह नहीं होगा।

क्रोध आता है। उसका आभास होता है। प्रकृति ने आभास को मिटाने के लिए व्यवस्था भी की है। प्रकृति के पास व्यवस्था है कि कोई भी आवेग आए, चाहे वह ईर्ष्या हो या क्रोध, मान हो या माया, घृणा हो या प्रेम, उसको शान्त किया जा सकता है।

एक सुप्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक ने लिखा है—उत्तेजना, संवेग आदि आएं तो

उनको दबाना नहीं चाहिए, उन्हें बाहर निकाल देना चाहिए। आवेगों को निकालने का सबसे अच्छा उपाय है रोना। रोने पर बड़ी-बड़ी खोजें हुई हैं। महिलाओं को हार्ट-ट्रबल का रोग कम होता है और पुरुषों में यह अधिक होता है। यह क्यों? कारण स्पष्ट है कि महिलाएं रोकर अपने दबावों को बाहर निकाल देती हैं और पुरुष रोने में संकोच करते हैं, इसलिए उनका दबाव भीतर एकत्रित होता जाता है और वह भारी बनकर कभी इतने जोर से धक्का मारता है कि हृदय उस आघात को सहन नहीं कर पाता। महिलाओं के आयुष्य में और पुरुषों के आयुष्य में भी बहुत बड़ा आनुपातिक अंतर होता है।

एक घटित घटना है। एक बालक था। उसका नाम था जीवक कुमार। वह बहुत तत्त्वज्ञानी और प्रबुद्ध था। उसके साथ एक विचित्र आदत जुड़ी हुई थी। जब भी वह भोजन करने बैठता, जरूर रोता। पांच-सात मिनट रोना उसका निश्चित क्रम था। भोजन की थाली परोसी हुई है। वह भोजन करने की तैयारी में है। पर वह रो रहा है, सिसक रहा है। एक दिन उस समय वहां मुनि आ गए। उन्होंने देखा। रोना अजीब-सा लगा। उन्होंने रोने का कारण पूछा। बालक प्रबुद्ध था। उसने कहा—रोने के तीन लाभ हैं—(१) चाक्षुष यंत्र के आसपास जो मल या कफ जमा होता है, वह रोने से साफ हो जाता है। (२) आंखें साफ हो जाती हैं, की शक्ति बढ़ जाती है। (३) भोजन भी ठंडा और सुपाच्य हो जाता है।

आज का मनोविज्ञान कह सकता है कि रोने का चौथा लाभ है—रोने वाले के हार्ट ट्रबल नहीं होता।

तनाव को कम करने का एक उपाय है—रेचन। रोना प्रकृति का रेचन है, प्रकृति की व्यवस्था है। रेचन होता है और दबाव कम हो जाता है। दबाव भीतरी स्नायुओं में संचित नहीं होता, बाहर निकल जाता है। कठिनाई तब होती है जब तनाव स्नायु-संस्थान में संचित हो जाता है। इतना संचय बढ़ जाता है कि वह स्नायु-संस्थान को ही तोड़ने लग जाता है। तब उच्च रक्तचाप, मस्तिष्क पर दबाव, हार्ट-ट्रबल आदि बीमारियां पैदा होती हैं। आदमी संभाल नहीं पाता। आधियां और व्याधियां आक्रान्त कर लेती हैं।

निर्जरा : रेचन की प्रक्रिया

धर्म के क्षेत्र में यह प्रश्न पूछा जाता है कि क्या धर्म के पास कोई रेचन का उपाय है? धर्म दमन सिखाता है। वह कहता है—गुस्से को दबाओ, कामवासना का दमन करो, भय और अहं को दबाओ। धर्म केवल दबाने की ही बात करता है। यह सही नहीं है। धर्म ने कभी दमन नहीं सिखाया। उसके पास निर्जरा का सिद्धान्त है। निर्जरा का अर्थ है—रेचन। जो भीतर संचित है उसको बाहर निकालना, यह है निर्जरा। इतना निकालना, इतना रेचन करना कि भीतर में जो

संचित है, वही समाप्त न हो जाए, किन्तु संचित करने का तंत्र भी समाप्त हो जाए।

जब किसी पंछी की पांखें रजों से भर जाती हैं तब वह अपनी पांखों को प्रकंपित कर सारे रजकणों को झाड़ देता है। इसी प्रकार इतना प्रकंपन करो कि सारा दबाव समाप्त हो जाए, बाहर निकल जाए, रेचन हो जाए। यह निर्जरा की प्रक्रिया है। यह केवल क्रोध या भय के तनाव को समाप्त करने की ही प्रक्रिया नहीं है, किन्तु क्रोध और भय के मूल तंत्र को मिटाने की प्रक्रिया है।

प्रवृत्तियां और संवेग

मनोविज्ञान के प्रसिद्ध विद्वान् मेक्डोनल ने चौदह प्रवृत्तियां और चौदह प्रकार के संवेग बतलाएं हैं। इनकी तुलना मोह कर्म की प्रकृतियों से की जा सकती है।

जैन परंपरा में कर्मशास्त्र पर बहुत अध्ययन हुआ है। जब मैं वर्तमान के मनोविज्ञान और जैन दर्शन को तुलनात्मक दृष्टि से पढ़ता हूं तो लगता है दोनों में बहुत साम्य है। यह तथ्य है कि यदि आज का मनोवैज्ञानिक कर्मशास्त्र का अध्ययन नहीं करता है तो वह मानसिक समस्याओं का पूरा समाधान नहीं दे सकता और आज का जैन विद्वान् यदि मानसशास्त्र का गहरा अध्ययन नहीं करता है तो वह कर्मशास्त्र को पूरा समझ नहीं पाता।

मैं जब-जब मनोविज्ञान को पढ़ता हूं तो मुझे लगता है कि आज का मनोवैज्ञानिक कर्मशास्त्र की भाषा में बोल रहा है, सोच रहा है। मनोविज्ञान ने चौदह मूल प्रवृत्तियां और चौदह प्रकार के संवेग प्रतिपादित किए हैं। एक ओर इनको रखें और दूसरी ओर मोहनीय कर्म की प्रकृतियों को रखें तो आश्चर्य होगा कि दोनों में भावना की ही तुलना नहीं है, शब्दों की भी तुलना है। वह चार्ट इस प्रकार है—

मूल प्रवृत्तियां	मूल संवेग
१. पलायनवृत्ति	भय
२. संघर्षवृत्ति	क्रोध
३. जिज्ञासावृत्ति	कुतूहलभाव
४. आहारान्वेषणवृत्ति	भूख
५. पित्रीयवृत्ति	वात्सल्य, सुकुमार भावना
६. यूथवृत्ति	एकाकीपन तथा सामूहिकता भाव
७. विकर्षवृत्ति	जुगुप्साभाव
८. कामवृत्ति	कामुकता
९. स्वाग्रहवृत्ति	स्वाग्रह भाव, उत्कर्ष भाव

१०. आत्मलघुतावृत्ति	हीनता भाव
११. उपार्जनवृत्ति	स्वामित्व भाव, अधिकार भाव
१२. रचनावृत्ति	सृजन भाव
१३. याचनावृत्ति	दुःख भाव
१४. हास्यवृत्ति	उल्लसित भाव

मोहनीय कर्म के विपाक	मूल संवेग
१. भय	भय
२. क्रोध	क्रोध
३. जुगुप्सा	जुगुप्सा भाव
४. स्त्रीवेद ५. पुरुषवेद ६. नपुंसकवेद	कामुकता
७. अभिमान	स्वाग्रहभाव, उत्कर्षभाव
८. लोभ	स्वामित्वभाव, अधिकारभाव
९. रति	उल्लसित भाव
१०. अरति	दुःख भाव

९. उपचार : स्थायी उपचार

मनोविज्ञान की भी एक कमी है। वह अब तक जितने उपचार सुझा पाया है, वे सारे तात्कालिक उपचार हैं, स्थायी एक भी नहीं है। कर्मशास्त्र स्थायी समाधान देता है। आवेगों का तात्कालिक उपचार करना कोई बुरी बात नहीं है, किन्तु वहां अटक जाना बुरा है। उसको पर्याप्त नहीं समझ लेना चाहिए। वहां से आगे प्रस्थान कर संवेगों को पूर्णरूप से समाप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए। तात्कालिक उपचारों से संवेग दबते हैं, निर्मूल नहीं होते। जब तक वृत्तियां, संज्ञाएं और संस्कार समाप्त नहीं होते तब तक आवेग उत्पन्न होते ही रहते हैं। इस दुनिया में उद्दीपनों की कमी नहीं है। जैसे-जैसे उद्दीपन सामने आते हैं, संवेग जाग जाते हैं। उनका उपचार करते हैं। वे शांत होते हैं, फिर जाग जाते हैं। फिर उपचार करते हैं, शान्त होते हैं और फिर जाग जाते हैं। यह क्रम चलता रहता है। इस अनन्त अव्यवस्था का कहीं अन्त नहीं आता। हम उस मूल पर प्रहार करें जहां से क्रोध, भय और चिन्ताएं आती हैं।

इतना मान लेना ही पर्याप्त नहीं है कि हमारे भीतर सभी आवेगों के संवेदन-केन्द्र हैं। जब बाह्य उद्दीपनों से वे उत्तेजित होते हैं तब आवेग अभिव्यक्त होते हैं। हमें इससे आगे जाना चाहिए। आगे भी कुछ है। इसी बिन्दु पर मनोविज्ञान और

कर्मशास्त्र में अन्तर आता है। यह सही है कि हमारे मस्तिष्क में आवेगों के संवेदन-केन्द्र हैं। उनको उद्दीपन करने वाले कारण भी हैं, किन्तु इतना ही नहीं है। ये दोनों स्थूल तथ्य हैं। मूल बात है—संज्ञा, वृत्ति और संस्कार। महर्षि पतंजलि ने जिसे वृत्ति कहा, जैन आगमों ने जिसे संज्ञा कहा और नैयायिक आदि ने जिसे संस्कार कहा वे सारे वृत्तिकेन्द्र, संज्ञाकेन्द्र, संस्कारकेन्द्र हमारे भीतर अवश्य हैं, किन्तु वे स्थूल शरीर में नहीं हैं, सूक्ष्म शरीर में हैं, सूक्ष्मतम शरीर में हैं। जब तक ये केन्द्र क्षीण नहीं होते, उपशान्त नहीं होते तब तक ये वृत्तियां जागती रहती हैं, कभी समाप्त नहीं होतीं। आदमी संवेगों का भार ढोता रहता है, दुःख पाता रहता है। हमें मूल को पकड़ना है, उस पर प्रहार करना है।

मूल है प्रियता की अनुभूति। यह संवेगों का कारण है। जब तक प्रियता या रागात्मक अनुभूति समाप्त नहीं होगी तब तक न शोक को मिटाया जा सकता है और न भय को और न क्रोध को। मूल सुरक्षित हैं तो पत्ते और फल-फूल आते ही रहेंगे। उनको रोका नहीं जा सकता।

प्रियता और अप्रियता दो नहीं हैं। प्रियता है इसीलिए अप्रियता होती है। प्रिय वस्तु में कोई बाधक बनता है तो अप्रियता की वृत्ति जाग जाती है। अप्रियता का मूल है प्रियता। अप्रियता का अपने आपमें कोई अस्तित्व ही नहीं है। निषेध का स्वतंत्र अस्तित्व नहीं होता। जितने नेगेटिव हैं वे पोजिटिव के कंधे पर चलते हैं। अस्तित्व के आधार पर नास्तित्व और विधि के आधार पर निषेध चलता है। वे पंगु हैं। अपने पैरों से कभी नहीं चलते। यदि अहिंसा न हो तो हिंसा कभी नहीं चल सकती। लोग कहते हैं—हिंसा बहुत शक्तिशाली है, झूठ बहुत शक्तिशाली है, किन्तु गहरे में उतरकर देखें तो ज्ञात होगा कि यदि अहिंसा न हो तो हिंसा अपनी मौत मर जाए और यदि सत्य न हो तो झूठ का अस्तित्व ही न रहे। झूठ सचाई के सहारे पलता है या सचाई झूठ के सहारे पलती है? हिंसा अहिंसा के सहारे पलती है या अहिंसा हिंसा के सहारे पलती है? आदमी जीवन में हिंसा कम करता है, झूठ कम बोलता है। उसका सारा व्यवहार अहिंसा और सत्य के आधार पर चलता है। सारे आवेग आन्तरिक अच्छाइयों के आधार पर पलते हैं।

मूल की खोज

मूल है—प्रियता। हम उसका स्पर्श करें। धर्म और अध्यात्म का सारा उपदेश प्रियता की अनुभूति को कम करने की प्रेरणा देता है। क्रोध क्यों आता है? प्रियता है इसीलिए क्रोध आता है। एक रहस्य जान लेना चाहिए। अपनी पत्नी या पुत्र पर जितना क्रोध आएगा, उतना पड़ोसी पर नहीं आएगा। क्योंकि पड़ोसी की अपेक्षा पत्नी और पुत्र पर प्रियता का भाव अधिक है। भय का आवेग क्यों

विकृतियां बाहर निकलती हैं। आप मानेंगे कि यह शारीरिक उपचार मात्र है। लम्बा श्वास लेने से ऑक्सीजन अधिक प्राप्त होगा और लम्बा श्वास छोड़ने से कार्बन का अधिक रेचन होगा। यह मात्र शारीरिक है।

यह कथन ठीक है। यदि कोरा दीर्घश्वास ही हो तो यह शारीरिक उपचार-मात्र होगा। किन्तु साधक दीर्घश्वास के साथ-साथ चित्त को निर्मल बनाने की भावना भी रखता है। उसका उद्देश्य होता है—चित्त को निर्मल बनाना, चित्त के विकारों को मिटाना। यह भावना अपना काम करती है और मूल प्रियता पर प्रहार करती है। दीर्घश्वास की प्रक्रिया में प्रियता की अनुभूति का भी साथ ही साथ रेचन होता है।

आप प्रयोग करें। गुस्सा आने लगे तब दो-चार दीर्घश्वास लें। पांच-दस दीर्घश्वास लें। क्रोध का आवेग शांत होने लगेगा। मन में अकस्मात् भय या वासना जाग जाए, तत्काल पांच-दस दीर्घश्वास लें। भय और वासना का आवेग कम हो जाएगा। आपको अनुभव होने लगेगा कि मन का भार कम हो रहा है, दबाव कम हो रहा है, समाधि प्राप्त हो रही है।

समाधि मानसिक समस्याओं का स्थायी समाधान है। यह लम्बे समय में पचने वाला होता है, जल्दी नहीं पचता। समाधि की सिद्धि समय-सापेक्ष होती है।

समस्या का मूल है—प्रियता और उसका स्थायी समाधान है—समाधि का जागरण।

१२. समाधि के मूल सूत्र

१. आत्मा की अमरता का बोध—
मैं इस शरीर की निष्पत्ति नहीं हूं।

२. अपने स्वभाव का बोध—
- आनन्द मेरा स्वभाव है।
- शक्ति मेरा स्वभाव है।
- चेतना मेरा स्वभाव है।
- दुःख मेरा स्वभाव नहीं है।
- शक्तिशून्यता मेरा स्वभाव नहीं है।
- अज्ञान मेरा स्वभाव नहीं है।

३. आत्मा की स्वतंत्रता का बोध—
- मैं परिस्थिति-परिचालित यंत्र नहीं हूं।

४. मैं दुःख भोगने के लिए नहीं जन्मा हूं—आहार, भय, मैथुन, काम और परिग्रह के तनाव से ग्रस्त रहने के लिए नहीं जन्मा हूं।

५. मेरा उद्देश्य है—स्वभाव की सतत स्मृति, सतत दर्शन और विभाव का रेचन।

६. दुःख-चक्र—
- राग-द्वेष
- अतृप्ति-लोभ
- अदत्त-मायामृषा
- पहले, पीछे और प्रयोग-काल में चिंता
- क्लेश या तनाव।

७. चेतन मन के स्तर पर जीने वाला आस्तिक कैसे ?

८. आस्तिक और धार्मिक होने के लिए अवचेतन के स्तर पर जाना होगा।

९. अवचेतन के सुख का पता लग जाने पर जीवन का आधार ही बदल जाएगा। सभ्यता और संस्कृति का आधार ही बदल जाएगा।

बारह

नींव : ध्वज

हमारी दृष्टि कभी ऊपर जाती है और कभी नीचे, कभी पत्तों पर जाती और कभी जड़ पर, कभी ध्वज पर जाती है और कभी नींव पर। जब केव सुन्दरता की बात होती है या कोई सूचना प्राप्त करनी होती है तब ध्वज उस माध्यम बनता है। मकान पर ध्वज लहराता है, पता लग जाता है कि यह किस है ? ध्वज सुन्दर भी लगता है। किन्तु जब तीन मंजिले मकान को सात मंजि बनाना होता है तब दृष्टि ध्वज की ओर नहीं जाती, वह नींव को देखती है। नींव मजबूत है या नहीं ? वह सात मंजिलों के भार को झेलने में सक्षम है नहीं ? यदि नींव मजबूत है तो उस पर कितनी ही मंजिलें खड़ी की जा सकती है उस समय ध्वज नहीं देखा जाता और यदि कोई सुन्दर ध्वज के आधार पर मंजि चढ़ाना चाहे तो वह निरा मूर्ख होगा।

प्रत्येक दृष्टि का अपना उपयोग है, अपना मूल्य है। ध्वज का अपना मूल्य और नींव का अपना मूल्य है।

व्यक्ति जीवन का निर्माण करना चाहता है। इसके लिए उसे आधार प दृष्टिपात करना होगा। यदि जीवन की नींव सुदृढ़ है तो उस पर अनेक मंजि खड़ी की जा सकती हैं। जो व्यक्ति अपने जीवन की नींव को देखे बिना निर्मा प्रारम्भ कर देता है, वह पछताता है। निर्माण कभी पूरा हो नहीं सकता।

समाधि के पांच आधार

जीवन की समस्याओं और दुःखों से निपटने के लिए समाधि बहुत जरूरी है किन्तु समाधि तब घटित होती है जब मूल आधार सुदृढ़ होता है। समाधि के मू आधार क्या हैं ?

समाधि का पहला आधार है—आत्मा की अमरता। जो व्यक्ति अपने आपको इस शरीर की निष्पत्तिमात्र मानता है—मेरा अस्तित्व, मेरा चैतन्य इ

शरीर से निष्पन्न है—यह मानता है, वह कभी समाधि को उपलब्ध नहीं हो सकता। जो ऐसा नहीं मानता, वह समाधि को प्राप्त हो सकता है। जो व्यक्ति ऐसा मानता है कि डिम्ब और शुक्राणु के योग से मैं पैदा हो गया। यही मेरे अस्तित्व का मूल कारण है। कुछ क्रोमोसोम मिले, गुणसूत्र मिले और मेरा अस्तित्व प्रकट हो गया, ऐसा मानने वाला व्यक्ति कभी समाधि को उपलब्ध नहीं हो सकता। इस मान्यता का आधार केवल वर्तमान का जीवन है। जिसका आधार वर्तमान का जीवन होता है, उसके लिए गहरी समाधि की जरूरत नहीं होती। वह समाधि तक जा नहीं पाता।

जिस व्यक्ति ने यह साक्षात् अनुभव कर लिया कि उसका अस्तित्व केवल वर्तमान के शरीर या जीवन का अस्तित्व नहीं है, उसके अस्तित्व की जड़ें इतने गहरे में हैं कि वे दृश्य नहीं हैं। जिसने आत्मा के अमरत्व का अनुभव कर लिया, वह व्यक्ति समाधि के प्रथम सोपान का आरोहण कर लेता है। 'मैं इस शरीर की निष्पत्ति नहीं हूं', 'आत्मा अमर है'—इस आस्था का निर्माण समाधि का पहला सूत्र है। जिस व्यक्ति को आत्मा की त्रैकालिकता और त्रिकालाबाधित सत्य का अनुभव हो जाता है, जो यह साक्षात् देख लेता है कि उसका अस्तित्व अतीत में था, वर्तमान में है और भविष्य में होगा, उसके मन में जिज्ञासा का एक अंकुर प्रस्फुटित होता है कि मेरा स्वभाव क्या है? जिसका अस्तित्व केवल वर्तमान से संबद्ध है, जो त्रैकालिक नहीं है, वहां स्वभाव का प्रश्न नहीं उठता। उसका कोई स्थिर स्वभाव नहीं होता। उसका स्वभाव होता है पर सतही।

भारत के प्राचीन वैज्ञानिकों ने स्वभाव का वर्गीकरण करते हुए कहा है—क्रोध आदमी का स्वभाव है। लालच और उत्तेजना आदमी का स्वभाव है। मानसिक खिन्नता आदमी का स्वभाव है। जिस व्यक्ति में पित्त की प्रधानता होती है, वह क्रोधी होता है। जिस व्यक्ति में कफ की प्रधानता होती है, वह लालची होता है और जिस व्यक्ति में वायु की प्रधानता होती है, उसमें अवसाद होता है, मानसिक खिन्नता होती है। वह बातूनी और प्रवाहपाती होता है।

यह वर्गीकरण शरीर के गुण-धर्मों के आधार पर किया गया है। वात, पित्त और कफ के आधार पर मनुष्य के स्वभाव का निर्माण होता है। चेतना को वर्तमान की सीमा में स्वीकार करने वाले व्यक्ति के मन में इससे आगे स्वभाव की कोई भी जिज्ञासा नहीं होती, उसका सिद्धान्त भी नहीं होता और अपेक्षा भी नहीं होती। किन्तु हमारा अस्तित्व जब त्रैकालिक होता है तो स्वभाव इस वर्तमान शरीर की सीमा में बंधता नहीं, केवल वात, पित्त और कफ की सीमा में नहीं बंधता। यह एक सचाई है कि केवल शरीर में होने वाले दोषों के आधार पर स्वभाव की व्याख्या नहीं की जा सकती। उसकी व्याख्या के लिए और गहरे में उतरना आवश्यक है। इस गहराई में समाधि के दूसरे आधार की प्राप्ति होती है।

समाधि का दूसरा आधार-सूत्र है—आनन्द मेरा स्वभाव है। वह आनन्द जो सहज और वस्तु-निरपेक्ष है। वह आनन्द जिसके लिए पदार्थ अपेक्षित नहीं। वह आनन्द जिसके लिए मान-सम्मान अपेक्षित नहीं। वह आनन्द जिसके लिए पूजा-प्रतिष्ठा अपेक्षित नहीं। वह आनन्द जो सहज है, अकृत्रिम है। वह असीम आनन्द मेरा स्वभाव है। दु:ख मेरा स्वभाव नहीं है, आनन्द मेरा स्वभाव है। शक्ति-हीनता मेरा स्वभाव नहीं है, शक्ति-संपन्नता मेरा स्वभाव है। अज्ञान मेरा स्वभाव नहीं है, ज्ञान मेरा स्वभाव है। आनन्द, शक्ति और चेतना या ज्ञान—यह मेरा स्वभाव है। दु:ख, अशक्ति और अज्ञान मेरा स्वभाव नहीं है। मैं दु:ख का, दुर्बलता का और अज्ञान का या अंधकार का अनुभव करता हूं—यह मेरा अपना भाव नहीं है, आरोपित या थोपा हुआ भाव है।

अज्ञान आरोपित है, स्वभाव नहीं है। व्यक्ति जैसे-जैसे आत्मज्ञान को उपलब्ध होता है, अपने अस्तित्व के प्रति पूर्ण जागरूक हो जाता है, उसे इस सचाई का स्पष्ट भान हो जाता है कि अज्ञान मेरा धर्म नहीं है, आरोपित धर्म है। जब तक व्यक्ति सचाई को नहीं जानता तब तक उसका दर्शन मिथ्या होता है। जब वह सचाई को जान जाता है तब उसका दर्शन सम्यक् होने लग जाता है। वह सम्यक् दर्शन बन जाता है। इसमें यथार्थ दर्शन होता है। मिथ्यादर्शन में होता कुछ है और जाना कुछ और ही जाता है।

एक वैज्ञानिक था। उसका नौकर अनपढ़ था। वैज्ञानिक अन्तरिक्ष के ग्रहों, नक्षत्रों और तारों की खोज करता था। वह कभी-कभी रात भर तारों को दूरवीक्षण यंत्र से देखता रहता। उनका अध्ययन करता। नौकर भी कभी-कभी रात भर बैठा रहता। एक दिन वैज्ञानिक तारों के अध्ययन में बहुत व्यस्त था। अचानक एक तारा टूटा। नौकर ने देख लिया। वह उछला और जोर से चिल्ला उठा—मेरा स्वामी कितना अचूक निशानेबाज है कि तारे को भी टूटना पड़ा।

अज्ञान या मिथ्यादर्शन के कारण होता कुछ है और आदमी पकड़ता कुछ और है, जानता कुछ और है।

जब तक दृष्टि सम्यग् नहीं होती समाधि की बात व्यर्थ है। समाधि के लिए ज्ञान, शक्ति, प्राणवत्ता और आनन्द का होना अनिवार्य है। सम्यग्-दर्शन होने पर इस सचाई का अनुभव हो जाता है कि सत्य और आनन्द मेरा स्वभाव है, चेतना और ज्ञान मेरा स्वभाव है। उस स्थिति में भ्रांतियां और दु:ख टूटने शुरू हो जाते हैं और असमाधि के सारे तत्त्व हटने लग जाते हैं। समाधि का आधार दृढ़ बनता जाता है।

समाधि का तीसरा आधार है—आत्मा की स्वतन्त्रता। इस अवस्था में व्यक्ति मानने लगता है कि मैं परिस्थिति से संचालित यंत्र नहीं हूं। मेरा अपना स्वतन्त्र अस्तित्व है। मेरा अपना स्वतन्त्र कर्तृत्व है। जब व्यक्ति को अपनी

स्वतंत्रता का बोध होता है और 'मैं परिस्थिति का दास नहीं हूं'—इसका स्पष्ट भान हो जाता है तब उसमें हजार गुना साहस जाग जाता है। उसकी कर्मजा-शक्ति इतनी विकसित हो जाती है कि वह असंभव कार्य करने के लिए भी तैयार हो जाता है। जब तक अपनी स्वतंत्रता का बोध नहीं होता तब तक मन की दुर्बलता, मन का भय नष्ट नहीं होता। वह सदा डरा-डरा रहता है और लक्ष्य की ओर कदम बढ़ा नहीं सकता। वह समाधि की दिशा में कभी प्रस्थान नहीं कर सकता। यदि प्रस्थान कर भी लेता है तो आगे नहीं बढ़ सकता।

ढाई हजार वर्ष पूर्व की एक ऐतिहासिक घटना है। कोल जाति के लोगों ने ।त्रियों पर आक्रमण करना चाहा। परस्पर संघर्ष चल रहा था। कोल जाति के ोग एकत्रित हुए। सेना बनाई। आगे प्रस्थान कर दिया। आगे जा रहे थे, पर नों में क्षत्रियों का भय सता रहा था। क्षत्रियों के प्रहार उन्हें याद आने लगे। न कमजोर हो गया। शरीर भी भय से कांपने लगा। प्रथम पंक्ति में चलने वाले निकों ने सोचा—हम व्यर्थ ही मारे जाएंगे। वे पीछे खिसक गए। इसी प्रकार ारी सेना पीछे खिसकने लगी। वह अपने गांव आ पहुंची। न संग्राम प्रारम्भ आ था और न क्षत्रियों के प्रहार ही प्रारंभ हुए थे। उससे पूर्व ही वे कमजोर हो ए और घर आ पहुंचे।

जब तक आत्मा के अमरत्व का बोध नहीं होता, अपने स्वतंत्र कर्तृत्व का बोध हीं होता, अपने अस्तित्व और चैतन्य का बोध नहीं होता तब तक वह समाधि की ।शा में प्रस्थान कर लेने पर भी संकल्प-विकल्प के जाल में फंसकर पीछे खिसक ाता है। समाधि की दिशा निर्विकल्प चेतना की दिशा है। समाधि की दिशा सारे वकल्पों और संकल्पों को समाप्त करने की दिशा है। वहां पहुंचने पर सारे संकल्प ौर विकल्प समाप्त, मन को भटकाने वाली सारी प्रेरणाएं समाप्त, सारी बाधाएं माप्त हो जाती हैं।

जिस व्यक्ति को सचाई का अवबोध नहीं होता, वह समाधि की दिशा में ास्थान करते ही यह सोचने लगता है—मैं आगे क्यों जाऊं? मैं ही आगे क्यों ढूं? मैं आंखें बन्द कर ध्यान में क्यों बैठूं? आंखें देखने के लिए हैं। उन्हें बन्द खने का प्रयोजन ही क्या है? कान सुनने के लिए हैं, जीभ रसास्वादन के लिए ै। फिर कानों का संयम और जीभ का संयम क्यों करूं? इस प्रकार वह व्यक्ति पने मार्ग से खिसकते-खिसकते मूल स्थान पर आ जाता है। इसलिए यह निवार्य है कि समाधि की साधना करने वाले प्रत्येक साधक में अपने अस्तित्व ौर कर्तृत्व के प्रति आस्था हो, उसका भान हो। जिसमें यह आस्था नहीं होती, जसको इन सचाइयों का बोध नहीं होता, जिसको आत्मा की अमरता और वतन्त्रता का भान नहीं होता, जिसे चेतना की त्रैकालिकता का ज्ञान नहीं होता, वह समाधि की दिशा में प्रयाण नहीं कर सकता और यदि करता है तो वह शीघ्र

ही खिसक कर असमाधि के दलदल में फंस जाता है, वहां से फिर निकल नहीं पाता।

समाधि का चौथा आधार है—मैं दुःख भोगने के लिए नहीं जन्मा हूं। यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण सूत्र है। जिस व्यक्ति को यह ज्ञात हो जाता है कि उसके भीतर असीम आनन्द है, वह व्यक्ति दुःख क्यों भोगेगा ? कैसे भोगेगा ? जिसको अपने असीम आनन्द का ज्ञान नहीं है, वह व्यक्ति दुःख भोग सकता है। जो व्यक्ति यह मानता है कि जैसी परिस्थिति होती है, वैसा ही उसे भुगतना पड़ता है। यदि कठिनाई आती है तो उसे दुःख भुगतना पड़ेगा, उलझन आती है तो उलझना पड़ेगा और समस्या आती है तो उसे भोगना पड़ेगा। किन्तु जिसे यह पता है कि उसके भीतर अनन्त आनन्द का महासागर हिलोरें ले रहा है, उसमें नयी चेतना जागती है और उसमें इस आस्था का निर्माण होता है कि मैं दुःख भोगने के लिए नहीं जन्मा हूं। जिस अज्ञान के कारण मैं दुःख भोग रहा हूं, उस अज्ञान को मैं मिटा दूंगा और आनन्द के महासागर में गोते लगाऊंगा। वह कभी दुःखी नहीं हो सकता।

आशा : निराशा

जीवन के दो पक्ष हैं—एक है आशा का पक्ष और दूसरा है निराशा का पक्ष। एक है उल्लास और हर्ष का पक्ष और दूसरा है चिन्ता और विषाद का पक्ष एक है अभय का पक्ष और दूसरा है भय का पक्ष। मनुष्य का स्वभाव ही है कि वह शुक्लपक्ष की ओर ध्यान कम देता है, सदा कृष्णपक्ष को ही देखता रहता है मनुष्य की चेतना का निर्माण ही कुछ ऐसा हुआ है कि वह सदा कमी की ओर देखता है। वह चिन्ता, निराशा और भय को जल्दी पकड़ता है। आनन्द, आशा और अभय को वह जल्दी पकड़ नहीं पाता।

बीमारी सीने तक

अमेरिका के भूतपूर्व कृषिमंत्री एन्डरसन ने लिखा है—मैं इक्कीस वर्ष का था। बीमार हो गया। टी० बी० की भयंकर बीमारी। डॉक्टरों ने अचिकित्स्य घोषित कर दिया। अस्पताल में एक बूढ़ा आदमी रहता था। वह मेरे पास आकर बोला—बेटे ! अभी तुम्हारी अवस्था बहुत छोटी है। एक महत्त्वपूर्ण बात कहना चाहता हूं। देखो, यदि तुम्हारी बीमारी सीने तक ही सीमित रही तो तुम्हें कोई खतरा नहीं है और यदि यह मस्तिष्क तक पहुंच गई तो फिर जी नहीं सकोगे। ध्यान रखना, सीने की बीमारी मस्तिष्क तक न पहुंच जाए। इस बात ने मुझे बहुत प्रभावित किया और उसी क्षण से मैं इस प्रयत्न में लग गया कि सीने की बीमारी मस्तिष्क तक न पहुंचे। मैंने चिन्ता छोड़ दी। प्रसन्नता से जीने लगा।

कुछ ही दिनों में मैं स्वस्थ हो गया। डॉक्टरों को बहुत विस्मय हुआ।'

डॉक्टरों ने टी० बी० की दिशा में अनेक प्रयोग किए हैं। उन्होंने लिखा है—जो रोगी अपनी टी० बी० की बीमारी को सीने तक ही रखता है, वह खतरनाक स्थिति में जाकर भी जी लेता है। वह मरते-मरते बच जाता है। जो रोगी उस पर नियंत्रण नहीं कर पाते, जिनकी बीमारी मस्तिष्क तक पहुंच जाती है, वे चिन्ताओं से ग्रस्त होकर, बीमारी से नहीं, उस चिन्ता से शीघ्र ही मर जाते हैं। बीमारी को मस्तिष्क तक पहुंचाने का अर्थ है—चिन्ताओं से मस्तिष्क को भर देना, निरंतर उसकी चिन्ता से ग्रस्त रहना।

आनन्द के क्षण

प्रश्न एक रहता है कि व्यक्ति सदा उज्ज्वल पक्ष का चिन्तन करे, प्रकाश का अनुभव करे। वह अन्धकार में न भटके। वह सदा इन सूत्रों को याद रखे—'मैं दुःख भोगने के लिए नहीं जन्मा हूं। मैं रोग की शय्या पर तड़पते रहने के लिए नहीं जन्मा हूं।' जो व्यक्ति इन सूत्रों को साक्षात् जीने लगता है वह कभी विषाद से नहीं भरता, वह कभी दुःखी जीवन नहीं जीता। जो विषाद और दुःख के क्षण आते हैं, वे बीत जाते हैं, व्यक्ति को प्रभावित नहीं कर पाते। वह व्यक्ति जैसे सुख के क्षणों में प्रसन्न और आनन्दित रहता था, वैसे ही भयंकर दुःख के क्षणों में भी प्रसन्न और आनन्दित रह जाता है। वह सभी कठिन समस्याओं, बाधाओं और दुःखों को झेलने में सक्षम हो जाता है। वह दुःखों से तप्त नहीं होता, टूटता नहीं।

मृगचर्या

जैन मुनियों की एक श्रेणी है—जिनकल्प। जो मुनि जिनकल्प की साधना स्वीकार करते हैं, उन्हें अत्यन्त कठोर आचार का पालन करना पड़ता है। मृगापुत्र राजकुमार था। वह मुनि बनना चाहता था। उसने माता-पिता से आज्ञा मांगी। माता-पिता ने उसे प्रव्रजित होने से रोका। दोनों के बीच लंबा संवाद चला। तर्क-वितर्क हुए। माता पिता चाहते थे कि बच्चा हाथ से न निकल जाए। प्रव्रजित होने का अर्थ है—संसार से विमुख हो जाना। माता-पिता ऐसा नहीं चाहते थे। उन्होंने पुत्र से कहा—वत्स! मुनिचर्या बहुत कठोर होती है। मुनि बनने के बाद चिकित्सा नहीं करानी है। तुम्हें जीवन भर निश्चिकित्स्य रहना होगा। कितना कठोर कर्म है। शरीर रोगों का आलय। चिकित्सा के अभाव में शरीर का क्या नहीं हो जाएगा? कितने कष्ट सहने होंगे। सोचो! राजकुमार ने कहा—यह ठीक है। जंगल का एक हिरण बीमार हो जाता है तो उसकी चिकित्सा कौन करता है? कौन उसे दवाई देता है? कौन उसकी परिचर्या करता

है ? जब वह अस्वस्थ होता है तब छांह में बैठ जाता है और स्वस्थ होते ही खाने-पीने के लिए चल देता है। मैं भी इस मृगचर्या में रहूंगा। मुझे कोई परवाह नहीं है।'

दवा लेना विवशता

जिस व्यक्ति में इस आस्था का निर्माण हो जाता है, वह रोगों के भयंकर आक्रमणों से बच जाता है। भीतर की शक्तियों के साथ जिसका संपर्क हो जाता है, वह चिकित्सा के लिए इतना व्यग्र नहीं होता। दवा लेना मनुष्य की दुर्बलता है, विवशता है। जिसमें आस्था का पूरा निर्माण नहीं होता वह अधिक दवा लेता है। ऐसे लोग भी हैं जो इतनी दवा लेते हैं कि उनके शरीर का अणु-अणु औषधिमय बन जाता है। पता नहीं वे कैसे जीते हैं ? शरीर में कितना विष जमा हो जाता है। विष विष की मांग करता रहता है। आदमी जहर से भरा हुआ जहर पीता चला जाता है।

अभी-अभी फूलकुमारी सेठिया अमेरिका की यात्रा कर लौटी हैं। उन्होंने बताया—अमेरिका में 'साइन्स क्रिश्चियन सोसायटी' है। उसके पचासों चर्च हैं और हजारों सदस्य। उस सोसायटी का एक नियम है कि कोई भी सदस्य दवाई नहीं ले सकता। चाहे बुखार हो या जुकाम, चाहे टी० बी० हो या हार्ट ट्रबल, चाहे हाथ टूट गया हो या पांव—वह दवा नहीं ले सकता, इलाज नहीं करा सकता। वह किसी भी प्रकार की चिकित्सा नहीं करा सकता। फूलबाई ने उस सोसायटी के सदस्य से पूछा—आप लोग बीमार तो होते ही होंगे। फिर आप अपनी बीमारी कैसे मिटाते हैं ? उस सदस्य ने कहा—'God is love'—परमात्मा इतना उदार और शक्तिशाली है कि वह करुणा की वर्षा करता है और हमारी सारी बीमारियां मिट जाती हैं। हम रोगी में एक ऐसी आस्था जगाते हैं, ईश्वर के प्रति इतनी सघन आस्था का निर्माण करते हैं कि उसकी बीमारियां समाप्त हो जाती हैं।'

फेथ हीलिंग

वर्तमान में एक चिकित्सा-पद्धति प्रचलित है। उसका नाम है—फेथ हीलिंग। इसका अर्थ है—आस्था के द्वारा रोग-चिकित्सा। आस्था के आधार पर होने वाले लाभों का विवरण हमारे ग्रंथों में भरा पड़ा है। प्रश्न है आस्था घनीभूत कैसे हो ? हमारा अपने अन्तर् के साथ संपर्क कैसे हो ? जब तक अपने अस्तित्व के आन्तरिक स्रोतों के साथ संपर्क स्थापित नहीं होता तब तक हमें बाहर के भरोसे पर जीना पड़ता है और बाहरी साधनों का सहारा लेना पड़ता है। जब हमारी दृष्टि बदलती है, वह बाहर से मुड़कर भीतर में जाती है तब आन्तरिक स्रोतों के साथ संपर्क स्थापित होता है और व्यक्ति पूरे अस्तित्व के साथ जीने लग जाता है।

जब व्यक्ति में इस आस्था का निर्माण हो जाता है कि मैं दुःख भोगने के लिए नहीं जन्मा हूं तब वह दुःख के महासागर को तैरने में सफल हो जाता है और वह उसे पार कर जाता है।

अनासक्तयोग

दुःख की घटनाएं घटती हैं, उन्हें कोई नहीं रोक सकता। भूकंप आता है, तूफान आता है, समुद्री बवंडर आता है—इन्हें कोई नहीं रोक सकता। उल्कापात होता है, उसे कोई नहीं रोक सकता। बीमारियां और प्राकृतिक प्रकोप की घटनाएं घटित होती हैं, उन्हें कोई नहीं रोक सकता। किन्तु मनुष्य एक काम कर सकता है। वह इन अवश्यंभावी प्रकोपों से होने वाले दुःखद संवेदनों से अपने आपको बचा सकता है। ये घटनाएं जो मन और मस्तिष्क को बोझिल बना देती हैं और जीते-जी मरने की स्थिति में ला देती हैं, इनसे बचा जा सकता है। घटना घटित होगी, परन्तु व्यक्ति इनके साथ नहीं जुड़ेगा। वह जुड़ेगा तो इतना ही कि घटना घटी है और उसका ज्ञान है। इससे अधिक घटना के साथ कोई संपर्क नहीं होगा। घटना चेतन मन तक पहुंचेगी। वह अवचेतन मन को स्पर्श भी नहीं कर पाएगी। चेतन मन पर घटना का प्रतिबिम्ब पड़ेगा, अवचेतन मन पर नहीं। वहां उसकी प्रतिक्रिया भी नहीं होगी। समाधि का चौथा सूत्र—मैं दु ख भोगने के लिए नहीं जन्मा हूं' बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। इससे दुःख संवेदन समाप्त हो जाते हैं। संबंधों, संपर्कों और पदार्थों से होने वाले सारे दुःख अपने आप मिट जाते हैं। यही है—अनासक्त-योग। अनासक्ति का अर्थ है—पदार्थ के साथ जुड़ी हुई चेतना का छूट जाना, उसके घनत्व का तनूकरण हो जाना, पदार्थ के साथ चेतना का संपर्क कम हो जाना। जब यह होता है तब समूचे जीवन में चेतना व्याप्त हो जाती है और आसक्ति की छाया दूर हो जाती है।

समाधि का पांचवा आधार है—अपने स्वभाव के जागरण के लिए उपायों का अवलम्बन।

हमने सारे तथ्य जान लिये। किन्तु तथ्यों को जान लेने मात्र से कुछ नहीं होता। जब हमने स्वभाव को जगाने का प्रयत्न नहीं किया, उपायों का अवलम्बन नहीं लिया तो स्वभाव का जागरण नहीं होगा। हमारे में अनन्त आनन्द है, पर वह सोया पड़ा है। हमारे भीतर अनन्त शक्ति है, पर वह भी सुपुप्त है। हमारी अनन्त चेतना है, पर वह भी ढंकी हुई है। आनन्द, शक्ति और चेतना ढंकी पड़ी है। सघन आवरण है। इन सबका होना न होना समान है। आवृत आनन्द, शक्ति और चेतना का क्या उपयोग हो सकता है? पंखा तैयार है। सुन्दर है। सारी सामग्री है। पर बिजली नहीं है। इस स्थिति में पंखे का कोई उपयोग नहीं हो सकता। उसका होना न होना बराबर है। पंखा तब चलेगा जब बिजली का प्रवाह

इसके साथ जुड़ेगा। शक्ति है पर वह तब काम आएगी जब प्राण-शक्ति का प्रवाह इसके साथ जुड़ेगा। आनन्द है पर वह कार्यकर तब बनेगा जब चैतन्य का प्रवाह इसके साथ जुड़ेगा। शक्ति के साथ प्राण का प्रवाह जुड़े और आनन्द के स्रोतों के साथ चैतन्य का प्रवाह जुड़े इसके लिए श्वास-प्रेक्षा, शरीर-प्रेक्षा और चैतन्य-प्रेक्षा का उपाय काम में लेना होता है।

शरीर-प्रेक्षा से चेतना का साक्षात्कार

शरीर-प्रेक्षा की बात सुनकर आपको कुछ अटपटा-सा लगता था। आए थे ध्यान सीखने और हमें सिखाया जा रहा है शरीर को देखना। ललाट और भौंहों को देखो, आंख और कान को देखो। यह सब एक कांच में देखा जा सकता है। यह कार्य घर पर भी सम्पन्न हो सकता है, फिर इन शिविरों का प्रयोजन ही क्या है? दर्पण में शरीर को देखने वाले चमड़ी को देखते हैं, रंग-रूप को देखते हैं, आकृति को देखते हैं। बस, इतना ही देख पाते हैं। क्या कभी आपने चमड़ी के भीतर क्या है, देखा है? क्या प्राण के प्रवाह से होने वाले प्रकंपनों और स्पन्दनों को पकड़ा है? नहीं, इन्हें जानने का कौन प्रयत्न करे? प्राण के स्पन्दनों के नीचे जो चेतना की सक्रियता है, चेतना का प्रवाह है, आदमी कभी उस ओर ध्यान नहीं देता। हमारे शरीर का एक छोटा हिस्सा भी, आॅलपिन टिके उतना हिस्सा भी, प्राण से खाली नहीं है और जिस क्षण वह प्राणशून्य होता है, वह अवयव निर्जीव हो जाता है। शरीर-प्रेक्षा इसलिए नहीं की जाती कि रंग-रूप को देखा जाए, पर इसलिए की जाती है कि इस मांस और चमड़ी के पुतले के भीतर जो प्राण और चेतना का प्रवाह है, उससे संपर्क स्थापित हो। उसका साक्षात् अनुभव करने का एक उपाय है—शरीर-प्रेक्षा। यह समाधि तक पहुंचने का उपाय है। हम इस उपाय का आलम्बन लें।

तनाव

आदमी ही नहीं, पशु भी तनाव से भरा रहता है। बड़े तनाव आठ हैं। इनमें चार तनाव व्यापक हैं—आहार का तनाव, भय का तनाव, काम (मैथुन) का तनाव और परिग्रह का तनाव। सैद्धान्तिक भाषा में इन्हें आहारसंज्ञा, भयसंज्ञा, मैथुनसंज्ञा और परिग्रहसंज्ञा कहा जाता है। ये चार व्यापक तनाव हैं। ये सब प्राणियों में पाए जाते हैं। ये गहरे तनाव हैं।

तनाव का तारतम्य

पशु में भी ये तनाव पाए जाते हैं। उनमें परिग्रह का तनाव सबसे कम होता है। पशु संचय नहीं करता और यदि करता है तो बहुत थोड़ा। सारे पशु संचय

नहीं करते, कुछेक ही करते हैं। चिटियां और मधुमक्खियां संचय करती हैं, पर थोड़ा। शेष बहुत सारे पशु-पक्षी अपरिग्रही होते हैं, असंग्रही होते हैं। गाय, भैंस के सामने चारा डाला। जितना खाना था खा लिया, संचय नहीं। कहीं ग्रामान्तर जाना है तो घास साथ ले जाने की चिन्ता नहीं। यह है—असंग्रहवृत्ति। उससे अधिक तनाव होता है मैथुन का। उससे अधिक तनाव होता है भय का और सबसे अधिक तनाव होता है भोजन का। यह पशु में होने वाले तनावों का तारतम्य है।

मनुष्य में सबसे कम तनाव होता है भय का। उससे अधिक तनाव होता है भोजन का। उससे अधिक तनाव होता है परिग्रह का, संचय का और सबसे ज्यादा तनाव होता है कामवासना का, मैथुन का।

पशु में सबसे ज्यादा तनाव होता है—भोजन का और मनुष्य में सबसे ज्यादा तनाव होता है—कामवासना का।

जब तक मनुष्य में काम का तनाव नहीं मिटता तब तक समाधि की बात घटित नहीं होती। क्रोध, भय आदि का तनाव होता है और दो-चार-दस घंटों में मिट जाता है, उपशान्त हो जाता है परंतु कामवासना का तनाव, जाने-अनजाने, चौबीस घंटा भी रह जाता है। यह सबसे भयंकर तनाव है। इस एक तनाव के कारण और अनेक तनाव घटित होते हैं। आर्यरक्षित ने प्रज्ञापना सूत्र में इसका मनोवैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत किया है।

समाधि है भीतर

समाधि तक पहुंचने के सारे आलम्बन हमारे भीतर हैं। बाहर से कुछ भी नहीं लेना है। मैं जो बाहर से लेने की बात कह रहा हूं, वह सापेक्ष है। हमें सबका रेचन करना है। शरीरशास्त्रियों, आयुर्वेद के आचार्यों और मनोवैज्ञानिकों ने मनुष्य के स्वभाव का जो वर्णन किया है वह मौलिक स्वभाव नहीं है। वह अर्जित स्वभाव है। उसका रेचन करना होगा। शरीर की सीमा में पनपने वाले स्वभाव मूल स्वभाव नहीं हैं। उनका रेचन करना होगा। उनका रेचन होने पर ही मूल स्वभाव के साथ संपर्क स्थापित होगा। उस 'संपर्क' की स्थापना के लिए 'पूरक' भी आवश्यक है। हम ध्यान की अवस्था में जाएं और पूरक करें। पूरक करते समय यह संकल्प करें—'पवित्र और वीतराग आत्मा जिसका आनन्द अबाधित है, शक्ति पूर्ण जागृत है, शक्ति के स्रोत उद्घाटित हैं, जिसकी चेतना अनावृत हो चुकी है, चित्त को निर्मल करने वाली उस महाशक्ति को मैं श्वास के साथ भीतर ले जा रहा हूं और चेतना के कण-कण में उसे व्याप्त कर रहा हूं' इस संकल्प के साथ पूरक करें। यह भी समाधि का सशक्त उपाय है। इसका अभ्यास पुष्ट होने पर यह अनुभव होगा कि नयी चेतना, नयी शक्ति और अजस्र आनन्द का प्रवाह प्रवाहित

हो रहा है।

हम रेचन और पूरक का अभ्यास भावना के साथ करें। हमारी आवृत शक्तियां अनावृत होंगी और समाधि का मार्ग प्रशस्त हो जाएगा।

समाधि के अनेक उपाय हैं, सूत्र हैं। मैंने पांच मूलभूत सूत्रों की संक्षिप्त चर्चा प्रस्तुत की है। इन पर चिन्तन-मनन हो। इनका साक्षात् प्रयोग हो, अनुभव हो। जिस क्षण हम अनुभव की सीमा में प्रवेश करेंगे तब इन्द्रिय, मन और बुद्धि की चेतना नीचे दब जाएगी, अनुभव की चेतना जाग जाएगी और समाधि की घटना अपने आप घटित हो जाएगी।

१३. प्रतिक्रिया से मुक्ति और समाधि

- चक्खुस्स रूवं गहणं वयंति, तं रागहेउं तु मणुन्नमाहु।
  तं दोसहेउं अमणुन्नमाहु, समो य जो तेसु स वीयरागो॥

[उत्तरा० ३२/२२]

- चक्षु का विषय रूप है। जो रूप राग का हेतु होता है उसे मनोज्ञ कहा जाता है, जो द्वेष का हेतु है, उसे अमनोज्ञ कहा जाता है। जो मनोज्ञ और अमनोज्ञ रूपों में समान रहता है, वह वीतराग होता है।
- रूवे अतित्ते य परिग्गहे य, सत्तोवसत्तो न उवेइ तुट्ठिं।
  अतुट्ठिदोसेण दुही परस्स, लोभाविले आययई अदत्तं॥
- तण्हाभिभूयस्स अदत्तहारिणो, रूवे अतित्तस्स परिग्गहे य।
  मायामुसं वड्ढइ लोभदोसा, तत्थावि दुक्खा न विमुच्चई से॥
- मोसस्स पच्छा य पुरत्थओ य, पओगकाले य दुही दुरन्ते।
  एवं अदत्ताणि समाययन्तो, रूवे अतित्तो दुहिओ अणिस्सो॥
- रूवाणुरत्तस्स नरस्स एवं, कत्तो सुहं होज्ज कयाइ किंचि?
  तत्थोवभोगे वि किलेसदुक्खं, निव्वत्तई जस्स कएण दुक्खं॥

[उत्तरा० ३२/२९, ३०, ३१, ३२]

- जो रूप में अतृप्त होता है और उसके परिग्रहण में आसक्त-उपसक्त होता है उसे संतुष्टि नहीं मिलती। वह असंतुष्टि के दोष से दुःखी और लोभग्रस्त होकर दूसरों की रूपवान् वस्तुएं चुरा लेता है।
- वह तृष्णा से पराजित होकर चोरी करता है और रूप-परिग्रह में अतृप्त होता है। अतृप्त दोष के कारण उसके माया-मृषा की वृद्धि होती है। माया-मृषा का प्रयोग करने पर भी वह दुःख से मुक्त नहीं होता।
- असत्य बोलने के पश्चात्, पहले और बोलते समय वह दुःखी होता है। उसका पर्यवसान भी दुःखमय होता है। इस प्रकार वह रूप में अतृप्त होकर चोरी करता हुआ दुःखी और आश्रयहीन हो जाता है।
- रूप में अनुरक्त पुरुष को उक्त कथनानुसार कदाचित् किंचित् सुख भी

कहां से होगा ? जिस उपभोग के लिए वह दुःख प्राप्त करता है, उस उपभोग में भी क्लेश-दुःख [अतृप्ति का दुःख] बना रहता है।

१. समाधि का आदि-बिन्दु है—संयम।
जीवन का सूत्र है सरसता।

२. हम सरसता का जीवन जीएं या संयम का जीवन जीएं ?

३. समता, निर्विचारता या संयम का क्षण ही सुख का क्षण।

४. रस का वर्जन नहीं, दुःख चक्र का वर्जन।

तेरह

दोहराना और जीना दो है

समाधि का आदि-बिन्दु है संयम और जीवन का सूत्र है सरसता। जब समाधि का प्रश्न आता है तब एक विकल्प उठता है कि संयम का रूखा जीवन जीएं या सरसता का जीवन जीएं? जब मनुष्य योनि मिली है, स्वस्थ शरीर, मस्तिष्क और स्वस्थ इन्द्रियां प्राप्त हैं तब सरस जीवन जीना समझदारी की बात है, रूखा या नीरस जीवन जीना बुद्धिमत्ता नहीं कही जा सकती। नास्तिकों का यह सूत्र आनन्द-दायी है—जीवन का स्वाद लेकर जीओ। खूब खाओ-पीओ और मौज करो। आस्तिक भी इस बात में पीछे नहीं हैं। वे संयम की बात दोहराते हैं किन्तु संयम का जीवन नहीं जीते। जहां केवल दोहराना होता है वहां जीवन का कोई अनुभव नहीं होता। जिसे अपने जीवन का अनुभव है वह दोहराएगा नहीं। दोहराएगा वही जिसे अपना अनुभव नहीं है। तोता दोहराता है। जैसे रटाया वैसे ही दोहरा दिया। न कुछ जोड़ा और न कुछ तोड़ा। टेपरिकार्डर दोहराता है। उसमें जो आवाज भर दी, वैसे ही वह पुनः दोहरा देगा। जिस व्यक्ति को अपना थोड़ा-सा भी अनुभव है वह अनुभव करेगा, दोहराएगा नहीं।

समाधि है : चेतना की गहराई

समाधि की दो कठिनाइयां हैं। समाधि की चर्चा चेतना के सूक्ष्म स्तर पर की गई थी। वह चेतना की ऐसी भूमिका है जहां स्थूल दृष्टि या स्थूल जगत् से संबंध नहीं रहता। समाधि की चर्चा चेतना की गहराई में जाकर हुई थी, किन्तु सभी आदमी चेतना के उस स्थूल स्तर पर जी रहे हैं जिसका संबंध इस बाह्य जगत् के साथ और विषयों के साथ जुड़ा हुआ है। दोनों के दो भिन्न स्तर हैं। सामंजस्य कैसे हो?

सार संदर्भहीन नहीं

समाधि की बात सुनने में अच्छी लगती है। मन की समाधि, चित्त की समाधि, मानसिक शान्ति, चैतसिक शान्ति —ये सब इसके फलित हैं। जी ललचाता है समाधि का जीवन जीने के लिए, क्योंकि इसमें सारे तनाव समाप्त हो जाते हैं, अशान्ति समाप्त हो जाती है। किन्तु जब व्यक्ति चेतन मन की भूमिका पर होता है तब उसका सम्पर्क बाह्य जगत् के साथ होता है और उसकी इन्द्रियां बाह्य विषयों को ग्रहण करने में सक्रिय होती हैं। सामने रूप आता है, रस और गंध आता है, शब्द आता है। आदमी इनमें उलझ जाता है और समाधि की बात बहुत पीछे रह जाती है। तब उसे लगने लगता है कि यह संसार ही सार है। इसमें जीवित रहना ही सरसता है। चेतन मन के स्तर पर शब्द, रूप, रस, गंध आदि की प्रिय अनुभूति ही सार लगती है। इसके अतिरिक्त सार कुछ भी नहीं लगता। मनुष्य चाहे अपने आन्तरिक भावों को छिपा कर कह दे—'धर्म और सत्य जीवन का सार है, अहिंसा और ब्रह्मचर्य जीवन का सार है।' चेतन मन के स्तर पर जो ये बातें कहेगा तो यह स्पष्ट है कि यह उसकी अपनी अनुभूति नहीं होगी, उधार ली हुई बात होगी। क्योंकि उस व्यक्ति ने ऐसा सुना है, विभिन्न धर्म-ग्रन्थों में पढ़ा है। यह सार ज्ञानगत है, अनुभवगत नहीं है। उन व्यक्तियों और शास्त्रों के प्रति उसकी श्रद्धा है इसलिए वह इन बातों को दोहराता जाता है, किन्तु जैसे ही वह चेतन मन के स्तर पर एक पैर रखता है वह यह कहने लगता है—पैसा सार है, पदार्थ सार है, खाना-पीना सार है, शेष सारा असार है।

करनी-कथनी एक क्यों नहीं ?

लोग सोचते हैं—कथनी और करनी में अन्तर क्यों होता है ? क्या इस अन्तर को पाटा नहीं जा सकता ? अन्तर अवश्य ही होगा। क्योंकि आदमी दोहराता है उस बात को जो अवचेतन मन के स्तर पर या चेतना की गहरी परतों को उद्घाटित कर कही गई थी और जीता है चेतन मन के स्तर पर। तब कथनी और करनी में सामंजस्य कैसे होगा ?

बहुत सारे लोग इस उलझन में हैं कि उनकी कथनी और करनी एक क्यों नहीं है ? वे कहते हैं वैसा कर क्यों नहीं पाते ? कथनी और करनी की दूरी मिटनी चाहिए। राजनीति के लोग और सामाजिक लोग भी कहते हैं कि कथनी और करनी की दूरी मिटनी चाहिए। धर्म के मंच से भी यही उद्घोष सुना जाता है। सारे साधु-संन्यासी भी यही कहते हैं, किन्तु यह प्रश्न कभी समाहित नहीं होता। आज यह प्रश्न जैसा है वैसा ही हजार वर्ष पूर्व था। इसका समाधान नहीं हो सकता। जब तक हमारी सभ्यता, संस्कृति और जीवन का आधार स्थूल चेतना

रहेंगी, चेतन मन की प्रवृत्तियां रहेंगी तब तक यह प्रश्न कभी समाहित नहीं होगा। इस प्रश्न को केवल समाधि की भूमिका पर ही समाहित किया जा सकता है। हमें हमारी सभ्यता, संस्कृति और जीवन के आधार को ही वदलना होगा और एक नयी पीढ़ी का निर्माण करना होगा, जो केवल चेतन मन के स्तर पर ही न जीए किन्तु अवचेतन मन के स्तर पर भी जीना सीखे। जिस दिन पूरी सभ्यता में अवचेतन मन के आधार पर जीने की वात आ जाएगी, आदमी सूक्ष्म मन के स्तर पर जीने लग जाएगा, उस दिन कथनी-करनी की दूरी अपने आप मिट जाएगी।

वीतराग : अवीतराग

हमारे जीवन की दो अवस्थाएं हैं—वीतराग अवस्था और अवीतराग अवस्था। जव तक आदमी अवीतराग अवस्था में जीता है, राग-द्वेष की अवस्था में जीता है, उसकी कथनी और करनी में अन्तर होगा। भगवान् महावीर ने कहा—अवीतराग या छद्मस्थ व्यक्ति का यह एक लक्षण है कि उसकी कथनी और करनी में अन्तर होगा। जो वीतराग होगा वह जैसा कहेगा, वैसा करेगा, जैसा करेगा, वैसा कहेगा। कोई अन्तर नहीं होगा। वीतराग होने का अर्थ है—चेतन की सूक्ष्म भूमिका में प्रवेश पा जाना। यह अतीन्द्रिय मन की भूमिका है।

अतीन्द्रिय चेतना : अनुभव चेतना

मनोविज्ञान ने चेतन मन और अवचेतन मन की चर्चा की है, किन्तु भारतीय दार्शनिकों ने इनसे भी सूक्ष्म चेतना के स्तरों की चर्चा की है। अवचेतन मन से परे अतीन्द्रिय मन की भूमिका है। जब व्यक्ति अतीन्द्रिय मन की भूमिका पर चला जाता है तव उसके सारे विरोधाभास मिट जाते हैं। उसकी कथनी और करनी में सामंजस्य स्थापित हो जाता है। अतीन्द्रिय चेतना के स्तर पर जीने वाला व्यक्ति दोहराता नहीं, स्वयं सत्य को जीता है, अनुभव करता है। वह यह कभी नहीं कहेगा कि अहिंसा इसलिए अच्छी है कि महावीर ने या बुद्ध ने उसकी गुण-गाथा गायी है, किन्तु वह अच्छी इसलिए है कि मैंने स्वयं उसका साक्षात् अनुभव किया है। वैसा व्यक्ति अपनी अनुभव की भाषा में वोलेगा, उधार की भाषा में नहीं। किन्तु जब तक व्यक्ति उस अतीन्द्रिय चेतना के स्तर तक नहीं पहुंचता तव तक वह दूसरों की भाषा की पुनरावृत्ति करता है और उसे दोहराता जाता है। दोहराने वाली चेतना कोई दूसरी है और करने वाली चेतना कोई दूसरी है तो फिर कैसे आशा की जा सकती है कि कथनी और करनी में एकता हो?

कथनी-करनी की दूरी

राजनीति के मंच पर तो कथनी और करनी का सामंजस्य

कुशल राजनीतिज्ञ वह है जो प्रातः एक बात कहे, मध्याह्न में दूसरी बात कहे और सायं तीसरी बात कहे और फिर यह समझा दे कि मैंने जो सुबह कहा था वह भी सच था, मध्याह्न में कहा था वह भी सच था और सायं कहा था वह भी सच था और अब जो कुछ कहता हूं वह भी सच है। इस स्थिति में कथनी और करनी की एकता का स्वर कैसे प्रतिफलित होगा?

सामाजिक स्तर पर भी यह एकता संभव नहीं है। जहां व्यक्ति में स्वार्थ होता है वहां एकता की बात नहीं हो सकती।

धर्म के मंच पर भी कथनी-करनी की एकता का स्वर संभव नहीं है, क्योंकि धर्म के अनुयायी और गुरु भी चेतन मन के स्तर पर जी रहे हैं। वे उस भूमिका का अतिक्रमण कर सूक्ष्म भूमिका पर जाने का प्रयोग नहीं कर रहे हैं। जब तक यह प्रयोग नहीं होगा तब तक अवीतरागता बाधक बनी रहेगी और कथनी-करनी का भेद मिटेगा नहीं।

सामंजस्य-सूत्र—समाधि

कथनी-करनी की दूरी को मिटाने के लिए समाधि का अभ्यास तथा सूक्ष्म चेतना पर पहुंचने का प्रयोग अत्यन्त आवश्यक है। समाधि का अर्थ है—उस चेतना में चला जाना जहां जाने पर बाह्य दशाएं अपने आप दूर हो जाती हैं, उनका संपर्क छूट जाता है। समाधि की अवस्था में हमारा संपर्क भीतरी दुनिया से हो जाता है, अपने अस्तित्व से हो जाता है।

आस्तिक : नास्तिक

आज के लोग आस्तिकता की बात करते हैं। किन्तु वास्तव में वे आस्तिक हैं कहां? जो व्यक्ति सूक्ष्म भूमिका की चेतना पर नहीं जाता वह कभी आस्तिक नहीं हो सकता। जो व्यक्ति सूक्ष्म चेतना की भूमिका पर आरोहण नहीं करता वह कभी धार्मिक नहीं हो सकता। लोग स्वयं सोचें। अपने आपको आस्तिक मानने वाले कितने लोग यथार्थ में आस्तिक हैं? अपने आपको धार्मिक मानने वाले कितने लोग वास्तव में धार्मिक हैं? बहुत बड़ा प्रश्नचिह्न है। आस्तिक और नास्तिक तथा धार्मिक और अधार्मिक में आज अन्तर ही क्या है? दोनों के बीच भेद-रेखा खींचना संभव नहीं है। दोनों चेतन मन के स्तर पर जी रहे हैं। एक आस्तिक भी चेतन मन की भूमिका पर जी रहा है और एक नास्तिक भी चेतन मन की भूमिका में जी रहा है। एक धार्मिक भी उसी भूमिका पर स्थित है और एक अधार्मिक भी उसी भूमिका पर स्थित है। फिर अंतर ही क्या है? जो व्यक्ति चेतन मन की भूमिका पर जीता है, उसके लिए शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्श का मूल्य होगा, समाधि का मूल्य नहीं होगा। वह अशब्द, अरूप, अरस, अगंध और

अस्पर्श को कभी मूल्य नहीं देगा। उसे शब्दात्मक या विषयात्मक जगत् ही सरस लगेगा। फिर हम क्यों किसी को आस्तिक मानें और क्यों किसी को नास्तिक मानें? उनको आस्तिक या नास्तिक मानने का आधार क्या है? हमने स्थूल मन के आधार पर एक भेद-रेखा खींच ली—अमुक रेखाओं पर चलने वाला आस्तिक और अमुक रेखाओं पर चलने वाला नास्तिक। अमुक रेखाओं पर चलने वाला धार्मिक और अमुक रेखाओं पर चलने वाला अधार्मिक। इस कृत्रिम भेद-रेखा के कारण ही धर्म की तेजस्विता समाप्त हो गयी, आस्तिकता का मूल्य भी समाप्त हो गया।

धर्म का भ्रान्त आधार

आज जिस आधार पर धर्म को चलाया जा रहा है, वास्तव में वह धर्म का आधार बनता ही नहीं। चेतन मन या स्थूल मन के स्तर पर जीने वाले लोगों को हम यह कहें—विषय खराब हैं। सब दुःख देने वाले हैं। वे आदमी को उलझन में फंसाते है—तो वे इन बातों को सुन लेते हैं। सुनने में अच्छी भी लगती हैं। किन्तु जब वे ही व्यक्ति भोजन करने बैठते हैं, सामने अच्छे-अच्छे भोजन दीखते हैं, खाते हैं, स्वादिष्ट लगते हैं तब यह विरोधाभास पनपता है कि विषय खराब नहीं हैं। वे भोगने योग्य हैं। कहा जाता है—परिग्रह पाप का मूल है। पर ये सब बड़े-बड़े परिग्रही मंच पर बैठे हैं, इनका आदर-सम्मान होता है। जहां जाते हैं वहां इनकी बात मानी जाती है। इनकी पूजा-प्रतिष्ठा होती है, फिर कैसे मानें कि परिग्रह पाप का मूल है। मैंने परिग्रह छोड़ा तो आज दर-दर का भिखारी बना हुआ हूं। कोई पूछता तक नहीं। विचारों में संघर्ष होगा। वह मानेगा—मैंने परिग्रह को छोड़कर भयंकर भूल की है।

राजकुमारी अमृतकौर ने गांधीजी से कहा—मैं अपनी सारी संपत्ति को छोड़कर सेवा-कार्य में लग जाना चाहती हूं। गांधीजी ने कहा—संपत्ति को मत छोड़ो। अपने पास रखकर सेवा में लगी रहो। उसने परामर्श मान लिया। वह कुछ वर्षों तक मिनिस्ट्री में रही। फिर जब वह वहां से मुक्त हो गयी तब सारी परिस्थितियां बदल गयीं। पूछ कम हो गयी। लोगों का घेराव कम हो गया। निकट के लोग भी दूर जाने लगे। अमृतकौर ने लिखा—बापू यदि संपत्ति रखने का परामर्श नहीं देते तो आज मैं भिखारिन बन जाती। मुझे दर-दर भटकना पड़ता। मैं सचमुच दुःखों से बच गयी। कम से कम रोटी की तो मुझे तकलीफ नहीं है।

आप मानेंगे कि बापू अपरिग्रह में विश्वास करते थे, फिर उन्होंने परिग्रह रखने का परामर्श कैसे दिया। व्यवहार की भूमिका पर जीने वाला व्यक्ति यही परामर्श दे सकता है। यह सही परामर्श है। इसके अतिरिक्त कोई दूसरा परामर्श हो नहीं सकता।

हम यदि अतीन्द्रिय जगत् की बात को, सूक्ष्म चेतना के स्तर पर घटित होने

वाली घटना को चेतन मन के स्तर पर जीने वाले व्यक्तियों को सिवा दे ... उलझन में फंस जाएंगे।

धर्म का मूल आधार : अनुभव की चेतना

धर्म का मूल आधार है—सूक्ष्म चेतना का स्तर। जब तक यह उद्घाटित नहीं होगा तब तक धर्म का यथार्थ आधार प्रतिष्ठित नहीं होगा और धर्म और कर्म की दूरी, धर्म और व्यवहार की दूरी मिट नहीं पाएगी। आदमी उपवास करता है और जब रात को भूख लगती है तब सारी रात तारे गिनते रहता है। मन में सोचता है—सूरज उगते ही यह खाऊंगा, वह खाऊंगा। यह बनवाऊंगा वह बनवाऊंगा। वह इतनी कल्पनाएं कर लेता है जितनी कल्पना वह बिना उपवास के नहीं करता। फिर हम कैसे मानें कि उपवास करने में सुख है, खाने में सुख नहीं है? इस असंगति या विरोधाभास का निदान क्या है? चिकित्सा क्या है? अध्यात्म के आचार्यों ने इसकी चिकित्सा पद्धति को खोजा। वह है समाधि चेतना का अवतरण। जब तक इस चेतना का अवतरण नहीं होता तब तक विरोधी प्रश्नों को नहीं सुलझाया जा सकता। समाधि इसलिए समाधान है। चेतना की उस भूमिका में शब्द काम नहीं करते, अनुभव काम करने लग जाता है। भीतर सुख ही सुख है। बाहर दुःख ही दुःख है।

उपदेश की पकड़ क्यों नहीं ?

सन्तों ने कहा—कस्तूरी मृग के भीतर है, पास है, पर वह उसकी खोज अन्यत्र कर रहा है। सुख आदमी के भीतर है, पर वह उसकी खोज दूसरे स्थानों पर कर रहा है। वह भटक रहा है सुख की खोज में। जिन्होंने सत्य का उद्घाटन किया, उन्होंने सूक्ष्म चेतना के स्तर पर जाकर उस सत्य को कहा होगा, किन्तु सुनने वालों के लिए इसका कोई अर्थ ही नहीं है। क्योंकि सुनने वालों का स्तर वह नहीं है। वे सुनते समय इसको अच्छा कहेंगे, परन्तु व्यवहार-काल में उन्हें लगेगा कि ये काल्पनिक बातें हैं, माइथोलॉजी है। ये रीयल नहीं हैं, सत्य नहीं हैं। संत भी ... होते हैं, जो मन में आया कह देते हैं। वे वास्तविकता को कैसे जानेंगे? ... को छोड़कर वे पलायन कर गए हैं। उन्हें न कमाना पड़ता है और न कोई व्यवसाय करना पड़ता है। सारे दिन यों ही बैठे रहते हैं, जो मन में आया कह देते हैं। उनकी बातों में सार नहीं है। व्यवहार में रहने वाले हम लोग जानते हैं कि सचाई क्या है? हम संघर्षों से जूझते हैं, संघर्षों का जीवन जीते हैं। ... समस्याओं का सामना करते हैं, उनका समाधान निकालते हैं। हमें ज्ञात है कि सुख क्या है, दुःख क्या है। धन के होने से क्या होता है और न होने से क्या होता है। प्रतिष्ठा और नाम कमाने के क्या-क्या लाभ हैं और उनके न होने से क्या ...

न्ति होती है। प्रिय शब्दों का क्या असर होता है और अप्रिय शब्दों का क्या असर
ता है। सरलता का जीवन जीने से क्या होता है और माया-कपट का जीवन
ने से क्या होता है। बच्चे को दुलारने, थपकी देने और मीठा बोलने से क्या
ता है और उसको दुत्कारने और कठोर शब्द बोलने से क्या होता है। हम यह
जानते हैं, क्योंकि हम वास्तविकता का जीवन जीते हैं। हम व्यवहार के धरा-
र पर खड़े हैं, अतः व्यवहार को जानते हैं और उसका पग-पग पर पालन करते
। सामाजिक धरातल पर जीने वाले व्यक्ति के लिए ये सारी सचाइयां हैं। इन्हें
टलाया नहीं जा सकता, क्योंकि उसके जीवन के प्रत्येक क्षण में ये तथ्य अनुभूत
ते रहते हैं। उसके समक्ष संतों की वाणी या अन्यान्य उपदेश कहीं के कहीं रह
ते हैं। वह इन सत्यों को, जो संतों द्वारा अभिव्यक्त किये जाते हैं, कभी वास्तविक
नकर आचरण नहीं कर सकता। समाधि की बात आकाश में त्रिशंकु की भांति
टक जाती है। उस व्यक्ति को कैसे समझाया जाए? क्या समाधि या मानसिक
न्ति के प्रश्न को यों ही छोड़ दिया जाए? क्या ध्यान और धर्म की बात आदमी
न बताई जाए? क्या आदमी को यों ही जीवन बिताने दिया जाए? क्या उसे
षयों के साथ जीने दें और जो उलझनें बढ़ती हैं, दुःख का अन्तहीन चक्र बनता
क्या आदमी को उसमें ही फंसा रहने दें? क्या उसे उस विसियस सर्कल से
कालने का प्रयत्न न करें? ये सारे प्रश्न हैं।

माधि : विज्ञान के संदर्भ में

आज के इस वैज्ञानिक युग ने समाधि को समझने के लिए अनेक सुविधाएं
तुत की हैं। आज से सौ-पचास वर्ष पहले समाधि की बात केवल शास्त्रों के
धार पर ही कही जा सकती थी। सुख बाहर नहीं है, भीतर है यह बात सिद्धान्त
आधार पर कही जा सकती थी। आज ऐसा नहीं है। आज प्रयोगों के आधार
इन तथ्यों को प्रमाणित किया जा सकता है। वैज्ञानिकों ने ऐसे यंत्रों का
विष्कार किया है जिनसे मनुष्य के विभिन्न संवेदनों का अनुमापन किया जा
कता है और उसे बताया जा सकता है कि वर्तमान क्षण में कौन-से संवेदन सुप्त
और कौन-से संवेदन जागृत हैं। इन सारी बातों में विश्वास न करने वाले व्यक्ति
भी प्रमाण प्रस्तुत कर, विश्वास दिलाया जा सकता है।

एक प्रश्न आता है—संयम से सुख होता है या असंयम से सुख होता है?
द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श के भोग से सुख होता है या इनको छोड़कर मन की
ग्रता और तन्मयता को साधने से सुख होता है? इस प्रश्न को हम वैज्ञानिक
धार पर समझने का प्रयत्न करें।

तरंगें ही सुख-दुःख

विज्ञान मानता है कि सुख-दुःख की अनुभूति विभिन्न प्रकार की तरंगों पर आधारित है। जब मस्तिष्क में अल्फा तरंगें उत्पन्न होती हैं तब सुख का अनुभव होता है। यह विज्ञान का सूत्र है। वह मानता है—पदार्थ के भोग में सुख नहीं होता। धन कमाने या खर्चने में सुख नहीं होता। आदमी को लगता है कि सुख मिल रहा है। विज्ञान इस कथन को यों ही स्वीकार नहीं करेगा। वह देखेगा कि आदमी के मस्तिष्क में किस घटना ने, किस परिस्थिति में कौन-सी तरंगें पैदा की हैं। उन सबके आधार पर वह कहेगा कि इस क्षण आदमी सुख का संवेदन कर रहा है और इस क्षण वह दुःख का संवेदन कर रहा है। जब व्यक्ति संयम, समाधि या ध्यान की स्थिति में होता है, जब उसकी एकाग्रता सघन बनती है तब उसके मस्तिष्क में अल्फा तरंगें लयबद्ध रूप में पैदा होनी शुरू हो जाती हैं। जब अल्फा तरंगें बढ़ती हैं तब व्यक्ति को इतने सुख का अनुभव होता है कि वह उसकी तुलना किसी पदार्थजन्य सुख से नहीं कर पाता। वह अनिर्वचनीय, अतुलनीय होता है। जब एकाग्रता की स्थिति टूटती है, अल्फा तरंगों की उत्पत्ति कम हो जाती है, उनकी लयबद्धता समाप्त हो जाती है तब बेटा, थेटा आदि तरंगें उभरती हैं और आदमी का मन अवसाद से भरने लग जाता है। मन में विषाद, चिन्ता, भय और बुरे विचार आते हैं और आदमी अत्यन्त दुःखी बन जाता है। हमारे भाव क्षण-क्षण बदलते रहते हैं। दिन में न जाने कितनी बार, आदमी के मन में अच्छे विचार आते हैं, कल्याणकारी संकल्प उभरते हैं और कितनी बार बुरे विचार आते हैं, अकल्याणकारी भावना उभरती है। कितनी बार उसके मन में हिंसा, घृणा, ईर्ष्या, वासना आदि के भाव जागते हैं और कितनी बार वह प्रेम, अहिंसा और मैत्री के विचारों से लबालब भर जाता है। ऐसा क्यों होता है? केवल बाह्य कारण ही इस परिवर्तन के हेतु नहीं हैं। वे केवल इन भावों का उद्दीपन कर सकते हैं, किन्तु इन्हें उत्पन्न नहीं कर सकते। इनकी उत्पत्ति का स्रोत हमारे भीतर है। जब हमारे भीतर की क्रिया बदलती है, रसायन बदलते हैं, स्राव बदलते हैं और भीतरी विद्युत् का प्रवाह बदलता है, उनकी तरंगें बदलती हैं. तब ये सारे परिवर्तन घटित होते हैं। विभिन्न तरंगों के कारण ही ऐसा चक्र चलता रहता है। अध्यात्म की भाषा में इसे दुःख का चक्र और विज्ञान की भाषा में इसे तरंगों का चक्र कहा जाता है। जिस व्यक्ति के मस्तिष्क में बीटा, थीटा आदि तरंगें उत्पन्न होती रहती हैं, वह चाहे अरबपति हो या सारी सुख-सुविधाओं में झूलता हो, वह दुःख ही दुःख भोगता चला जाता है। रोकफेलर का जीवन इसका स्पष्ट उदाहरण है। वह विश्व का महान् धनपति था। धन से कभी सुख का अनुभव नहीं हुआ। वह अपने विशाल आर्थिक साम्राज्य को छोड़, एक वर्ष भर के लिए छुट्टियां मनाने अन्यत्र चला गया। [illegible]

उसे धनहीनता में भी जो सुख की अनुभूति हुई वह अनिर्वचनीय थी।

पदार्थ न अच्छा न बुरा

दुःख-चक्र की उत्पत्ति की मीमांसा करते हुए समाधि के प्रसंग में भगवान् महावीर ने एक सुन्दर दर्शन दिया—जीभ रस का संवेदन करती है। यह उसका विषय है। किन्तु वह प्रिय है या अप्रिय, यह जीभ नहीं जान सकती। यह उसका विषय भी नहीं है। वह यह जान सकती है कि यह मीठा है और कड़वा है। परन्तु यह अच्छा है या बुरा, यह वह नहीं जान सकती। क्योंकि पदार्थ न अच्छा होता है और न बुरा, न मनोज्ञ होता है और न अमनोज्ञ, न प्रिय होता है और न अप्रिय। आदमी चाहे पदार्थ को कैसा ही माने, पर वस्तु में यह विभाजन नहीं होता।

मन से जुड़े हुए हैं संवेदन-युगल

दर्शन के क्षेत्र में एक महत्त्वपूर्ण चर्चा हो रही है। उसका आधार है—अस्तित्ववादी दृष्टिकोण और उपयोगितावादी दृष्टिकोण। जंगल में फूल खिलता है। उसका अस्तित्व निर्विवाद है, पर उसकी उपयोगिता निर्विवाद नहीं है। अस्तित्ववादी दृष्टिकोण से हम कहेंगे—जंगली फूल का अस्तित्व है, पर उपयोगिता उसकी कोई भी नहीं है। वह जंगल में खिलता है और जंगल में ही मुरझा जाता है, नष्ट हो जाता है। अपने आप खिला और अपने आप समाप्त हो गया। किन्तु नगर के उद्यान में खिलने वाले फूल का अस्तित्व भी है और उपयोगिता भी है। उसका अपना अस्तित्व है, उसकी अपनी उपयोगिता है। नगर के फूल का आदमी उपयोग करता है। वह उसे अच्छा-बुरा, प्रिय-अप्रिय, मनोज्ञ-अमनोज्ञ आदि बताता है। ये सारे उपयोगिता के बिन्दु हैं। आंख फूल को देखती मात्र है, घ्राण उसके गन्ध का ग्रहण मात्र करती है और जीभ उसके रस का आस्वादन मात्र करती है। इन इन्द्रियों को कुछ भी ज्ञात नहीं होता कि यह प्रिय है या अप्रिय। अच्छा है या बुरा। यह सब ज्ञात होता है मन को। मन के साथ ये सारे संवेदन-युगल जुड़े हुए हैं। उसके साथ प्रियता-अप्रियता, मनोज्ञता-अमनोज्ञता, अच्छा-बुरा—ये सब जुड़े हुए होते हैं। ये संवेदन-युगल इन्द्रियों के साथ जुड़े हुए नहीं होते, इसीलिए सुन्दर-असुन्दर रूप की मीमांसा आंख नहीं करती, मन करता है। प्रिय-अप्रिय शब्द की मीमांसा कान नहीं करता, मन करता है। मनोज्ञ-अमनोज्ञ रस की मीमांसा जीभ नहीं करती, मन करता है। मृदु-कर्कश स्पर्श की मीमांसा शरीर नहीं करता, मन करता है। सुगन्ध-दुर्गन्ध की मीमांसा घ्राण नहीं करता, मन करता है। इसीलिए जब मन के प्रतिकूल कुछ होता है तब कह दिया जाता है—बड़ा बुरा हुआ। जब मन के अनुकूल कुछ होता है तब कह दिया जाता है—बड़ा अच्छा हुआ।

एक प्रोफेसर अपने कमरे में बैठे थे। एक व्यक्ति आकर बोला—'धन्यवाद, आप जैसा परिश्रमी और योग्य प्रोफेसर मैंने नहीं देखा। आपके परिश्रम से ही मेरा लड़का उत्तीर्ण हो सका है। सौ-सौ साधुवाद !' इतने में दूसरा व्यक्ति आकर बोला—'आप जैसा निकम्मा और परिश्रम से जी चुराने वाला प्रोफेसर मैंने कहीं नहीं देखा। आपके कारण ही मेरा लड़का अनुत्तीर्ण हुआ।'

पहले व्यक्ति की बात सुनकर प्रोफेसर प्रसन्नता से झूम उठा और दूसरे व्यक्ति की बात सुनकर वह विषण्ण हो गया। यह सारा खेल मन का है। एक घटना मन के अनुकूल थी तो प्रसन्नता का प्रवाह चल पड़ा। दूसरी घटना मन के प्रतिकूल थी तो विषण्णता का वातावरण बन गया।

जब भोजन अच्छा बनता है तो पत्नी को सौ-सौ साधुवाद दिया जाता है। जब कभी भोजन स्वादिष्ट नहीं बनता या नहीं लगता तब परोसी हुई थाली को ठोकर भी मार दी जाती है। यह सारा मन का कार्य है। भोजन भोजन होता है। पदार्थ पदार्थ होता है। उसमें स्वादिष्ट या अस्वादिष्ट का आरोपण हम करते हैं, मन करता है।

हम इस सचाई को अच्छी तरह से जान लें कि इन्द्रियों का कार्य केवल विषयों को ग्रहण करना मात्र है। जब मन जुड़ता है तब प्रियता या अप्रियता की बात भी जुड़ जाती है। प्रियता या अप्रियता न पदार्थ में है और न इन्द्रियों में है। वह मन के द्वारा आरोपित की जाती है। मन की चंचलता ही इसका कारण है। जब किसी के साथ प्रियता जुड़ती है तो उसका परिणाम होता है अतृप्ति, क्योंकि प्रियता का भोग अतृप्ति को ही बढ़ाता है। दुःख का चक्र इस प्रियता के साथ ही प्रारंभ होता है। जब इन्द्रियों से पदार्थ का संयोग होता है तब संवेदन जन्म लेता है। संवेदन संवेदन तक सीमित रहे तो कोई दुःख नहीं होता। किन्तु संवेदन के साथ जब प्रियता या अप्रियता जुड़ती है तब दुःख का चक्र बनता है। एक सर्कल या वलयाकार चक्र होता है कि उससे बाहर निकलना हर किसी के लिए सरल नहीं होता। पदार्थ-भोग से अतृप्ति होती है। अतृप्ति लोभ को पैदा करती है। प्रियता से अतृप्ति और अतृप्ति से लोभ। जब मन में लोभ जागता है तब चोरी की भावना जागती है। जब चोरी की वृत्ति उभरती है तब मायामृषा—कपट और झूठ की वृत्तियां जागृत होती हैं।

१४. समाधि के सोपान

- सोइन्दियणिग्गहेणं भंते! जीवे किं जणयइ ?
- सोइन्दियणिग्गहेणं मणुन्नामणुन्नेसु सद्देसु रागदोसणिग्गहं जणयइ तप्पच्च-इयं कम्मं न बंधइ पुव्वबद्धं च निज्जरेइ।

(उत्त० २९।६२)

- भन्ते ! श्रोत्रेन्द्रिय का निग्रह करने से जीव क्या प्राप्त करता है ?

श्रोत्रेन्दिय के निग्रह से वह मनोज्ञ और अमनोज्ञ शब्दों में होने वाले राग और द्वेप का निग्रह करता है। वह शब्द-संबंधी राग-द्वेप के निमित्त से होने वाला कर्म-बंधन नहीं करता और पूर्ववद्ध तन्निमित्तक कर्म को क्षीण करता है।

- इसी प्रकार चक्षु इन्द्रिय, घ्राण इन्द्रिय, रस इन्दिय और स्पर्श इन्द्रिय के निग्रह से तथा क्रोध, मान, माया, लोभ, प्रेम, द्वेप और मिथ्यादर्शन के विजय से'''वह अनुत्तर, अनन्त, कृत्स्न, प्रतिपूर्ण, निरावरण, तिमिर रहित, विशुद्ध और लोक-अलोक को प्रकाशित करने वाले केवल ज्ञान और केवल दर्शन को उपलब्ध होता है।

१. समाधि का अभ्यास कहां से शुरू करें ?
२. समाधि का पहला सोपान—प्रिय-अप्रिय संवेदन को कम करें।
३. मंद संवेदन प्रतिक्रिया पैदा नहीं करता—
   अध्यात्म की भापा में शब्द आदि विपय-हेतुक कर्म का वंध नहीं होता। मानसशास्त्र की भापा में एक्शन सबकोन्शियस माइण्ड पर छाप डालता है। उससे प्रतिक्रिया होती है। संवेदन को नियन्त्रित रखकर कोई कर्म किया जाए तो वह प्रतिक्रिया पैदा करने वाली छाप नहीं डालता।
४. प्रतिक्रिया रहित संवेदन होने पर दुःख-चक्र टूट जाता है।
५. संवेदन मन्द होने पर दर्शन समाधि, मंदतर होने पर समता समाधि और क्षीण होने पर वीतराग समाधि फलित होती है।

चौदह

गर्मी बहुत तेज है, अच्छी नहीं लगती। ठंडी हवा का एक झोंका आता है, मन उसके लिए तड़प उठता है। पंखा चलता है, मन को भाता है। बादल आता है, मन प्रसन्न हो जाता है। मनुष्य चाहता है बादल आए, धूप कम हो, गर्मी कम हो। वर्षा आ जाए, तब तो कहना ही क्या! आदमी गर्मी को नहीं चाहता। नहीं चाहना एक बात है, होना दूसरी बात है। होता है, आदमी उसे नहीं चाहता। दोनों के बीच पूरा सामंजस्य नहीं होता, कभी नहीं होता। यदि आदमी चाहे वही घटित हो तो यह दुनिया दुनिया नहीं रहेगी, कुछ और ही बन जाएगी। दुनिया की यह प्रकृति है कि जो चाहता है वह नहीं होता और जो नहीं चाहा जाता, वह हो जाता है।

चाहने और होने में जो अन्तर है, दोनों के बीच जो दूरी है वही वास्तव में असमाधि है। असमाधि, दुःख और अशांति एक ही हैं। यही तो अशांति है कि आदमी जैसा चाहता है वैसा नहीं होता। यही तो असमाधि है कि आदमी चाहता कुछ है और होता कुछ है। यही दुःख है। जैसा चाहे वैसा हो जाए तो असमाधि और अशांति का प्रश्न ही नहीं उठता। फिर ध्यान-साधना की अपेक्षा समाप्त हो जाती है। समाधि के लिए लंबे प्रयोग की आवश्यकता नहीं रहती।

मनुष्य शांति चाहता है। वह समस्या का समाधान चाहता है, समाधि चाहता है। वह चाहता है कि समस्या न आए और यदि आए तो वह समाहित हो जाए। वह मूलतः समस्या को नहीं चाहता और आ जाए तो उसको असमाहित रखना नहीं चाहता। किन्तु समस्याएं आती भी हैं और समस्याओं का समाधान नहीं भी होता। जब समाधान दूर चला जाता है तब बेचैनी बढ़ती है। असमाधि इतनी बढ़ती है कि समाधि-प्राप्ति का प्रयत्न तीव्र हो जाता है। भावना और तड़प भी तीव्र हो जाती है।

मनुष्य समाधि को उपलब्ध होना चाहता है। परंतु प्रश्न है कि समाधि का प्रारंभ कहां से किया जाए? समाधि का प्रारंभ-बिन्दु क्या है? उसका पहला सोपान क्या है? कहां से आरोहण किया जाए? असमाधि से समाधि की ओर प्रस्थान करने का आदि-बिन्दु क्या है?

यह एक विमर्शणीय प्रश्न है। अध्यात्म के आचार्यों ने अपने अनुभव के आधार पर इस प्रश्न को समाहित करने का प्रयत्न किया। उन्होंने कहा—समाधि का आदि बिन्दु है—संवेदन की तीव्रता को कम करना, संवेदन चाहे प्रियता का हो या अप्रियता का हो। संवेदन को कम करना बहुत कठिन होता है। आदमी प्रियता को भी नहीं छोड़ सकता और अप्रियता को भी नहीं छोड़ सकता। संवेदन को छोड़ना अच्छा है। अच्छा होना एक बात है और उस तक पहुंच जाना दूसरी बात है। आदर्श और लक्ष्य ऊंचे होते हैं। आदमी सदा ऊंचा आदर्श बनाता है। अच्छा साध्य निश्चित करता है, किन्तु उस तक पहुंच नहीं पाता। लक्ष्य तक पहुंचना सहज-सरल मार्ग नहीं है। उसमें सतत अभ्यास, निरंतरता और दृढ़ अध्यवसाय की आवश्यकता होती है। यदि आदमी लक्ष्य की ओर एक पैर उठाते ही लक्ष्य तक पहुंच जाता तो आज कुछ भी असंभव नहीं रहता, सब कुछ संपादित कर दिया जाता। परंतु ऐसा कभी नहीं होता। लक्ष्य तक पहुंचने में मार्गगत अनेक बाधाएं, अनेक प्रतिरोध और खतरे आते हैं। उनको पार करना हर एक साधक के लिए सरल नहीं होता। लक्ष्य तक पहुंचना इतना सीधा रास्ता नहीं है। समाधि और मन की शांति अच्छी है। उसे प्राप्त करना चाहिए। यह प्रत्येक मनुष्य चाहता है। पर वह उसे प्राप्त नहीं कर पाता। अनेक रुकावटें आ जाती हैं। उसके सामने यह प्रश्न बना रहता है कि उन रुकावटों का पार कैसे पाया जाए? उनकी सीमाओं का अतिक्रमण कैसे किया जाए?

असमाधि का मूल कारण है—प्रियता और अप्रियता का संवेदन। संवेदन जितना तीव्र होता है असमाधि भी उतनी ही तीव्र होती है। समाधि की प्राप्ति के लिए हम इस संवेदन को कम करें। प्रियता और अप्रियता का सवेदन तब कम होता है जब आदमी को भीतर की झलक मिल जाती है। जब मनुष्य विषय के जगत् में जीता है, इन्द्रिय-संवेदनों को सुख मानता है तब तक उसे समाधि का अनुभव नहीं हो सकता। आदमी सदा प्रवृत्ति को देखता है, परिणाम को नहीं देखता। वह आपातभद्र होता है, परिणामभद्र नहीं होता। वह यही देखता है कि प्रवृत्ति का क्षण सुखदायक है या नहीं? प्रवृत्ति-काल में यदि प्रिय संवेदन होता है तो वह उसे अच्छा मानता है। परिणाम उसका चाहे कितना भी अनिष्ट हो, आदमी उस ओर ध्यान नहीं देता। आदमी उसे अच्छा मानता है जो प्रवृत्ति-काल में अच्छा हो। आदमी उसे बुरा मानता है जो प्रवृत्ति-काल में बुरा हो। इन्द्रिय-संवेदन में सुख मानने वाले व्यक्ति को यदि कहा जाए कि इन संवेदनों के परे भी कोई सुख है, आनन्द है, तो उसे विश्वास ही नहीं होगा। उसे कहा जाए कि ऐसी भी प्रवृत्तियां हैं जो परिणामभद्र होती हैं, जिनका परिणाम सुखद होता है, वह उसे स्वीकार तभी करेगा जब वे प्रवृत्तियां भी प्रवृत्ति-काल में सुख देने वाली हों।

मूल बात है, आदमी को भीतर का साक्षात् हुए बिना प्रियता और अप्रियता

का संवेदन कम नहीं हो सकता। यह तीव्रता तब मिलती है जब कोई दूसरी झलक मिल जाती है। नया आकर्षण हुए बिना, पुराना आकर्षण मिट नहीं सकता। इन्द्रियजन्य सुख का आकर्षण तब तक बना रहता है जब तक उसमें विशिष्ट आनन्द का आकर्षण मन में पैदा नहीं हो जाता। जब इन्द्रिय-विषयों के सेवन से सुख मिलता है तब आदमी वह उपदेश कैसे स्वीकार करेगा कि इन्द्रिय-विषय बुरे हैं, दुःख देने वाले हैं, विकार उत्पन्न करने वाले हैं। यह उपदेश कभी कारगर नहीं होगा। यह उपदेश तभी सफल हो सकता है जब व्यक्ति को अपने आन्तरिक सुख का स्पष्ट और साक्षात् अनुभव हो जाए। इस अनुभव का एक क्षण भी प्रियता और अप्रियता के मजबूत बंधन को ढीला कर देता है। तब संवेदन की तीव्रता मंद हो जाती है। संवेदन की तीव्रता का कम होना समाधि का पहला सोपान है, आदि-बिन्दु है।

जब समाधि का यह आदि-बिन्दु प्राप्त हो जाता है तब उसका परिणाम यह होता है कि आदमी में प्रतिक्रिया की शक्ति कम हो जाती है। दुःख-चक्र का अंतिम तत्त्व है—प्रतिक्रिया। तनाव होता है, तनाव से प्रतिक्रिया होती है और प्रतिक्रिया से प्रियता-अप्रियता होती है, फिर अतृप्ति, चोरी, माया, झूठ—यह चक्र चलता रहता है। प्रतिक्रिया तब तक रहती है जब तक संवेदन की तीव्रता रहती है। जब संवेदनों पर नियंत्रण हो जाता है, उनकी तीव्रता समाप्त हो जाती है तब प्रतिक्रिया भी समाप्त हो जाती है। फिर प्रतिक्रिया नहीं होती।

एक व्यक्ति बीज बो रहा था। दूसरे ने पूछा—क्या बो रहे हो? उसने कहा—नहीं बताऊंगा। तब उसने कहा—आज नहीं बताओगे तो क्या! जब बीज उगेगा तब पता लग ही जाएगा कि वह क्या बीज है? वह व्यक्ति बोला—ऐसा बीज बोऊंगा जो उगेगा ही नहीं।

यदि हम ऐसा बीज बोएं जो उग न सके, जो प्रतिक्रिया न कर सके, तो फर्क होगा, प्रतिक्रिया नहीं होगी। उगे और प्रतिक्रिया न हो, ऐसा संभव नहीं है। उगने के साथ प्रतिक्रिया जुड़ी हुई है। प्रतिक्रिया से मूल बीज का पता लग जाता है। पेड़ प्रतिक्रिया है। पेड़ को देखकर बीज को जान लिया जाता है। आम के वृक्ष को देखकर पूछने की आवश्यकता नहीं होती कि यह किस बीज का परिणाम है, प्रतिक्रिया है?

भगवान् महावीर ने कहा—जो व्यक्ति श्रोत्र-इन्द्रिय का संयम करता है, वह श्रोत्रेन्द्रिय के निमित्त से (शब्द के निमित्त से) होने वाले कर्मबंध को रोक देता है। शब्द के निमित्त से नया कर्मबंध नहीं होता। जो व्यक्ति जीभ का संयम करता है, वह रस के निमित्त से होने वाले कर्मबंध को रोक देता है।

आज के शरीरशास्त्र और मानसशास्त्र भी इसी भाषा में बोल रहे हैं। मानसशास्त्री कहता है—कार्य जितना तीव्र होता है, उसकी प्रतिक्रिया भी उतनी

ही तीव्र होती है। एक्शन जितना तीव्र होगा, रिएक्शन भी उतना ही तीव्र होगा। जब छाप गहरी होती है तब उसका प्रतिफलन या प्रतिक्रिया होती है। रिफ्लेक्शन होता है तो रिएक्शन होता है। जितनी प्रतिवर्तित क्रियाएं होती हैं, ये सारी गहरी छाप के कारण होती हैं। आदमी बाजार से गुजरता है। हजारों दृश्य देखता है। हजारों वस्तुएं देखता है। किन्तु सारी वस्तुओं की स्मृति उसे नहीं होती। वह कुछ-एक वस्तुओं के ही नाम गिना पाता है। जिन वस्तुओं पर उसने गहरा ध्यान दिया है, जिन वस्तुओं ने उसे गहरा प्रभावित किया है, उस पर गहरी छाप छोड़ी है, वे स्मृति-कोष्ठों में अंकित हो जाते हैं, शेष सारे दृश्य या वस्तुएं आंखों के सामने आईं और चली गईं।

तर्कशास्त्र में प्रमाण के तीन दोष माने गए हैं—संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय। संशय होता है तो ज्ञान प्रमाण नहीं होता। विपर्यय ज्ञान भी प्रमाण नहीं माना जाता। रण में पानी दीखता हैं, पर पास जाने पर कुछ भी नहीं। यह मृग-मरीचिका विपर्यय है। यह ज्ञान प्रमाण नहीं होता। अनध्यवसाय भी प्रमाण नहीं होता। अध्यवसाय ही प्रमाण होता है। अनध्यवसाय में सामने आने वाली वस्तु अपना गहरा प्रतिबिम्ब नहीं डालती, गहरी छाप नहीं डालती। जिसकी छाप गहरी नहीं होती उसकी स्मृति भी नहीं हो सकती।

अध्यात्म की भाषा में कहा गया है कि जिसका संवेदन तीव्र नहीं होता उससे नया कर्मबंध नहीं होता। जब कर्मबंध नहीं होता तो उसका विपाक भी नहीं होता। उसको भुगतना नहीं पड़ता।

यही बात शरीरशास्त्र और मानसशास्त्र में प्राप्त होती है। तथ्यों में कोई अन्तर नहीं है, केवल भाषा का अन्तर है। अध्याम कर्मशास्त्र की भाषा में बोलता है और यह शरीरशास्त्रीय, मानसशास्त्रीय भाषा है।

सचाई यह है कि क्रिया की गहरी छाप तब पड़ती है जब संवेदन तीव्र होता है। आदमी कर्म को सर्वथा नहीं छोड़ सकता। पर यह संभव है कि कर्म चले पर उसकी छाप न पड़े। जब ऐसा होता है तब समाधि का पहला सोपान प्राप्त हो जाता है। यही असमाधि पर पहला प्रहार है। प्रियता और अप्रियता के संवेदन पर नियंत्रण पाना—यह असमाधि की सघनता को मिटाने का पहला प्रयत्न है। प्रियता और अप्रियता को सर्वथा छोड़ देना असंभव कार्य है। क्योंकि इतना दीर्घ-कालीन संस्कार जिसे शरीर और मन प्रभावित करता है, इन्द्रियां प्रभावित करती हैं, सभी बाह्य उद्दीपन प्रभावित करते हैं, उस चक्र को सहसा कैसे तोड़ा जा सकता है? उसे सहसा तोड़ देना संभव नहीं लगता। किन्तु कभी कोई एक ऐसी घटना घटित होती है और वह बात फलित हो जाती है। हम ध्यान, कायोत्सर्ग और शरीर-प्रेक्षा का अभ्यास इसीलिए करते हैं कि कोई ऐसी घटना घटित हो जाए जिससे शरीर से भिन्न अपने चैतन्य का बोध हो जाए, उसकी झलक मिल

जाए। शरीर को देखते-देखते प्राण का प्रवाह पकड़ में आ जाए। प्राण के प्रवाह को देखते-देखते सूक्ष्म शरीर के प्रकंपन पकड़ में आ जाएं और उनसे आगे सूक्ष्मतम शरीर—कर्म शरीर के प्रकंपन अनुभव में आने लग जाएं। चैतन्य के स्पन्दन भी अज्ञात न रहें। जब आनन्द का वह महास्रोत हमारी पकड़ में आ जाता है तब बाहर का जगत् फीका लगने लग जाता है। हमारी समस्याएं इसीलिए उभरती हैं कि हम बाह्य जगत् में अधिक जीते हैं, आंतरिक जगत् में जीने का प्रयास नहीं करते। जब तक भीतर के दरवाजे नहीं खुलते तब तक हमारी अपार सपदा का हमें भान नहीं होता। भीतर के शब्द कितने सुखद हैं, भीतर की गंध कितनी मीठी है, भीतर का रूप कितना मोहक है, इनका हमें तब तक अनुभव नहीं होता जब तक हम भीतरी दरवाजों और खिड़कियों को नहीं खोल देते। जब तक भीतर के शब्द, रूप, रस, गंध, स्पर्श और आनन्द का अनुभव नहीं होता तब तक आदमी कितना ही पढ़े, ज्ञान करे, सुने, उसका आकर्षण बाह्य जगत् में ही होगा। इस आकर्षण को नहीं तोड़ा जा सकता। धर्म का कितना ही उपदेश सुनें, धर्म के क्रियाकांडों की उपासना करें, किन्तु जब तक भीतर का जागरण घटित नहीं होगा, भीतर की झलक नहीं मिलेगी, तब तक आकर्षण बाहर ही जाएगा, भीतर नहीं। कान की बात कान तक पहुंचकर रह जाएगी और मस्तिष्क की बात मस्तिष्क के तंतुओं को झंकृत कर समाप्त हो जाएगी। वह भीतर तक नहीं पहुंच सकेगी। भीतर का साम्राज्य अनोखा है। उसका अपना सिद्धान्त है, नियम है, अनुभव है। उसकी व्याख्या और परिभाषा दूसरी है।

संन्यासी ने राजा से कहा—मुझे सोने की गंध आती है, इसलिए मैं राजमहल में नहीं जाऊंगा, क्योंकि वहां सर्वत्र सोना ही सोना है। राजा ने कहा—सोने में गंध होती ही नहीं, फिर आएगी कैसे? संन्यासी राजा को चमारवाड़े में ले गया। चमड़े की दुर्गन्ध से राजा का सिर फटने लगा। चमारों से पूछा—क्या तुम्हें कभी दुर्गन्ध का अनुभव होता है? उन्होंने कहा—महाराज! चमड़े की दुर्गन्ध होती ही नहीं। संन्यासी ने कहा—राजन्! चमड़े के बीच रहने वाले को कभी बदबू नहीं सताती। इसी प्रकार सोने के मध्य में जीने वालों को सोने की गंध नहीं आती। चमड़े की गंध उसे आएगी जो चमड़े के बीच नहीं रहता। सोने की गंध उसे आएगी जो सोने के बीच नहीं रहता, सोने से दूर रहता है। जो सोने से दूर रहता है वही सोने की बुराई का अनुभव कर सकता है। जो सोने में रचा-पचा रहता है, वह सोने की बुराई का क्या अनुभव करेगा?

जो व्यक्ति भीतर के जगत् में प्रवेश नहीं करता, जो अपने चैतन्य का अनुभव नहीं करता, जो अपने भीतर विद्यमान आनन्द, शक्ति और ज्ञान का स्पर्श नहीं करता, उस व्यक्ति को कोई उपदेश बदल नहीं सकता। उस व्यक्ति के आकर्षण-बिंदु को कोई मिटा नहीं सकता। उस व्यक्ति का आकर्षण केन्द्र

बाह्य में है और रहेगा। कोई परिवर्तन नहीं आएगा, फिर चाहे उसके लिए कितने ही नियम, सिद्धान्त और उपदेश बना दें। आज का यह ज्वलंत प्रश्न है कि आज धर्म के द्वारा वह घटित नहीं हो रहा है, जो होना चाहिए। आज इतने धर्म और धर्मगुरु हैं, इतने शास्त्र और इतने धर्मस्थल हैं—फिर भी धर्म का जो परिणाम आना चाहिए वह नहीं आ रहा है, किन्तु सब कुछ विपरीत हो रहा है, यह क्यों ?

तीन प्रकार की चेतनाएं हैं—इन्द्रिय-चेतना, मनश्चेतना और बौद्धिक-चेतना। आदमी इन तीनों को काम में लेता है और इन तीनों पर पूरा विश्वास करता है। अनुभव की बात यह है कि ये तीनों चेतनाएं मनुष्य को उलझाती हैं, सुलझाती नहीं। इन्द्रिय-चेतना का जागरण होने पर आसक्ति का जागरण होता है। वैराग्य दब जाता है। आदमी इन्द्रिय-चेतना को काम में ले पर उस पर भरोसा न करे। यही बात मनश्चेतना के विषय में है। मन चंचल है, नटखट है। उस पर पूरा भरोसा करने पर वह धोखा दे जाता है। आदमी बुद्धि की चेतना से काम करता है। वह तर्क का व्यवहार करता है पर उसे यह जान लेना चाहिए कि तर्क भीतर तक नहीं पहुंचता। वह आदमी को उलझा देता है। यह इस दुनिया का सबसे बड़ा सक्षम शस्त्र है। इससे बड़े-बड़े शस्त्र काटे जा सकते हैं। तर्क हर बात को काट सकता है, फिर वह बात चाहे किसी के द्वारा ही क्यों न कही गई हो। ऐसे बौद्धिक प्रश्न सामने आते हैं जहां हार-जीत का प्रश्न होता है। बुद्धि आखिर बुद्धि है। जो बुद्धि के व्यायाम में निपुण है वह जीत जाता है और जो उस खेल में निपुण नहीं है, वह हार जाता है। आदमी व्यवहार की दुनिया में बुद्धि के सहारे जीत सकता है, पर वह सचाई तक नहीं पहुंच सकता।

पंडित रघुनन्दन शर्मा अलीगढ़ के निवासी थे। वे संस्कृत के प्रकांड पंडित और बेजोड़ आशुकवि थे। एक बार वे रेल से यात्रा कर रहे थे। साथ में उनका एक शिष्य था। पास में एक पंडित बैठा था। शिष्य ने उस पंडित से पूछ लिया—श्रीमदानां किं नामधेयं ? आपका नाम क्या है ? उस पंडित का अहं फुफकार उठा। उसने कहा—'श्रीमदानां' यह अशुद्ध प्रयोग कैसे किया ? पंडित रघुनन्दनजी ने शिष्य की बात को सहारा देते हुए कहा—यह प्रयोग अशुद्ध नहीं है, शुद्ध है। इसका विग्रह इस प्रकार किया जा सकता है—श्रीयः मदः इति श्रीमदः, तेषां श्रीमदानां। पंडित चुप हो गया।

यह तर्क और बुद्धि न जाने कब सत्य को असत्य और असत्य को सत्य ठहरा दे। मेरे जीवन में भी ऐसे अनेक प्रश्न आए हैं जब मैंने भी, दूसरों को लगने वाले अशुद्ध प्रयोगों को, शुद्ध प्रमाणित किया है और वह भी प्रमाणों और व्याकरण के प्रयोगों के द्वारा। पर मैं बुद्धि और तर्क पर पूरा भरोसा कभी नहीं करता।

हमारी चेतना की पहली मंजिल है—इन्द्रिय-चेतना। दूसरी मंजिल है

मनश्चेतना और तीसरी मंजिल है बौद्धिक-चेतना। हमें सचाई तक पहुंचना है, धर्म या आन्तरिक संपदा तक पहुंचना है तो इन तीनों भूमिकाओं से परे जाकर चौथी भूमिका को हस्तगत करना होगा। वह चौथी भूमिका है—अनुभव-चेतना।

आज धर्म इसीलिए निष्प्राण-सा हो रहा है कि उसकी आराधना अनुभव-चेतना के स्तर पर नहीं की जा रही है। वह केवल मनश्चेतना और बौद्धिक-चेतना के आधार पर की जा रही है। तर्क तर्क को उत्पन्न करता है। वह समस्या पैदा करता है, कभी समाधान नहीं देता।

जब अनुभव की चेतना जागती है तब बुद्धि, जो कभी बहुत शक्तिशाली लग रही थी, शक्तिहीन लगने लगती है। मन भी कमजोर लगने लगता है। फिर विश्वास टूटता है और फिर इन्द्रियों, मन और बुद्धि द्वारा जो प्राप्त होता है उसमें कुछ सार नहीं लगता। अनुभव की चेतना नहीं जागती तब आदमी आंख, कान, जीभ द्वारा प्राप्त संवेदनों को ही सारभूत मानता है। उसकी दृढ़ धारणा बन जाती है कि इन्द्रियों द्वारा जो उपलब्ध होता है वही सार है। मन के द्वारा जो उपलब्ध होता है वही सार है। मन के तीन कार्य हैं—स्मृति, कल्पना और चिन्तन। इनके द्वारा प्राप्त होता है वही सार है। उसे भीतर में कोई सार नजर नहीं आता। जब आदमी इन सब भूमिकाओं को पार कर ऊपर चढ़ जाता है तब उसे लगता है कि जिसे वह सार मान रहा था, वे वास्तव में सारहीन हैं और जो सार है वह भीतर में पड़ा है। यह जागरण दो प्रकार से हो सकता है—स्वभाव से या अभ्यास से—'निसर्गाद् वा अधिगमाद् वा।' अचानक भी ऐसी घटना घटित हो सकती है, अचानक कोई संवेग दर्शन हो सकता है कि व्यक्ति में अनुभव की चेतना जागृत हो जाती है। अभ्यास के द्वारा भी इसका जागरण किया जा सकता है। किसी प्रबुद्ध व्यक्ति से सुनकर या स्वयं में विशिष्ट ज्ञान की उपलब्धि होने पर भी यह जागरण हो सकता है। जब यह जागरण होता है तब बाह्य सीमाओं का अतिक्रमण कर साधक आन्तरिक सीमा में प्रवेश पा जाता है।

आदमी अनुभव की मंजिल पर चढ़ नहीं पाता और कहता है इन्द्रियों में कोई सार नहीं है। इन्द्रियां हंसती हैं कि आदमी कितना पागल है। वह हमें भोगता जा रहा है और कहता भी जा रहा है कि इनमें कोई सार नहीं है। आदमी कहता है—मन भटकाता है, मन दुःख देता है। मन सोचता है—कितना मूर्ख है आदमी कि वह मुझे भोगता भी जा रहा है और कोसता भी जा रहा है।

लोग पूछते हैं—हम किस मन को चंचल कहें और किस मन को स्थिर कहें? किस मन के द्वारा हम दुःख भोग रहे हैं और किस मन के द्वारा हम दुःख को काट रहे हैं? क्या मन भी दो हैं? एक दुःख देने वाला और दूसरा दुःख काटने वाला। मन सोचता है—मेरी छाया में पलने-पुसने वाला आदमी मेरी छाया को ही बुरा-भला कह रहा है। बुद्धि भी यही सोचती है कि आदमी मेरे से खेल खेल रहा है

और मुझे ही गालियां दे रहा है।

जो व्यक्ति इन्द्रिय-चेतना, मनश्चेतना और बौद्धिक-चेतना की परिधि में जीता है, उसे इन्द्रिय, मन और बुद्धि को कोसने का कोई अधिकार ही नहीं है और उनके उपभोग में सार नहीं है, यह कहना शत-प्रतिशत झूठ है। इन्हें असार कहने का अधिकार तब प्राप्त होता है जब साधक इन तीनों चेतनाओं से ऊपर उठकर अनुभव की चेतना में जीने लगता है।

अनुभव की चेतना समाधि का पहला सोपान है। यहां पहुंचने पर प्रियता और अप्रियता का संवेदन समाप्त हो जाता है या कम हो जाता है। उस स्थिति में जीवन के सारे व्यवहार, प्रवृत्तियां और कर्म प्रतिक्रियाशून्य हो जाते हैं। काम चलता है, पर प्रतिक्रिया नहीं होती। पैर चलता है, पर उसका पदचिह्न नहीं बनता। रोटी खाते हैं, शेष कुछ नहीं बचता। काम हो और शेष कुछ भी न रहे, यह है प्रतिक्रियाशून्य जीवन। यही दुःख-चक्र को तोड़ने वाला है। यह तब उपलब्ध होता है जब व्यक्ति चौथी मंजिल पर आरोहण कर लेता है। धर्म की सारी व्याख्या, परिभाषा और धर्म का सारा प्रतिपादन अनुभव की चेतना में प्रवेश कर दिया गया है। धर्म का बोध और धर्म की समझ उन्हीं लोगों को हुई है जिन्होंने अपना पैर अनुभव की चेतना में जमा दिया। यदि ऐसा नहीं होता तो वे न धर्म की बात कहने का अधिकार पाते और न इन्द्रिय-विषयों को असार कहने का अधिकार पाते। यह तभी घटित होता है जब समाधि का पहला सोपान हमारे पैरों के नीचे आ जाता है।

१५. संयम और समाधि

तवेणं भंते ! जीवे किं जणयइ? तवेणं वोदाणं जणयइ।

भगवन् ! तपस्या से जीव क्या प्राप्त करता है ? तपस्या से व्यक्ति व्यवदान—पूर्व-संचित कर्मों को क्षीण कर विशुद्धि को प्राप्त होता है।

१. दस विधा समाधि पण्णत्ता, तं जहा—

- पाणातिवायवेरमणे
- मुसावायवेरमणे
- अदिण्णादाणवेरमणे
- मेहुणवेरमणे
- परिग्गहवेरमणे
- इरिया समिति
- भासा समिति
- एसणा समिति
- आयाणभंडमत्त णिक्खेवणा समिति
- उच्चार पासवण-खेल-सिंघाणग-जल्ल-पारिट्ठावणिया समिति

- समाधि के दस प्रकार हैं—
- प्राणातिपात-विरमण
- मृषावाद-विरमण
- अदत्तादान-विरमण
- मैथुन-विरमण
- परिग्रह-विरमण
- ईर्या समिति
- भाषा समिति
- एषणा समिति
- आदानभण्ड-अमत्र-निक्षेप समिति
- उच्चार-प्रस्रवण-श्लेष्म-सिंघाण-जल्ल-पारिष्ठापनिका समिति

- समाधि के चार साधन—

१. वैराग्य
२. एकाग्रता
३. श्वास-संयम
४. प्रसन्नता
५. समाधि है भीतर में जागना।

२. मनोविज्ञान की भाषा में अवचेतन मन को सक्रिय करना।

३. मस्तिष्क—मेरुप्रणाली (सेरेब्रो स्पाइनल सिस्टम) द्वारा संचालित सक्रिय

ास सीमा तक कम होती है, उस सीमा तक अवचेतन मन की सक्रियता
ढ़ती है।
ंयम के दो अर्थ—नियंत्रण और अनुभव।
वेदन-नियंत्रण से वैराग्य,
ाचार-नियंत्रण से एकाग्रता,
वेग-नियंत्रण से प्रसन्नता—उपलब्ध होती है।
ास नियंत्रण द्वारा संवेदन-नियंत्रण,
ायत्त-तंत्रिका पर धीरे-धीरे नियंत्रण।
वेदन-नियंत्रण विचार-नियंत्रण में सहायक।
ाचार-नियंत्रण संवेग-नियंत्रण में सहायक।
वेग का संबंध ग्रन्थियों के स्राव से और ग्रन्थियों का संबंध स्वायत्त-तंत्रिका
त्र से और स्वायत्त-तंत्रिका-तंत्र का संबंध हाइपोथेलेमस से। हाइपोथेलेमस
ा संबंध तैजस शरीर से।

पन्द्रह

शब्दों की कारा

चैतन्य-केन्द्र-प्रेक्षा का प्रयोजन यही है कि वे जागृत हों, सक्रिय हों।
माध्यम से हम चेतना की गहराई तक पहुंचे, समाधि प्राप्त करें।

समाधि की अनेक परिभाषाएं हैं। उनमें एक है—जब ध्याता, ध्येय और
का भेद नहीं रहता तब समाधि घटित होती है। जब तक ध्याता अलग,
और ध्यान अलग होता है तब तक समाधि नहीं होती। यह परिभाषा
परन्तु आज के संदर्भ में लगता है कि यह अनुभवहीन परिभाषा है। कुछ
नहीं आता कि समाधि क्या है? जब अनुभव समाप्त हो जाता है, कोरा
जाता है तब हर वस्तु का मूल्य कम हो जाता है। समाधि का मूल्य भी कम
क्योंकि यह परिभाषा निर्जीव और प्राणहीन बन गई, अनुभवहीन बन गई
प्रकार धर्म का उपदेश भी अनुभवहीन हो गया। धर्म का उपदेष्टा यदि अनु
वाणी में बोलता है तब उसकी वाणी प्राणवान् और सार्थक होती है। यदि
वाला स्वयं अनुभवशून्य होता है तो उसके शब्द केवल प्रपंचमात्र रह जाते हैं
का मायाजाल बिछता है। कोई भी व्यक्ति उसके उपदेश से लाभान्वित
सकता।

एक प्रबुद्ध व्यक्ति धर्म-स्थान में गया। प्रवचन सुना। घर आकर उसने
कार को पत्र लिखा—'मैंने आज आपका अनुभवहीन प्रवचन सुना। आपके
का एक-एक शब्द मेरी पुस्तक में है। मैं वह पुस्तक आपके चरणों में भेंट
भेज रहा हूं।' उसने पत्र के साथ पुस्तक भेज दी। प्रवचनकार ने पत्र पढ़ा।
खोली। वह था शब्दकोष। वह आश्चर्यचकित रह गया। लज्जित भी हुआ

यह एक तीखा व्यंग है। जब अनुभव कुछ भी नहीं होता और केवल
दोहराई जाती है, केवल शाब्दिक घटाटोप होता है, तो वे सारे शब्द
मिल जाते हैं, जीवन में उनका अवतरण कभी नहीं होता। न प्रवचनकार के
में वे शब्द मिलते हैं और न सुनने वालों के जीवन में वे शब्द मिलते हैं।

ब्दकोश को दोहरा देता है और श्रोता शब्दकोश को सुन लेता है। मूल प्रश्न ाव का। परिभाषा की कोई उलझन नहीं है।

ा है भीतर में जागना

ाधि का अर्थ है—भीतर में जागना। जो व्यक्ति भीतर में जागना शुरू कर वह समाधि को उपलब्ध होता है। जो व्यक्ति भीतर में जागना शुरू नहीं जो केवल बाहर ही बाहर जागता है, वह कभी समाधि को उपलब्ध नहीं

द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और भाव—इन छह विषयों में जीने वाला व्यक्ति जीता है। भाव का अर्थ है—मन के भाव—क्रोध, मान, माया, कपट, र्ष्या, द्वेष आदि। जो इन छह विषयों से हटकर जीता है वह भीतर में , भीतर में जागता है। जब व्यक्ति भीतर में जागता है, भीतर में जीता ाधि अपने आप घटित होती है।

ाधि का अर्थ है—भीतर में जागना, भीतर में जीना। असमाधि का अर्थ र में जागना, बाहर में जीना। मनुष्य सहज ही बाहर के प्रति जागरूक क्योंकि बाहर में जितना आकर्षण है उतना भीतर में नहीं है। भीतर में तो बहुत है, परन्तु आदमी उससे परिचित नहीं है। समाधि का अर्थ ही है परिचित होना, अपने आप से परिचित होना। जब मनुष्य अपने आप त होना शुरू कर देता है और परिचित हो जाता है तब बाहर में जीना ए कठिन हो जाता है। बाहर में जीता है तो भी केवल एक साक्षी के रूप है, तटस्थता के साथ जीता है किन्तु उसमें वह आकर्षण नहीं रहता जो ता था। आकर्षण की दिशा बदल जाती है। नया आयाम खुल जाता है।

के तीन आयाम

तक जीवन में समाधि का अवतरण नहीं होता तब तक आदमी प्रियता यता—इन दो आयामों में जीता है। उसका सारा जीवन राग और द्वेष में बीतता है। जब उसे भीतर का परिचय प्राप्त होता है, आन्तरिक होता है तब तीसरा आयाम उद्घाटित होता है। वह तीसरा आयाम है— ा, समता या संयम। यह जीवन का तीसरा आयाम है। इस आयाम में ा समाधि को प्राप्त होता है। सामान्यतः आदमी प्रियता या राग में अथवा अप्रियता या द्वेष में जीता है। इन दोनों से परे होकर 'समता' में के लिए सुलभ नहीं है। सामायिक का उपलब्ध होना सरल नहीं है। परंपरागतरूप में सामायिक का अनुष्ठान करते हैं। मुनि की सामायिक न की होती है और उपासक की सामायिक अल्पकालिक होती है।

सामायिक का अर्थ है—समताभाव में अवस्थिति। सामायिक करने वाला स
में रहता है। यह कभी नहीं हो सकता कि कोई व्यक्ति सामायिक करे
असमाधि में रहे, मन की अशान्ति को भोगता रहे। जब सामायिक होगी, स
होगी तो समाधि अपने आप होगी। सामायिक, समता, संयम और समाधि
एकार्थक हैं। समता का अवतरण तब होता है जब प्रियता और अप्रियता की
खुलती है, राग और द्वेष की ग्रन्थि का विमोचन होता है। इस गांठ के खुले
समता का अवतरण नहीं हो सकता।

समाधि के तीन साधन

ग्रन्थि कैसे खुले, यह एक प्रश्न है। समाधि और संयम कैसे प्राप्त हो,
समझना है। समाधि को प्राप्त करने के अनेक साधन हैं। उनमें तीन मुख्य
वैराग्य, एकाग्रता और चित्त की प्रसन्नता। ये तीन बड़े साधन हैं, तीन बड़े सो
हैं, पर इन पर आरोहण कैसे किया जाए? सोपान-श्रेणी ऊपर तक पहुंचाती
पर प्रश्न है कि उस पर चढ़ा कैसे जाए? प्रश्न वैसा ही बना रह जाता है।

एक आदमी नौका पर चढ़ा। कुछ अंधेरा था। उसने नाव को सेना प्र
किया। नाव सेता रहा। रात बीतती गई। रातभर नाव सेता रहा। कुछ उज
हुआ। उसने सोचा दूसरा तट आ गया है। वह नौका से उतरा। उसने देखा
तट वही है जहां से वह नौका पर चढ़ा था। रात भर नौका सेता रहा, पर प
कहीं नहीं। उसने ध्यान से देखा। नौका एक रस्से से बंधी थी। वह उस रस्से
खोलना भूल गया था। नौका आगे नहीं चली। वह कहीं नहीं पहुंचा।

आदमी के जीवन में ये घटनाएं घटित होती रहती हैं। वह अपनी जीवन न
को सेए जा रहा है। वह नौका रस्से से बंधी हुई है। आदमी उस रस्से को खो
भूल गया है। वह मानता है कि नौका चल रही है। फिर भी वह कहीं नहीं प
पा रहा है।

इसी प्रकार समाधि की बात वहीं की वहीं रह गई है। आदमी जानता
वैराग्य से समाधि घटित होती है, एकाग्रता से समाधि घटित होती है और चि
की प्रसन्नता से समाधि घटित होती है। परंतु मूल प्रश्न है कि वैराग्य कैसे आ
पदार्थ के प्रति होने वाला राग कैसे मिटे? एकाग्रता की निष्पत्ति कैसे हो? मन
चंचलता कैसे मिटे? चित्त की प्रसन्नता कैसे बढ़े? संवेग कैसे कम हो? ये
यथावत् अनुत्तरित ही रह जाते हैं।

हम इन प्रश्नों का समाधान ढूंढ़ें। मैं मानता हूं कि जिस व्यक्ति ने श्व
नियंत्रण करना सीख लिया, उसमें वैराग्य, एकाग्रता और चित्त की प्रसन्नता—
तीनों स्वतः फलित होंगे। जो श्वास-नियंत्रण के सूत्र को नहीं जानता उस
वैराग्य फलित होता है और न एकाग्रता तथा चित्त की प्रसन्नता फलित होती

मनोविज्ञान के संदर्भ में हम समाधि को समझें। मनोविज्ञान का सिद्धान्त है कि जब तक संवेदन, विचार, संवेग, एमोशन और पेशन पर नियंत्रण नहीं होता तब तक समाधि या मन की शांति घटित नहीं होती। परन्तु प्रश्न है कि यह नियंत्रण कैसे हो ?

प्राचीन भाषा में जिसे वैराग्य कहा गया, मनोविज्ञान उसे संवेदन-नियंत्रण कहता है। विचार का नियंत्रण एकाग्रता है और संवेग का नियंत्रण चित्त की प्रसन्नता है।

मस्तिष्क : संवेदन-नियंत्रण केन्द्र

संवेदन का संबंध हमारी इन्द्रियों से है, मस्तिष्क से है। संवेदनों के सारे केन्द्र मस्तिष्क में हैं। आंख देखती है पर आंख के संवेदन का केन्द्र आंख के पास नहीं है, वह मस्तिष्क में है। जीभ स्वाद लेती है किन्तु उसका संवेदन-केन्द्र मस्तिष्क में है। जीभ, कान, आंख पर नियंत्रण करने की जरूरत नहीं है। किसी भी इन्द्रिय पर नियंत्रण की आवश्यकता नहीं है। आवश्यकता है मस्तिष्क और मेरुदंड—इन दो पर नियंत्रण पाने की। सारा नियंत्रण या संचालन मेरुदंड और मस्तिष्क द्वारा होता है। शरीरशास्त्रीय भाषा में इसे 'सेरेब्रो-स्पाइनल-सिस्टम' कहते हैं। इसके द्वारा सारा संचालन होता है।

जीवन क्या है ?

आदमी जीवित है। क्या इस चमड़ी या हड्डियों में जीवन है ? क्या इस रक्त और मांस में जीवन है ? नहीं, कोई जीवन नहीं है। सारा जीवन है नाड़ी-संस्थान या तंत्रिका-तंत्र में। सारा जीवन है ग्रन्थि-तंत्र में। हमें मेरुदंड, मस्तिष्क और ग्रन्थि-तंत्र—इन तीनों पर नियंत्रण पाना है। मस्तिष्क पर नियंत्रण होगा तो संवेदनों पर अपने आप नियंत्रण स्थापित हो जाएगा। मस्तिष्क पर नियंत्रण होगा तो विचार पर अपने आप नियंत्रण हो जाएगा। मेरुदंड पर नियंत्रण होगा तो संवेग या कषाय पर नियंत्रण हो जाएगा। कषाय पर नियंत्रण करने वाला मस्तिष्क नहीं है। नाड़ी-संस्थान के दो विभाग हैं। एक है स्वतःचालित और दूसरा है मस्तिष्क और मेरुदंड के द्वारा चालित अर्थात् नाड़ी-संस्थान के द्वारा चालित। हमारे जीवन की प्रणाली जो मस्तिष्क और मेरुदंड के द्वारा संचालित होती है, वह ऐच्छिक नहीं होती। किन्तु हमारी बहुत सारी क्रियाएं ऐच्छिक होती हैं। वे स्वशासित तंत्रिका-तंत्र द्वारा सम्पन्न होती हैं। आदमी को कुछ भी इच्छा करनी नहीं पड़ती, कुछ भी प्रयत्न नहीं करना पड़ता।

हृदय धड़क रहा है, गति कर रहा है। इसके लिए कुछ भी अपेक्षित नहीं है। आदमी को सोचना नहीं पड़ता। भोजन किया। पाचन क्रिया अपने आप होने लग

जाती है। लीवर अपना काम करता है। आमाशय अपना काम करता है और पक्वाशय अपना काम करता है। आदमी को इन क्रियाओं के लिए प्रयत्न करने की जरूरत नहीं होती। सारी क्रियाएं ऑटोमेटिक होती रहती हैं। जितने भी आंतरिक अवयव हैं, इन्टरनल ओरगन्स हैं, और जो ग्रन्थियां हैं उनके लिए आदमी को कुछ भी नहीं करना पड़ता। गुस्सा आता है। आप क्या करेंगे? जब भी एड्रीनल ग्रन्थि का स्राव बढ़ता है, आदमी गुस्से से भर जाता है। मधुमेह की बीमारी हुई और आदमी चिड़चिड़ा हो जाएगा। ये सब स्वतः होते हैं।

अनुकंपी-सहानुकंपी तंत्रिकाएं

नाड़ी-संस्थान में तंत्रिका-तंत्र की कुछ प्रवृत्तियां ऐसी हैं जो स्वतःसंचालित होती हैं और कुछ प्रवृत्तियां मेरुदंड और मस्तिष्क के द्वारा संचालित होती हैं। हाथ उठाना है। आदमी की इच्छा होगी तो हाथ उठेगा, अन्यथा नहीं। बोलना है। आदमी की इच्छा होगी तो वह बोलेगा अन्यथा नहीं। इसी प्रकार चलना, बैठना, घूमना, धूप से छांह में आना या छांह से धूप में जाना—ये सब प्रवृत्तियां इच्छा पर निर्भर करती हैं। आदमी चाहता है तो ये सब होती हैं, नहीं चाहता तो ये कभी नहीं होतीं। ये ऐच्छिक प्रवृत्तियां मस्तिष्क और मेरुदंड के द्वारा संचालित और नियंत्रित होती हैं। आन्तरिक अवयवों के कार्य, ग्रन्थियों का स्राव आदि सारे कार्य स्वायत्त तंत्रिका-तंत्र से निष्पादित होता है। मेरुदंड के दोनों ओर सिम्पेथेटिक और पेरा-सिम्पेथेटिक—अनुकंपी और सहानुकंपी ये दो प्रकार की तंत्रिकाओं के गुच्छ होते हैं। वहां से स्वायत्ततंत्रिका-तंत्र संचालित होता है। उसमें मस्तिष्क और मेरुदंड का विशेष उपयोग नहीं होता। किन्तु संबंध अवश्य जुड़ा रहता है।

परिवर्तन का मूलघटक : बायो-एलेक्ट्रीसिटी

आदमी संवेदनों,' विचारों और संवेगों पर नियंत्रण करना चाहता है किन्तु जब तक आन्तरिक क्रियाओं में कोई परिवर्तन नहीं आता तब तक नियंत्रण संभव नहीं होता। व्यक्ति को संचालित करते हैं आन्तरिक रसायन, आन्तरिक विद्युत्-प्रवाह और आन्तरिक तंत्रिका-तंत्र। जब तक हमारे रसायन न बदल जाएं, जब तक हमारी बोडीकेमिस्ट्री में कोई परिवर्तन न आ जाए, बायो-इलेक्ट्रीसिटी में कोई परिवर्तन न आ जाए तब तक कुछ भी परिवर्तन नहीं हो सकता। संवेगों का परिवर्तन तो हो ही नहीं सकता।

आत्मप्रतिष्ठित क्रोध : एक सचाई

एक आदमी प्रसन्न रहता है और दूसरा खिन्न रहता है। एक निश्चित है और दूसरा चिन्ताओं के भार से आक्रान्त है। इन वृत्तियों का मूल कारण है भीतरी

रसायन। वे जैसे होते हैं आदमी वैसा ही बन जाता है। योग की भाषा में ग्रन्थियों को चक्र और प्रेक्षा-ध्यान की भाषा में उन्हें चैतन्य-केन्द्र कहा जाता है। जब तक इन ग्रन्थियों के स्राव नहीं बदलते, समाधि निष्पन्न नहीं होती। क्रोध क्यों आता है? वह केवल उद्दीपनों, निमित्तों या बाहरी घटनाओं के कारण नहीं आता। हजार प्रतिकूल घटनाओं के होने पर भी एक व्यक्ति को गुस्सा नहीं आता और एक व्यक्ति साधारण सी घटना घटित होने पर क्रोध कर लेता है। यह क्यों? कोई उद्दीपन नहीं, कोई निमित्त नहीं, फिर क्रोध क्यों? स्थानांग सूत्र में क्रोधोत्पत्ति के चार कारण माने हैं—१. आत्मप्रतिष्ठित २. परप्रतिष्ठित ३. तदुभयप्रतिष्ठित ४. अप्रतिष्ठित।

इनमें तीन कारण (२, ३, ४) स्पष्ट हैं, हर व्यक्ति के सामने आते हैं। चौथा कारण बहुत महत्त्वपूर्ण है। वह है 'आयपयट्ठिएकोहे'—आत्म-प्रतिष्ठित क्रोध। यह वह क्रोध है जिसका कोई भी बाहरी कारण नहीं है। वह भीतर में उत्पन्न होता है और बाहर प्रकट हो जाता है। यह तथ्य सहजगम्य नहीं है। बिना निमित्त के क्रोध कैसे उत्पन्न होता है? बिना उद्दीपन के क्रोध कैसे उत्पन्न होता है? यह असंभव-सा लगता है। किन्तु शरीरशास्त्रीय और मानसशास्त्रीय अध्ययन के संदर्भ में लगता है कि बहुत बड़े सत्य की उद्घोषणा है—आत्मप्रतिष्ठित क्रोध। बाहर का कोई निमित्त नहीं, कोई हेतु नहीं, किन्तु ग्रन्थियों का स्राव बदल गया, एड्रीनल की मात्रा बढ़ गई और आदमी बहुत गुस्से से भर गया। बिना किसी निमित्त या कारण के मनुष्य दुःख, चिन्ता, घृणा, ईर्ष्या से भर जाता है। कारण होने पर कोई ईर्ष्या या घृणा करता है, वह बात छिपी नहीं रहती। परन्तु बिना कारण ईर्ष्या, घृणा करना कुछ अटपटा-सा लगता है। सदा प्रसन्न और सुखी रहने वाला आदमी भी निमित्त या उद्दीपन मिलने पर दुःखी रहने लग जाता है। निमित्तों से आदमी सुखी होता है, निमित्तों से आदमी दुःखी होता है। निमित्तों के आधार पर उसके भाव बदलते हैं। वह कभी दुःखी हो जाता है और कभी वह सुखी बन जाता है। वह कभी ईर्ष्या से भर जाता है और कभी वह घृणा से भर जाता है। फिर समाधि की बात कैसे की जाए? ये सारी घटनाएं असमाधि में डालने वाली हैं मन को अशान्त बनाने वाली हैं।

निमित्तों से बचो : भीतरी स्राव बदलो

निमित्तों और उद्दीपनों से बचना समाधि के लिए पर्याप्त
से और उद्दीपनों से बचना बहुत अच्छी बात है, परन्तु इस
नहीं होती। इससे व्यवहार सुखद बनता है, और और
है, परन्तु समाधि को घटित करने के लिए इतना ही
तक बचा जाए? समाधि घटित होती है भीतरी

से कितना ही बचे, किन्तु जिस क्षण बिल्ली सामने आती है तब उसके लिए जीवन-मरण का प्रश्न खड़ा हो जाता है । व्यक्ति दस वर्षों तक निमित्तों से बचता रहा। एक दिन निमित्त मिलते हैं और वह वैसा ही आचरण करने लग जाता है जैसे दस वर्ष पूर्व करता था। निमित्तों से बचना अच्छा है, पर पर्याप्त नहीं। ब्रह्मचारी से कहा गया—वह निमित्तों से बचे। स्त्री का संसर्ग न करे; शब्द, रूप, रस और गंध से बचे; प्रिय भोजन और कुतूहल से बचे। एक पूरी सूची है निमित्तों से बचने की। वह निमित्तों से बचता रहा। किन्तु भीतरी परिवर्तन घटित नहीं हुआ। परिवर्तन का प्रयत्न ही नहीं किया। प्रसंग आया। तीव्र निमित्त मिला और वह वर्षों से बचने वाला फिसल गया। निमित्तों से बचने की बात समाप्त हो गई। वह ठीक उसी परिस्थिति में चला गया, जिसमें वह पहले स्थित था।

मुनि स्थूलभद्र वेश्या के यहां चार मास बिताकर आचार्य के पास आये। आचार्य ने उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की। एक मुनि सिंह की गुफा पर चार मास बिताकर आए। आचार्य ने उनकी कोई प्रशंसा नहीं की। उन्होंने सोचा—यह क्या? इतना पक्षपात! मेरा स्थान कितना भयंकर था और स्थूलभद्र का स्थान कितना मनोरम! फिर भी आचार्य ने स्थूलभद्र की प्रशंसा की, मेरी नहीं। स्थूलभद्र प्रधानमंत्री का पुत्र है, ऐश्वर्यशाली है, इसलिए उसकी प्रशंसा हो गई। मेरी प्रशंसा कौन करे? उसके मन में ईर्ष्या का भाव जाग गया। वह आचार्य के पास आकर बोला—अब मैं वेश्या के घर चातुर्मास करूंगा। आचार्य ने समझाया। वह नहीं माना। वेश्या के घर जाकर रहा। कुछ दिनों तक निमित्तों से बचता रहा। उसमें आन्तरिक परिवर्तन पूर्णरूप से घटित नहीं हुआ था। एक दिन ऐसा आया कि वह वेश्या के मायाजाल में फंस गया। श्रामण्य से च्युत हो गया। लंबी कहानी है।

केवल निमित्तों से बचना पर्याप्त नहीं होता। दोनों ओर से बचना होता है। बाहर के निमित्तों से भी यथासंभव बचना चाहिए और आन्तरिक ग्रन्थियों के स्राव को भी बदलना चाहिए। कर्म का विपाक ग्रन्थियों के माध्यम से होता है। उसे भी बदलना चाहिए। हम अब इसे शरीरशास्त्रीय और मानसशास्त्रीय व्याख्या के संदर्भ में समझें। हमारा यह शरीर स्थूल है। इससे आगे है सूक्ष्म-शरीर और उससे आगे है अति सूक्ष्म शरीर। जैन दर्शन की शब्दावली में स्थूल-शरीर को औदारिक शरीर, सूक्ष्म शरीर को तैजस शरीर और अति सूक्ष्म-शरीर को कार्मण शरीर कहते हैं। हमारे भावों पर नियंत्रण करता है यह तैजस शरीर और तैजस शरीर पर नियंत्रण करता है कर्म शरीर। तैजस शरीर मस्तिष्क के एक भाग 'हाइपोथेलेमस' पर नियंत्रण करता है। हमारे शरीर का तापमान, चयापचय की प्रक्रिया (मेटाबोलिज्म)—यह सब तैजस शरीर द्वारा नियंत्रित होता है। शरीर में भूख, नींद आदि के जो नियंत्रण-केन्द्र हैं वे सारे मस्तिष्क के हाइपोथेलेमस भाग में हैं।

तैजस शरीर का नियंत्रण होता है इस स्वायत्त-तंत्रिका-तंत्र पर। इस तंत्र का नियंत्रण होता है ग्रन्थि-संस्थान पर। एक पूरी शृंखला जुड़ी हुई है। आन्तरिक स्रावों को बदलने के लिए, भीतरी परिवर्तन के लिए पूरी प्रक्रिया चलती है। जब लेश्या बदलती है तब परिवर्तन घटित होता है। जब मन में तेजोलेश्या, पद्मलेश्या और शुक्ललेश्या के भाव आते हैं तब तैजस शरीर से स्राव होता है और वह हमारी ग्रन्थियों में आता है। ग्रन्थियों के दो प्रकार हैं—अन्तःस्रावी ग्रन्थियां और बहिर्स्रावी ग्रन्थियां। लीवर बहिर्स्रावी ग्रन्थि है। उसका स्राव है पित्त। वह बाहर निकलता है। वह भोजन के साथ मिलकर पाचन में सहयोग देता है। चक्र अन्तः-स्रावी ग्रन्थियां हैं। ध्यान के द्वारा वे सक्रिय होती हैं। उनका स्राव शरीर से बाहर नहीं जाता। वह सीधा रक्त के साथ मिल जाता है और अपना प्रभाव डालता है। इन अन्तःस्रावी ग्रन्थियों के रस हमारे समूचे स्वभाव को प्रभावित करते हैं। व्यक्ति चिड़चिड़ा होगा या प्रसन्न, व्यक्ति क्रोधी होगा या शान्त, व्यक्ति ईर्ष्यालु होगा या उदार—यह सारा इन ग्रन्थियों के विभिन्न स्रावों पर निर्भर है। जैसा स्राव होगा वैसा ही स्वभाव निर्मित हो जाएगा। इन स्रावों को बदले बिना संवेगों पर नियंत्रण नहीं किया जा सकता और स्वभाव को भी नहीं बदला जा सकता। यदि थायराइड ग्लैण्ड, कंठमणि, स्वस्थ नहीं है तो क्रोध की मात्रा बढ़ जाएगी और भी अनेक प्रकार की वृत्तियां बढ़ जाएंगी। यह ग्रन्थि एड्रीनल को प्रभावित करती है और फलस्वरूप उत्तेजनाएं बढ़ जाती हैं। यदि गोनाड्स प्रभावित होंगी तो कामवासना बढ़ेगी।

भीतर में कैसे बदलें ?

हमें भीतर में बदलना है। हम भीतरी परिवर्तन का अभ्यास करें। हमें बाहर में बचना है और भीतर में बदलना है। यह तभी संभव है जब हम भीतरी जीव-रसायनों में परिवर्तन लायें। ग्रन्थियों के स्राव जैविक रसायन हैं। इनको बदलना है। विद्युत् के प्रवाह को बदलना है। प्राणधारा को बदलना है। यह परिवर्तन ध्यान, एकाग्रता, संयम और श्वास-नियंत्रण से घटित होता है। सबसे पहले श्वास-नियंत्रण आवश्यक होता है। जब हम श्वास को लंबा करना सीख लेते हैं, उसका प्रभाव स्वायत्त-तंत्रिका-तंत्र पर होता है। उसकी गति भी प्रभावित होती है। श्वास का संबंध ऐच्छिक और अनैच्छिक—दोनों प्रकार की तंत्रिका-तंत्र पर होता है। आप चाहें तो श्वास की गति को बढ़ा सकते हैं, घटा सकते हैं। यह बिना प्रयत्न के भी आता रहता है। इसलिए यह अनैच्छिक प्रवृत्ति है। इसको घटाया-बढ़ाया जा सकता है, इसलिए यह ऐच्छिक प्रवृत्ति है। श्वास को मंद किया जा सकता है, तीव्र किया जा सकता है। श्वास का संयम किया जा सकता है। उसे पूर्णरूप से रोका जा सकता है।

विधिपूर्वक करना ही सब कुछ

जैसे-जैसे श्वास पर नियंत्रण बढ़ता जाता है वैसे-वैसे स्वचालित नाड़ी-संस्थान की प्रवृत्ति में भी परिवर्तन होता चला जाता है। श्वास-संयम की प्रक्रिया बहुत महत्त्वपूर्ण है। श्वास की संख्या को घटाने का मूल्यांकन करना प्रत्येक साधक का कर्तव्य है। दीर्घश्वास, मंदश्वास, सूक्ष्मश्वास—ये तीनों बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। श्वास की क्रिया को बदलना समूचे व्यक्तित्व की धारा को बदलना है। जो श्वास को बदलना नहीं जानता, वह व्यक्तित्व की धारा को भी बदलना नहीं जान पाता। वह व्यक्तित्व के रहस्य को भी नहीं जानता। जिसने यह रहस्य खोजा कि श्वास-परिवर्तन के द्वारा समूचे जीवन को बदला जा सकता है, समूचे व्यक्तित्व को बदला जा सकता है, अध्यात्म के क्षेत्र में वह व्यक्ति सबसे बड़ा वैज्ञानिक था। वह सबसे बड़ा संत था। जो ध्यान करना प्रारम्भ कर देते हैं, परन्तु श्वास पर नियन्त्रण करना नहीं जानते, वे ध्यान में कभी सफल नहीं होते। ध्यान तभी सफल होता है जब वह विधिपूर्वक किया जाए। आज ही एक दम्पति आया। पति-पत्नी दोनों ध्यान करते हैं। उन्हें ध्यान करते दस वर्ष बीत गए। प्रतिदिन नियमितरूप से एक घंटा लगाते हैं। पर वे कह रहे थे कि उन्हें कुछ भी सफलता नहीं मिली। मन वैसा ही चंचल है। एकाग्रता सध नहीं पाती। मैंने पूछा—कौन-सी विधि से ध्यान करते हैं? उन्होंने कहा—कोई विधि नहीं। ऐसे ही आंखें बन्द कर बैठ जाते हैं। मैंने कहा—अभी तो दस वर्ष ही बीते हैं, यदि पचास वर्ष भी इस प्रकार बैठे रहें तो एकाग्रता नहीं आएगी, मन शान्त नहीं होगा। आप मुड़कर देखेंगे तो पता लगेगा कि आप उसी पदचिह्न पर खड़े हैं जहां पहला पदचिह्न अंकित किया था। कुछ भी आगे नहीं बढ़ पाए। ध्यान ही क्या, प्रत्येक साधना विधि से ही सफल होती है।

नियंत्रण का क्रम

समाधि की विधि का पहला सूत्र है—श्वास-नियंत्रण। श्वास पर जब नियंत्रण सध जाता है तब इन्द्रियों के संवेदन-केन्द्रों पर सहज नियंत्रण हो जाता है। संवेदन-केन्द्रों पर नियंत्रण करने पर विचार-नियंत्रण अपने आप हो जाता है। विचार की चंचलता को बढ़ाने वाले हैं—संवेदन। जब संवेदन आते हैं तब वैचारिक चंचलता बढ़ती है और तब मन को चंचल होना पड़ता है। जब संवेदन-केन्द्रों पर नियंत्रण हो जाता है तब विचारों पर नियंत्रण हो जाता है और जब विचार नियंत्रित हो जाते हैं तब मन की चंचलता मिट जाती है। जब संवेदन और विचार नियंत्रित होते हैं तब संवेग-नियंत्रण स्वतः प्राप्त हो जाता है। इन सब नियंत्रणों से भीतरी स्राव बदल जाते हैं। रासायनिक परिवर्तन घटित होता है।

कर्मशास्त्रीय भाषा में कहें तो कर्म-विपाक बदलने लग जाता है। कर्म के चार कार्य हैं—१. स्वभाव का निर्माण २. काल-मर्यादा का निर्माण ३. रस विपाक का निर्माण ४. योग्य परमाणुओं का संग्रह। जब आन्तरिक परिवर्तन होने लगते हैं तब रसायन बदल जाता है। जब संवेदन, विचार और संवेगों पर नियंत्रण हो जाता है तब आदमी भीतर में पूरा जाग जाता है और बाहर का दरवाजा बंद हो जाता है। इस स्थिति में समाधि स्वतः घटित होने लगती है।

१६. समाधि : साध्य या साधन

- जस्सिमे सद्दा य रूवा य गंधा य रसा य फासा य अभिसमन्नागया भवंति, से आयवं नाणवं वेयवं धम्मवं बंभवं ।

(आयारो ३।४)

- जो पुरुष इन शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्शों को भलीभांति जान लेता है, उनमें, राग-द्वेष नहीं रहता, वह आत्मवान्, ज्ञानवान्, वेदवान्, धर्मवान्, और ब्रह्मवान् होता है ।
- विरज्जमाणस्स य इन्दियत्था, सद्दाइया तावइयप्पगारा ।
न तस्स सव्वे वि मणुन्नयं वा, निव्वत्तयन्ती अमणुन्नयं वा ।।
- एवं ससंकप्पविकप्पणासु, संजायई समयमुवट्ठियस्स ।
अत्थे य संकप्पयओ तओ से, पहीयए कामगुणेसु तण्हा ।।

(उत्तरा० ३२।१०६, १०७)

- जितने प्रकार के शब्द आदि इन्द्रिय-विषय हैं, वे सब विरक्त मनुष्य के मन में मनोज्ञता या अमनोज्ञता उत्पन्न नहीं करते ।
- 'अपने राग-द्वेषात्मक संकल्प ही सब दोषों के मूल हैं'—जो इस प्रकार के चिन्तन में उद्यत होता है तथा 'इन्द्रिय-विषय दोषों के मूल नहीं हैं'—इस प्रकार का संकल्प करता है, उसके मन में समता उत्पन्न होती है । उससे उसकी काम-गुणों में होने वाली तृष्णा प्रक्षीण हो जाती है ।

१. ● आत्म-दर्शन का उपादान—समाधि ।

२. ● उपादान एक अवस्था में साधन, दूसरी अवस्था में साध्य । आदि और मध्य में समाधि साधन और चरम बिन्दु पर समाधि साध्य ।

३. ● आत्म-दर्शन का साधन है—विरक्ति ।
जितनी विरक्ति उतना संकल्प—नाश ।
पूर्ण विरक्ति पूर्ण समाधि ।

४. ● समाधि है—चैतन्य का अनुभव ।

५. ● जिस साधन से चैतन्य का अनुभव न हो वह समाधि नहीं ।

सोलह

शक्तिशाली नाड़ी-संस्थान

अध्यात्म की साधना प्रकाश की साधना है। अन्धकार से दूर होकर मनुष्य प्रकाश में जाना चाहता है। अन्धकार कभी प्रिय नहीं होता। प्रकाश सदा मनुष्य को प्रिय रहा है और उसने अपने जीवन में अधिकतम प्रकाश की दिशा में प्रस्थान किया है। मनुष्य में क्षमता है! नाड़ी-संस्थान जितना मनुष्य का शक्तिशाली है उतना किसी भी प्राणी का शक्तिशाली नहीं है। जितने प्राणी हैं उनमें सबसे अधिक शक्तिशाली नाड़ी-संस्थान मनुष्य को मिला है। इसलिए मनुष्य ही अन्धकार से प्रकाश की ओर जा सकता है। पशु नहीं जा सकता, क्योंकि पशु का नाड़ी-संस्थान उतना कार्यक्षम नहीं है, शक्तिशाली नहीं है। कहा जाता है, देवता भी मनुष्य होना चाहते हैं, मनुष्य होकर साधना करना चाहते हैं। ऐसा क्यों चाहते है? उन्हें भी वह नाड़ी-संस्थान प्राप्त नहीं है जिसके माध्यम से साधना की जा सके, विशिष्ट आराधना और नयी उपलब्धियां प्राप्त की जा सकें। मनुष्य के नाड़ी-संस्थान में दोनों विशेष प्रकार की शक्तियां है। ज्ञान की शक्ति भी है और कार्य की शक्ति भी है। उसके ज्ञानवाही तन्तु इतने शक्तिशाली हैं कि वह बड़ा ज्ञान उपलब्ध कर सकता है। हमारा ज्ञान बहुत छोटा ज्ञान है। हम मानते हैं कि आज का युग वैज्ञानिक युग है और इसमें ज्ञान का बहुत विकास हुआ है, किन्तु हमारे नाड़ी-संस्थान में ज्ञान के अवतरण की जितनी क्षमता है, उसके अनुपात में कुछ भी अवतरित नहीं हुआ है। बहुत छोटा ज्ञान आज मनुष्य को उपलब्ध है। अतीन्द्रिय ज्ञान तक मनुष्य पहुंच सकता है। इन्द्रियों से परे जो अतीन्द्रिय चेतना है, वह अतीन्द्रिय चेतना जाग सकती है। समाधि का बहुत बड़ा फल है—अतीन्द्रिय चेतना का जागरण। मनुष्य अतीन्द्रिय चेतना को जगा सकता है और इन्द्रियों की सीमाओं को लांघकर उन सूक्ष्म शक्तियों को देख सकता है, जिन्हें इन्द्रियां कभी भी नहीं देख पातीं। वह इन्द्रिय, मन और बुद्धि, इन सारी सीमाओं को लांघकर शक्ति का साक्षात्कार कर सकता है।

क्षमता का उपयोग कितना ?

हमारे नाड़ी-संस्थान में बड़ी क्षमता है कार्य करने की। मनुष्य इतना बड़ा कार्य कर सकता है जितना कोई नहीं कर सकता। यदि शारीरिक बल की दृष्टि से देखें, तो मनुष्य बहुत कमजोर पड़ता है। एक शेर, बाघ, हाथी, बैल या भैंसा भी सामने आ जाये तो मनुष्य की शक्ति बहुत कम होती है। उनकी तुलना में एक कुत्ता भी आदमी को भगा देता है। आदमी की शारीरिक शक्ति निश्चित ही कम होती है। उसका शरीर-बल बहुत कम होता है किन्तु नाड़ी-संस्थान का बल ज्यादा होता है। उसी बल के आधार पर आज यह हाथी भी मनुष्य की कैद में है। मनुष्य हाथी पर सवारी भी करता है और हाथी से भार भी ढोता है। बाघ, चीते, शेर, जितने भयंकर जानवर भी मनुष्य के बन्दी बने हुये हैं। भैंसों की और बैलों की बात ही छोड़ दें। नाड़ी-शक्ति के आधार पर उसकी बुद्धिजा-शक्ति और कर्मजा-शक्ति दोनों इतनी हैं कि वह जो चाहे वैसा कर सकता है। वह किसी भी प्राणी की नाक में नकेल डाल सकता है। कोई भी उसकी शक्ति से परे नहीं है। हमारे नाड़ी-संस्थान में ये दोनों—ज्ञान और कार्य की क्षमताएं बहुत अधिक हैं। जितनी क्षमता है उसका बीस प्रतिशत उपयोग मात्र हम कर पा रहे हैं, अस्सी प्रतिशत क्षमता अनुपयोग में ही पड़ी रहती है। केवल सत्ता में पड़ी रहती है, उसका परिणाम नहीं भी होता। सामान्य आदमी दस-पन्द्रह प्रतिशत क्षमता का ही उपयोग करता है नाड़ी-संस्थान की शक्ति का और यदि बीस-पच्चीस प्रतिशत उपयोग कर लेता है तो वह बहुत बड़ा आदमी बन जाता है। वह बौद्धिक-क्षेत्र में और कर्म के क्षेत्र में बड़ा आदमी बन जाता है। कल्पना करें—दस-पन्द्रह प्रतिशत क्षमता का उपयोग करने वाला क्या सचमुच न्याय करता है अपने जीवन के प्रति ? क्या न्याय करता है अपने नाड़ी-संस्थान के प्रति ? जिसे इतनी क्षमता उपलब्ध हुई है, वह उपयोग ही नहीं कर पा रहा है। सचमुच जीवन व्यर्थ चला जाता है। धर्मगुरु कहते हैं—जीवन सफल नहीं बना। धर्म के बिना जीवन विफल चला गया। उसका रहस्य समझें। धर्म के बिना जीवन विफल कैसे चला गया ? यानी जो क्षमता मिली उसका हमने पूरा उपयोग नहीं किया। जो शक्ति मिली, उसे पूरा काम में नहीं ले सके। शक्ति सोई की सोई रह गई, उसे जागने का मौका नहीं मिला। आदमी सोया का सोया रह गया उसे जागने का अवसर ही नहीं मिला। जब आदमी सोया का सोया रह जाता है तब क्षमता समाप्त हो जाती है।

साधना का उद्देश्य

साधना का सारा उद्देश्य है—क्षमता को जगाना। साधना का एक ही उद्देश्य है—सुप्त शक्तियों का जागरण। जो अस्सी प्रतिशत ज्ञान की और कर्म

की शक्तियां सोई पड़ी रहती हैं, उन शक्तियों को जगाना, समाधि का प्रयोजन है। हम अपनी सुप्त शक्तियों को जगाएं। शक्तियां तब जागती हैं जब हम अपने प्रति जागरूक बनते हैं, अपना अनुभव करते हैं। अपने प्रति जागरूक बने बिना शक्तियों का जागरण नहीं होता। समाधि का अर्थ है—चैतन्य का अनुभव। जो व्यक्ति अपने चैतन्य का अनुभव करने लग जाता है उसकी सोई हुई शक्तियां जागने लग जाती हैं। जितना-जितना चैतन्य का अनुभव होता है, उतना-उतना शक्ति का विकास होता है, शक्तियां जागने लग जाती हैं। धार्मिक लोगों का उद्देश्य है—आत्मदर्शन, आत्म-साक्षात्कार। बहुत तड़प होती है, न जाने कितने लोग आते हैं और पूछते हैं—आत्मा का साक्षात्कार कैसे होगा? आत्मा का दर्शन कैसे होगा? कुछ लोग पूछते हैं—परमात्मा का साक्षात्कार कैसे हो? परमात्मा का दर्शन कैसे हो? कोई अन्तर नहीं है। आत्मा का दर्शन ही परमात्मा का दर्शन है और परमात्मा का दर्शन ही आत्मा का दर्शन है। आत्मा के साक्षात्कार और परमात्मा के साक्षात्कार में कोई अन्तर नहीं, केवल भाषा का अन्तर हो सकता है। बड़ी जिज्ञासा है परमात्म-दर्शन की, आत्म-दर्शन की। लोग आत्मा को देखना चाहते हैं। किन्तु जो व्यक्ति अपने शरीर का ही दर्शन नहीं करता, वह आत्मा का दर्शन कैसे करेगा? जिसने दरवाजा ही नहीं देखा वह भीतर का दर्शन कैसे करेगा, भीतर में कैसे देखेगा? जिसने सीढ़ी पर चढ़ने का प्रयत्न ही नहीं किया वह और कुछ क्या करेगा, आगे कैसे चढ़ेगा?

किसी ने आचार्य भिक्षु से कहा—आप लोगों को आत्म-दर्शन की बात बताएं, तत्त्व ज्ञान सिखाएं। आचार्य भिक्षु ने कहा—कोई निकट आये तब तो आत्म-दर्शन कराने की, तत्त्व को समझाने की बात होगी। कोई निकट ही न आये, दूर-दूर रहने से क्या होगा। जब हम आत्म-दर्शन चाहते हैं, तो आत्म-दर्शन का जो उपाय है उसके निकट तो जायें।

आत्म दर्शन की प्रक्रिया

आत्म-दर्शन का पहला उपाय है—शरीर को देखना। जिस व्यक्ति ने शरीर को देखना नहीं सीखा, वह आत्म-दर्शन नहीं कर सकता। आप सोचेंगे, शरीर को तो रोज देखते हैं। ऐसे भी देखते हैं, सारा शरीर दिखाई देता है। और इससे संतुष्टि नहीं होती है तो शीशा सामने रखकर देखते हैं। आदम-कद शीशा सामने रखते हैं, पूरा शरीर दिख जाये। यह देखना देखना नहीं है। शरीर को देखना भी एक कला है। उसको देखने की एक विधि है। जब तक शरीर को देखने की विधि को नहीं जानते, केवल चमड़ी को देख सकते हैं, रंग-रूप को देख सकते हैं, आकार-प्रकार को देख सकते हैं, बनावट को देख सकते हैं, किन्तु शरीर को नहीं देख सकते। शरीर को तब देख सकते हैं जब शरीर-प्रेक्षा का अभ्यास करें। जो व्यक्ति

शरीर-प्रेक्षा का अभ्यास नहीं करता, वह शरीर को नहीं देख सकता। एक-एक अवयव पर चित्त को ले जायें। बाहर और भीतर चित्त को टिकायें, एकाग्र करें। शरीर के भीतर जो प्राण के प्रकम्पन हो रहे हैं, जो रसायन काम कर रहे हैं, जो विद्युत् काम कर रही है, उसे देखें। शरीर के भीतर कितना परिवर्तन हो रहा है, कभी जैविक-रासायनिक परिवर्तन, कभी कर्म के विपाक से होने वाले परिवर्तन, कभी सर्दी और गर्मी के कारण होने वाले परिवर्तन, कभी भोजन आदि के द्वारा होने वाले परिवर्तन—इन सबको हम देखें। हमारे शरीर की 'Chemistry' अलग है, अलग ही काम कर रही है। उन सारे परिवर्तनों को जब तक हम नहीं देख पाते, तब तक आत्म-दर्शन की बात नहीं होती। इस शरीर में आत्मा तो बहुत आगे है। उस पर तो न जाने कितने अवरोध जमे पड़े हैं। उन सबको देखे बिना उस सूक्ष्म सत्य को, परम सूक्ष्म सत्य को नहीं देख सकते, उसका साक्षात्कार नहीं कर सकते। हमें सारे दरवाजों को, सारे तालों को और सारी खिड़कियों को खोलना पड़ेगा। सब खुल जायेंगे तब आत्मा का साक्षात्कार होगा। हमारे चैतन्य के कण-कण पर, चैतन्य के प्रत्येक प्रदेश पर अनन्त-अनन्त कर्म के परमाणु चिपके पड़े हैं। जो चंचलता के परमाणु चिपके पड़े हैं वे हमारी चंचलता को बढ़ाते हैं। इन सारे वलयों को जब तक हम नहीं तोड़ पायेंगे और उन्हें प्रकम्पित नहीं कर पायेंगे तब तक आत्मा का साक्षात्कार नहीं होगा। आत्मा का साक्षात्कार करने के लिए, हमें स्थूल से सूक्ष्म की ओर प्रयाण करना होगा। स्थूल से चलें और सूक्ष्म तक पहुंचे। आप पहले ही क्षण में स्थूल से सूक्ष्म तक पहुंच जाना चाहते हैं, बहुत अजीब बात है। आज ही अभ्यास शुरू किया और आज ही सूक्ष्म तक पहुंच जाना चाहते हैं। आज ही तो यात्रा प्रारम्भ की, पहले क्षण में तो यात्रा प्रारम्भ की और दूसरे क्षण में ही मंजिल तक पहुंच जाना चाहते हैं, यह संगत बात नहीं होती। ऐसा कभी संभव भी नहीं होता। हर यात्रा का एक क्रम है। वाहन चाहे कितना ही द्रुतगामी क्यों न हो, चाहे कितना ही शक्ति से चलने वाला क्यों न हो, उसकी गति का क्रम होता है। समय लगता है। रेल को कुछ घंटे लगते हैं, वायुयान को कुछ मिनट लग सकते हैं और उससे और कमजोर हो, बैलगाड़ी हो तो और ज्यादा घंटे लग सकते हैं। एक क्रम होता है। ऐसा तो नहीं होता कि वायुयान पर अभी चढ़ें, पहले क्षण चढ़ें और दूसरे क्षण में लन्दन पहुंच जाएं।

रसायन हैं घटक आवेगों के

हम शरीर को पहले देखें, शरीर का साक्षात्कार करें। शरीर में अनन्त-अनन्त पर्याय घटित हो रहे हैं। हजारों-हजारों परिणमन हो रहे हैं। हजारों घटनाएं घटित हो रही हैं। उनको हम जानें, देखें। आदमी हंसता है तो हमें यह पता होना चाहिए कि हंसता इसलिए है कि हंसाने वाला एक रसायन शरीर में

बना है। आदमी रोता है, इसलिये रोता है कि रुलाने वाला रसायन भी शरीर में बन गया। आदमी चिन्ता का भार ढोता है, इसलिए ढोता है कि चिन्ता कराने वाला रसायन भी शरीर में बन गया। हम यह न मानें कि कोई चीज खो गई है और आदमी चिन्ता से दब गया। कभी नहीं होता। किसी चीज के आने से आदमी प्रसन्न नहीं होता और चली जाने से अप्रसन्न नहीं होता। हम यह मानते हैं कि कुछ मिलता है तो हर्ष होता है, सुख होता है और पदार्थ चले जाते हैं तो हमें दुःख होता है, चिन्ता होती है। यह सत्य पर एक आवरण है। पदार्थ के मिलने पर सुख नहीं होता और पदार्थ के चले जाने पर दुःख नहीं होता। यह होता है हमारे रसायनों के कारण। एक प्रकार का रसायन बनता है। पदार्थ मिल गया तो भी हर्ष नहीं होगा, सुख नहीं होगा। चिन्ता मिटेगी नहीं, शोक मिटेगा नहीं, चिंताओं का भार बना का बना रहेगा। मिल गया, फिर भी कोई परिवर्तन नहीं आयेगा। पदार्थ मिला, पर मिलने के साथ-साथ मन में ऐसे विकल्प जाग गये जिनसे मन अधिक भारी बन गया, दुःखी बन गया। पदार्थ चला गया, कोई दुःख नहीं होता। अनुभव की बात है। बहुत बार ऐसे लोगों को देखा है कि जिनके पास लाखों की सम्पदा भी नहीं है, पांच दस हजार रुपये चले गये फिर भी प्रसन्न हैं। कहते हैं—क्या है? श्रम किया, कमाया, चला गया। फिर श्रम करेंगे, कमा लेंगे। बात समाप्त। ऐसे लोगों को भी देखा है जो करोड़पति हैं। सौ रुपया भी इधर-उधर हो गया तो उनकी नींद हराम हो गई। एक करोड़पति भाई मेरे पास बैठा था। उसके सौ रुपये खो गए थे। वह अत्यन्त उदास और खिन्न था, मैंने पूछा—ऐसा क्या हो गया जो तुम इतने चिन्तातुर हो? उसने कहा—महाराज! क्या करूं आदत ही ऐसी है मेरी। मैं जानता हूं, मेरे लिए सौ रुपयों का कोई मूल्य नहीं है। परन्तु प्रश्न पैसे का नहीं, प्रश्न आदत का है।

एक आदमी लड़ने लगा। इतनी तेज लड़ाई कर दी कि रास्ते में जाने वाले लोग इकट्ठे हो गये और बोले—"अरे भाई! क्या बात है? क्यों लड़ रहे हो? उसने कहा—इसने मेरा एक पैसा रख लिया। पैसा दे रहा था, और सब दे दिया एक पैसा मेरा रख लिया। अरे, इतनी छोटी बात के लिए लड़ रहे हो। उसने कहा—प्रश्न छोटी-बड़ी बात का नहीं, प्रश्न है—पैसे का। पैसा पैसा है।

प्रश्न है आदत का। मनुष्य की जैसी आदत बन जाती है वह अपनी आदत के कारण सुख पाता है और आदत के कारण दुःख पाता है, पदार्थ के कारण सुख-दुःख नहीं पाता। आदत को बनाने वाले घटक, आदत का निर्माण करने वाले तत्त्व हमारे रसायन हैं। हमारे शरीर में पैदा होने वाले रसायन, हमारी ग्रन्थियों से स्रवित होने वाले रसायन, हमारी आदतों का निर्माण करते हैं। जब तक हम शरीर-प्रेक्षा के द्वारा हमारे भीतर में होने वाले रसायनों को नहीं जानते, नहीं देखते, उनका साक्षात्कार नहीं करते तब तक आत्मा का साक्षात्कार कैसे होगा?

कभी सम्भव नहीं लगता।

आत्म-साक्षात्कार की प्रक्रिया

हम एक क्रम से चलें। स्थूल से चलें। पहले शरीर के स्थूल-कम्पनों का साक्षात्कार करें फिर शरीर के भीतर होने वाले सूक्ष्म परिणामों का साक्षात्कार करें, रसायनों का साक्षात्कार करें, शरीर को संचालित करने वाली विद्युत् का साक्षात्कार करें, फिर उन सबको संचालित करने वाली प्राण-धारा का साक्षात्कार करें। जब इन सबका साक्षात्कार करते हैं तो सूक्ष्म-शरीर का साक्षात्कार होने लग जाता है। और जब सूक्ष्म-शरीर का साक्षात्कार होने लगता है तो अतिसूक्ष्म-शरीर में होने वाले प्रकम्पनों का भी साक्षात्कार होने लगता है। कर्म-संस्कारों का साक्षात्कार होने लग जाता है। जब उनका साक्षात्कार होने लगता है तो फिर चैतन्य का साक्षात्कार होता है, आत्मा का दर्शन होता है। हम स्थूल से सूक्ष्म की ओर चलें। एक प्रक्रिया के साथ चलें। छलांग की बात न करें। छलांगों से काम नहीं होगा, प्रक्रिया से होगा। हो सकता है कि सौ में एक व्यक्ति छलांग भी लगा दे, किन्तु निन्यानवे व्यक्ति छलांग नहीं भर सकते। एक व्यक्ति की छलांग से नियम नहीं बना सकते। नियम अलग होता है। मैं मानता हूं, हर घटना का नियम अलग होता है। हर जगत् का नियम अलग होता है। अध्यात्म की साधना का अपना नियम है, पदार्थ की साधना का अपना नियम है। भौतिक जगत् के अपने नियम हैं और अध्यात्म जगत् के अपने नियम हैं। हम जिसकी सीमा में काम करें उसके नियमों को समझें।

आदमी वायुयान की यात्रा पर चला। वायुयान आकाश में उड़ा। सब लोग शान्त बैठे हैं। एक भोला आदमी था। पहली बार यात्रा कर रहा था। नियमों का पता नहीं था। खड़ा हो गया तत्काल। सब लोग बैठे हैं। वह खड़ा हुआ और वायुयान में बहुत तेजी से चलने लगा। लोगों ने पूछा—अरे! क्या कर रहे हो? यह क्या अभिनय कर रहे हो? उसने कहा—आपको पता नहीं, मुझे जल्दी जाना है। बहुत जरूरी काम है। लोगों ने कहा—यह वायुयान है। तुम स्थल पर नहीं चल रहे हो। तुम कितना ही जल्दी चलो, पहुंचोगे हमारे साथ ही, जल्दी नहीं पहुंच पाओगे।

वायुयान का अपना नियम होता है और थल-यात्रा का अपना नियम होता है। थल पर तेज चलने वाला आगे जा सकता है, जल्दी जा सकता है, पर जो रेल की यात्रा कर रहा है, वायुयान की यात्रा कर रहा है, वह कितना ही जल्दी चले सब के साथ पहुंचेगा, पहले नहीं पहुंच पायेगा।

अपना-अपना नियम

सबका अपना-अपना नियम होता है। साधना का अपना नियम है, समाधि का अपना नियम है। समाधि का नियम है—विराग, वैराग्य। वैराग्य तब घटित होगा जब शरीर से हमारा साक्षात्कार होगा। जिस व्यक्ति ने शरीर का साक्षात्कार नहीं किया, जिस व्यक्ति ने शरीर का संवेद-दर्शन नहीं किया वह व्यक्ति वैराग्यवान् नहीं हो सकता। शब्द, रूप रस, गन्ध और स्पर्श के प्रति उसी व्यक्ति के मन में विराग जाग सकता है जिसने शरीर में घटित होने वाली सारी घटनाओं का साक्षात्कार किया है। उस साक्षात्कार के बिना वैराग्य भी नहीं हो सकता। और जब वैराग्य नहीं होता तो आत्मा का दर्शन भी नहीं हो सकता। राग का अर्थ है—पदार्थ जगत् का साक्षात्कार और वैराग्य का अर्थ है—आत्मा का साक्षात्कार। दो भिन्न दिशाएं हैं। एक दिशा पदार्थ जगत् की ओर, शब्द आदि विषयों की ओर जाती है और दूसरी दिशा चैतन्य की ओर जाती है। दोनों दिशाओं में जो भेद-रेखा है, उसे समझे बिना हम समाधि की बात भी नहीं कर सकते, आत्म-साक्षात्कार की बात भी नहीं कर सकते। समाधि का अर्थ है—आत्मा का साक्षात्कार। समाधि का अर्थ है—आत्मा का दर्शन। समाधि का अर्थ है—चैतन्य का अनुभव, चैतन्य का साक्षात्कार।

समाधि : साध्य या साधन

प्रश्न है कि यह समाधि साधन है या साध्य? मैं नहीं जानता, साधन और साध्य दो होते हैं। कभी दो नहीं होते। साधन और साध्य में दूरी नहीं होती। उनमें द्वैत नहीं होता। एक अवस्था में जो साधन होता है वही दूसरी अवस्था में साध्य होता है। साधन और साध्य दो नहीं होते। उपादान कर्म और कार्य दो नहीं होते। घड़ा बनता है मिट्टी का या बर्तन बनता है किसी धातु का। मिट्टी घड़े का उपादान है और घड़ा उसका कार्य है। अब यदि पूछा जाये कि मिट्टी घड़े का साधन है या साध्य है? वह साधन है जब तक मिट्टी के रूप में है। जब तक मिट्टी से घड़ा नहीं बना तब तक मिट्टी घड़े का साधन है। मिट्टी में क्रिया हुई, परिणमन हुआ, मिट्टी घड़े में बदल गई, साध्य बन गया। जो साधन था वह साध्य बन गया, जो उपादान कारण था वह कार्य बन गया। बीज पेड़ का कारण भी होता है और बीज पेड़ का कार्य भी होता है। बीज कारण भी है और कार्य भी है। जब तक बीज बीज था तब तक बीज पेड़ का कारण था। बीज बोया गया, सिंचन मिला, अंकुरित हुआ, पल्लवित हुआ, पौधा बना, पेड़ बना, बीज कार्य बन गया। बीज में और कार्य में कोई द्वैत नहीं होता, एकात्म होता है। वही बीज पेड़ बन जाता है। वही मिट्टी घड़ा बन जाती है। एकात्मकता होती है।

समाधि साधन भी है और समाधि साध्य भी है। जब समाधि बीज के रूप में होती है, बीज के रूप में कार्य करती है तब वह साधन होती है और जब वह प्रस्फुटित होती है, समाधि साध्य बन जाती है। समाधि का पहला बिन्दु है— विराग। विराग से समाधि शुरू होती है। शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श के प्रति जितना विराग, उतनी समाधि। विराग का प्रारम्भ समाधि का प्रारम्भ। विराग बढ़ा समाधि बढ़ी। वैराग्य का पहला बिन्दु समाधि का साधन है। वैराग्य के सारे मध्य-बिन्दु समाधि के साधन हैं और वैराग्य का चरम बिन्दु समाधि है। वैराग्य का आदि-बिन्दु एक साधन है। वैराग्य का मध्य-बिन्दु साधन है और वैराग्य का अन्तिम-बिन्दु साध्य बन जाता है। प्रथम बिन्दु पर समाधि साधन होती है और जब वह चरम बिन्दु पर पहुंचती है तब साध्य बन जाती है। समाधि स्वयं फलित हो जाती है, स्वयं वीतरागता बन जाती है और सब कुछ कृतकृत्य हो जाता है। समाधि के चरम बिन्दु पर पहुंचने पर साध्य शेष नहीं रहता। कुछ करना शेष नहीं रहता। सब अपने आप घटित हो जाता है। हम चरम बिन्दु की बात छोड़ दें। साध्य की बात छोड़ दें। साध्य तो हमारे सामने रहेगा। वह हमारी दिशा का नियामक रहेगा। साध्य हमेशा नियामक होता है। जब साध्य सामने होता है, व्यक्ति ठीक उसी दिशा में प्रस्थान करता है। आगे चलता चला जाता है। साध्य होता है नियामक।

साधन की यात्रा

हमें साधनरूप समाधि की यात्रा करनी है। जो समाधि साधन है, हमारे काम की आज वही है। हम साधन की यात्रा करें। ध्यान-साधना का प्रयोजन है— समाधि की यात्रा, साधन की यात्रा। हम यात्रा शुरू करें वैराग्य के साथ। जितना वैराग्य होता है उतना ही हमारा अनुभव स्पष्ट होता है। वैराग्य अनेक चीजों का करने की जरूरत नहीं। त्याग की बहुत लम्बी तालिका बनाने की जरूरत नहीं होती। केवल पांच ही तो हैं हमारे सामने। पांच के अतिरिक्त और किसी के प्रति हमें विराग करने की जरूरत नहीं होती। बार-बार दोहरा रहा हूं, शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श। बस, सारा पदार्थ जगत् समाप्त। इन पांचों के प्रति विराग की जरूरत है और छठा कोई नहीं है। वैराग्य शुरू करें। इसी वैराग्य की साधना के लिए सामायिक का, समता का और संयम का उपदेश दिया गया। शब्द आदि के जगत् से अलग होने के लिए यह सारा उपदेश दिया गया। समता, संयम बहुत प्रिय शब्द हैं, किन्तु वैराग्य के बिना समता घटित नहीं होती। वैराग्य के बिना संयम घटित नहीं होता।

कम्यूनिज्म का गलत अर्थ

'कम्युनिस्ट' शब्द का अनुवाद किया साम्यवादी। कम्युनिज्म का अनुवाद किया साम्यवाद। शब्दों का कभी-कभी बड़ा गलत चुनाव हो जाता है। पदार्थ-जगत् में आसक्त रहने वाले व्यक्ति के लिए, 'साम्यवादी' और पदार्थ से संबद्ध वाद के लिए 'साम्यवाद'—ये शब्द कैसे संगत हो सकते हैं?

पदार्थ जगत् का आधार—विषमता, अध्यात्म जगत् का आधार—समता

समता, साम्य, साम्यवाद, पदार्थ-जगत् में घटित नहीं होते। पदार्थ का जगत् ऐसा है कि कहीं भी समता हो जाती है तो आदमी दुःखी बन जाता है। आध्यात्मिक जगत् में समता की घटना घटती है तो आदमी आनन्द से भर जाता है और पदार्थ के जगत् में समता की घटना घटती है तो आदमी दुःखी बन जाता है। मुझे एक पौराणिक कहानी याद आ रही है।

एक बार इन्द्र और इन्द्राणी के बीच में झगड़ा हो गया, वाद-विवाद खड़ा हो गया। वाद-विवाद होना तो हमारी दुनिया का नियम है। हम जिस दुनिया में जीते हैं वहां वाद और विवाद न हो तो दुनिया ही समाप्त हो जाएगी। शायद जीवन में यह सरसता वाद और विवाद के कारण ही चलती है। पति-पत्नी जब लड़ नहीं लेते हैं तब यह मानते हैं कि नया जीवन शुरू नहीं हुआ, जीवन रूखा-सा हो गया। एक बार लड़ते हैं तो अनुभव करते हैं कि थोड़ा सरस जीवन फिर शुरू हो गया। एक प्रकार का जीवन जीते-जीते ऊब-सी आ जाती है तब नया जीवन जीने की शुरुआत करना चाहते हैं। और नये जीवन की शुरूआत का अर्थ है कि पहले लड़कर थोड़े दूर हो जाओ और फिर समझौता करके और निकट हो जाओ। यह वाद और विवाद हमारी दुनिया का नियम है। इस भौतिक जीवन का नियम है। इन्द्र और इन्द्राणी के बीच में भी वाद-विवाद शुरू हो गया। इन्द्र ने कहा—"तुम मेरी शक्ति को नहीं जानती। मैं सब को सुखी बना सकता हूं। मैं चाहूं तो सब को सुखी बना दूं।" इन्द्राणी ने कहा—झूठा गर्व करते हो। इस दुनिया में कोई ऐसा आदमी नहीं जो सबको सुखी बना सके। ऐसा नहीं हो सकता।" वाद-विवाद बढ़ा। इन्द्राणी ने कहा—आप अपनी बात को प्रमाणित करें। इन्द्र-इन्द्राणी दोनों एक नगर में आए। राजा से मिले। जनता से मिले। अपना परिचय देकर कहा—हम सब को सुखी बनाना चाहते हैं। तुम जो मांगो, वह मिलेगा। जनता ने सुना। वह आनन्द-विभोर हो उठी। एक वृद्ध व्यक्ति ने कहा—'संसार में सुख है सोना, स्वर्ण। आप हमें स्वर्ण दे दें, हम सुखी हो जाएंगे। इन्द्र ने अपने देव-बल से गांव के बाहर स्वर्ण के ढेर लगा दिए। लोग गए। जितना चाहा उतना स्वर्ण ले आए। सबके पास सोना ही सोना हो गया। सब समान हो गए। सेठ के पास भी सोने का ढेर

है और नौकर के पास भी सोने का ढेर है। अब कोई नौकर नहीं रहा, कोई कर्मचारी या सेवक नहीं रहा। सेठ बैठे हैं, नौकर और मुनीम गायब। व्यापार बंद हो गया। कौन बेचे और कौन खरीदे। राजा के सभी कर्मचारी घर पर आ गए। कोई सैनिक सेना में नहीं रहा। सब मालामाल हो गए थे। राजा अकेला, सेठ अकेला, सेठानी अकेली। कोई पानी पिलाने वाला भी नहीं बचा। रसोई कौन पकाए? बाजार से माल कौन लाये? घर की सफाई कौन करे? सबके लिए मुसीबत हो गई। सब दु:खी हो गए। सारी जनता इन्द्र को गालियां देने लगी। इन्द्र ने सबको दु:खी बना डाला। इन्द्र और इन्द्राणी पुनः उसी गांव में आए। जनता के दु:खों की आवाज सुनी। इन्द्राणी ने कहा—क्या आपने सबको सुखी बना डाला? इन्द्र ने घूम-घूम कर देखा। सब अपने आपको दु:खी बतला रहे थे। इन्द्र जहां भी गया—गालियां पड़ीं।

समता अपच होती है। आदमी समता को पचा नहीं सकता। पदार्थ की दुनिया में जीने वाला व्यक्ति विषमता चाहता है, समता नहीं। वह चाहता है, एक बड़ा बना रहे, दूसरा छोटा। एक स्वामी बना रहे, दूसरा सेवक। एक आदेश देने वाला हो, दूसरा आदेश मानने वाला।

यह सारा वैभव, ठाट-बाट और सम्पन्नता विपन्नता के आधार पर टिकी हुई है। कोई निर्धन नहीं है तो धनी होने का कोई प्रयोजन नहीं है। कोई विपन्न नहीं है तो सम्पन्न होने का अर्थ ही नहीं रहता। फिर हम कम्युनिस्ट को साम्यवादी, कम्यूनिज्म को साम्यवाद कैसे कह सकते हैं? कम्यून का अर्थ होना चाहिए समूह। कम्यूनिज्म अर्थात् समूहवाद। किन्तु कम्यून के लिये साम्य का प्रयोग करना बिल्कुल गलत प्रयोग है। हमारी भ्रान्ति हो गयी। क्या साम्यवादी-शासन प्रणाली में साम्य मिलेगा, नहीं मिल सकता। साम्य का दर्शन केवल अध्यात्म में ही हो सकता है। पदार्थ जगत् में कभी साम्य का दर्शन नहीं हो सकता और साम्य सहा भी नहीं जा सकता। समता का विकास केवल अध्यात्म के जगत् में, समाधि के क्षेत्र में होता है। अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह,—इनका विकास हुआ। सामाधि के प्रारम्भिक बिन्दुओं में इनका विकास हुआ। मनुष्य ने समाधि की यात्रा शुरू की। अशान्ति को मिटाना चाहा। भोग के कारण होने वाली ऊब को मिटाना चाहा।

पानी में आग

पदार्थ की प्रचुरता के कारण एक पागलपन बढ़ता है, एक अतृप्ति बढ़ती है और ऐसी अतृप्ति बढ़ती है कि जिसको बुझाने का कोई साधन नहीं होता। जब तक पदार्थों की कमी होती है तब तक अतृप्ति थोड़ी होती है। यह भी एक उल्टा

नियम है। इसे समझें। पदार्थों का प्राचुर्य नहीं होता, बहुलता नहीं होती तब तक अतृप्ति कम होती है। जब पदार्थों की मात्रा बहुत बढ़ जाती है, तो अतृप्ति की मात्रा भी बढ़ जाती है। फिर इसे मिटाने का कोई साधन नहीं मिलता। आदमी को पागल होना पड़ता है। उस समस्या का केवल एक ही समाधान है, पागल हो जाना। और समाधान नहीं है। हम देख चुके हैं अनुभव के आधार पर कि जिन देशों ने पदार्थों की सीमा का अतिक्रमण कर दिया, इतने पदार्थ विकसित कर लिये कि भौतिकता चरम बिन्दु तक पहुंच गई, वहां पागलपन भी बहुत बढ़ रहा है। क्योंकि उनकी अतृप्ति को पदार्थों के द्वारा नहीं बुझाया जा सकता। आग को पानी के द्वारा बुझाया जा सकता है, किन्तु जो आग पानी में लग जाती है फिर उस आग को पानी के द्वारा नहीं बुझाया जा सकता। समुद्र की अग्नि होती है बड़वानल। उसको पानी से नहीं बुझाया जा सकता। चाहे कितना ही पानी डालें, पानी में ही आग लगी हुई है, तो पानी क्या करेगा? जब पदार्थ की प्रचुरता के कारण मानसिक अतृप्ति होती है, वह इतनी बढ़ जाती है कि पदार्थ उसे नहीं मिटा सकता। उसमें मिटाने की क्षमता नहीं रहती। पदार्थ व्यर्थ और बेकार हो जाते हैं। उस स्थिति में, उस अतृप्ति को मिटाने के लिए एक तृप्ति का बिन्दु खोजा जाता है।

तृप्ति का बिन्दु

तृप्ति का बिन्दु है—वैराग्य। उसी के परिपार्श्व में अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का विकास हुआ। इसलिए भगवान् महावीर ने कहा—ये मूल गुण हैं पांचों। ध्यान भी उत्तर गुण है। यानी बाद में होने वाला है। समाधि भी उत्तरगुण है, बाद में होने वाली है। तपस्या भी बाद में होने वाली है। सब उत्तर गुण हैं। मूल गुण हैं—पांच महाव्रत।

क्रमिक आरोहण

ये पांच महाव्रत पहले होते हैं तो समाधि का विकास आगे बढ़ता जाता है। सामायिक का पहला बिन्दु है—पांच महाव्रत। समता का पहला बिन्दु है—पांच महाव्रत। ये नहीं होते हैं तो फिर अग्रिम विकास नहीं हो सकता। महर्षि पतंजलि ने अष्टांग योग का प्रतिपादन किया। उन आठ अंगों में पहला अंग है—यम। यम के बाद फिर नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। ये चलते हैं। पहला है यम। जब यम ही घटित नहीं होता तो समाधि, जो आठवां अंग है, कैसे घटित होगा? हमारे आज के आधुनिक भगवान्, बड़े-बड़े ध्यान के प्रयोग करवाने वाले कहते हैं—यम की कोई आवश्यकता नहीं, नियम की कोई आवश्यकता नहीं, महाव्रतों की कोई आवश्यकता नहीं, समाधि हो जायेगी। यम:

से समाधि नहीं होगी, सम्भोग से सामाधि हो जायेगी। विचार का बहुत बड़ा अन्तर है। एक ओर महाव्रत पहला विन्दु है और उसका विकास होते-होते समाधि की घटना घटित होती है। दूसरी ओर यम व्यर्थ, महाव्रत व्यर्थ, ब्रह्मचर्य व्यर्थ, अहिंसा व्यर्थ, सम्भोग पहला विन्दु और उससे समाधि की घटना घटित होती है। विचार का इतना अन्तर है, इतनी दूरी है कि इस दूरी को कभी नहीं पाटा जा सकता। हम इस वात में विश्वास करते हैं कि महाव्रतों की साधना के विना, समता के आदि विन्दुओं का विकास किये विना जीवन में समाधि कभी नहीं हो सकती। जो लोग सम्भोग से समाधि में विश्वास करते हैं, हम उन्हें भ्रान्ति में मानते हैं। हम उन्हें सही नहीं मानते। उस रास्ते को ही गलत मानते है। वह रास्ता मनुष्य को और अधिक पदार्थों की ओर, विलास की ओर, भोग की ओर ले जाने वाला और अतृप्ति को वढ़ाने वाला है। अतृप्ति के द्वारा कभी अतृप्ति को नहीं मिटाया जा सकता। घी के द्वारा आग को प्रदीप्त किया जा सकता है, वुझाया नहीं जा सकता। हम समता में विश्वास करते हैं, संयम में विश्वास करते हैं। हमने समता का अनुभव किया है, संयम का अनुभव किया है। जिस व्यक्ति ने संयम का अनुभव किया, जिस व्यक्ति ने जीवन में समता अनुभव किया, संयम और समता के आदि-बिन्दुओं का थोड़ा भी स्पर्श किया, वह स्पर्श करता है इन पांच महाव्रतों का पांच अणुव्रतों का। एक मुनि और अधिक स्पर्श करता है। और वह स्पर्श जैसे-जैसे बढ़ता है, समाधि अपने आप विकसित होती चली जाती है। पदार्थ की यात्रा से अपदार्थ की ओर नहीं जा रहे हैं किन्तु अपदार्थ की यात्रा में आने वाले पदार्थों को तटस्थदृष्टि से, समदृष्टि से देखते हुए यात्रा चला रहे हैं। एक आदमी यात्रा शुरू करता है। रास्ते में पेड़ आते हैं। रास्ते में घाटियां भी आती हैं, पहाड़ भी आते हैं, ऊवड़-खाबड़ जमीनें भी आती हैं। सुगन्ध भी आती है, दुर्गन्ध भी आती है, भले भी आते हैं, वुरे भी आते हैं, सब आते हैं। चलने वाला चलते जाता है। ठीक हमारी वही यात्रा है। एक वह भी आदमी होता है कि जो भी मिला उसी से उलझ गया। वहां यात्रा थोड़ी कठिन वन जाती है। हम एक निश्चित लक्ष्य के साथ चलें और वीच में जितने आने वाले हैं, उनको देखते जायें, समझते जायें, पर उलझें नहीं। हम तटस्थ होकर चलते चलें। लक्ष्य की दिशा में चलते जायें तो हमारी यात्रा तो पदार्थों को चीरकर ही होगी। आतमा को देखना है तो वीच में तो न जाने कितने पदार्थ आयेंगे, किन्तु जब हम निश्चित लक्ष्य की ओर सम और तटस्थ होकर चलेंगे तो पहुंच जायेंगे और यदि वीच में उलझ जायेंगे तो भटक जायेंगे।

१७. चित्त-समाधि के सूत्र [१]

दस चित्तसमाहिट्ठाणाइं : चित्त समाधि के दस स्थान

१. धम्मचिंता	धर्म को जानना।
२. सण्णिणाणे	पूर्वजन्म का ज्ञान।
३. सुमिणदंसणे	स्वप्न-दर्शन।
४. देवदंसणे	देव-दर्शन।
५. ओहिणाणे	अवधिज्ञान की प्राप्ति।
६. ओहिदंसणे	अवधिदर्शन की प्राप्ति।
७. मणपज्जवणाणे	परचित्तज्ञान।
८. केवलणाणे	केवल ज्ञान की प्राप्ति।
९. केवलदंसणे	केवल दर्शन की प्राप्ति।
१०. केवलमरणे	केवल मरण—चरम मरण।

[दशाश्रुतस्कंध, दशा ५।१६]

१. वैराग्य भावना का अभ्यास।

२. समता का अभ्यास।

३. प्रसन्नता का अभ्यास।

४. समता या चैतन्यानुभव में एकाग्रता का अभ्यास।

५. समाधि-चेतना की निष्पत्ति—अलौकिक चेतना का जागरण

सत्रह

खोजना-खोदना

आत्मा की ज्योति एक पवित्र ज्योति है, अखण्ड ज्योति है। वह ऐसी है जो कभी नहीं बुझती। ऐसी लौ, ऐसी दीप-शिखा, जो कभी प्रकम्पित नहीं होती। पर जब तक हम समाधि का अनुभव नहीं करते, उस ज्योति का हमें पता ही नहीं चलता और जब पता ही नहीं चलता तो उसके प्रति हमारा कोई झुकाव नहीं होता, कोई आकर्षण नहीं होता और उसकी दिशा में प्रस्थान भी नहीं होता। प्रस्थान के लिए ज्ञान होना जरूरी है। समाधि की साधाना का सारा प्रयत्न उस महाज्योति की दिशा में जाना और उसका पता लगाना है। लोग कहते हैं, आत्मा का दर्शन नहीं होता, आत्मा का साक्षात्कार नहीं होता। आपने कब खोजा उस महाज्योति को? कब खोजने का प्रयत्न किया? पानी पृथ्वी के तल में भरा पड़ा है, पर आदमी खोजता नहीं तब तक पानी का पता नहीं चलता। चाहे अनुभवी आदमी खोजे, चाहे यन्त्र के द्वारा खोजे, आखिर खोजना ही पड़ेगा। खोजता है तो पता चलता है कि यहां पानी का सोता है। पर केवल खोजने से ही काम नहीं चलता। खोजना और खोजने के बाद खोदना पड़ता है। अगर खोज ले और खोदे नहीं तो काम नहीं बनता। पहले खोजना पड़ता है और फिर कुआं खोदना पड़ता है। तब भीतर सोता फूटता है। अन्तराल में जो पानी बहता है वह ऊपर की ओर आता है, जल उपलब्ध हो जाता है। हमारी प्यास बुझ जाती है। खोजना और खोदना—ये दोनों बातें जरूरी हैं। आत्मा का दर्शन हो सकता है, आत्मा का साक्षात्कार हो सकता है, चैतन्य का अनुभव हो सकता है, पर दोनों शर्तें पूरी करनी होंगी। पहले खोजना होगा, फिर खोदना होगा। खूब गहराई में जाना होगा। गहरे, गहरे और गहरे में जाना होगा।

शरीर की गहराई

एक भाई ने आज पूछा—'आप कहते हैं प्रयोग-काल में कि गहरे में जाओ, गहरे में जाओ। कहां जाएं? शरीर के आगे से पीछे तक एक वितस्ती मात्र है।

इतना गहरा कहां है कि गहरे में जाएं। सचाई यह है कि जब हम इन्हीं आंखों से देखते हैं तब यह वितस्ती मात्र लगता है, कहीं गहराई नहीं लगती। कुआं भी खोदना पड़ता है तो दस-बीस फुट की गहराई में तो जाना पड़ता है और यदि रेगिस्तान में खोदना पड़ता है तो सैकड़ों फुट की गहराई में जाना पड़ता है। पर हमारा शरीर तो इतना छोटा, पतला और संकरा है कि वहां तो गहराई जैसी कोई बात ही नहीं है। यदि हम चर्म-चक्षु से देखेंगे तो गहराई की बात समझ में नहीं आयेगी। किन्तु जब हम चेतना की पर्तों को देखते हैं, सूक्ष्म जगत् में प्रवेश करते हैं तो हमें पता चलता है कि इस शरीर के भीतर इतनी गहराइयां हैं, उन्हें मापने के लिए, उन गहराइयों को पार करने के लिए और उन्हें कुरेदने के लिए, कभी कभी सैकड़ों-सैकड़ों वर्ष लग जाते हैं और उनसे भी काम न बने तो कभी-कभी हजारों जन्म लग जाते हैं। साधना की यात्रा, समाधि की यात्रा बहुत लम्बी है। वह कोई छोटी यात्रा नहीं है। इतनी गहराई, अनन्त परमाणु भरे पड़े हैं। एक को पार करें तो भी शेष अनन्त रहते हैं, फिर पार करें तो भी अनन्त रहते हैं। अनंत का कभी अन्त आता नहीं। बड़ी कठिन पहेली बनती है। इतनी गहराई दुनिया में किसी वस्तु की नहीं है, जितनी हमारे इस शरीर के भीतर गहराई विद्यमान है। इन सारी गहराइयों को पार करने के लिए काफी खोदना पड़ेगा, पूरा प्रयत्न करना पड़ेगा। अनायास कुछ भी उपलब्ध नहीं होगा।

आयास : अनायास

दुनिया में कुछ घटनाएं ऐसी होती हैं जो लगता है कि अनायास घटित हो गईं, किन्तु जो अनायास लगती हैं उनके पीछे भी न जाने कितना आयास हुआ होगा। पहले बहुत आयास हो चुका, बहुत श्रम हो चुका और आज वह घटना घटती है तो लगता है कि अनायास घट गई। क्योंकि जो पीछे आयास हो चुका, उसका हमें पता नहीं चलता। आज जब आयास करते हैं तो हमें पता चलता है कि हम आयास कर रहे हैं। अनायास घटना और आयास घटना, दो प्रकार की घटना होती है। एक घटना के पीछे हमारा बहुत श्रम होता है और एक घटना के पीछे हमारा बहुत श्रम नहीं होता।

समाधि के दो प्रकार

समाधि भी दो प्रकार की होती है। एक प्रयत्न के द्वारा लब्ध होने वाली समाधि और दूसरी बिना प्रयत्न के एक छलांग होती है और समाधि उपलब्ध हो जाती है। कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता। एक कोई ऐसा हेतु मिला, निमित्त मिला और समाधि घटित हो गई। दोनों प्रकार हैं समाधि के। एक है—सायास समाधि और दूसरी है—अनायास समाधि। एक साधना-लब्ध समाधि, दूसरी

आकस्मिक समाधि। सायास समाधि का एक क्रम होता है। जो छलांग है उसमें कोई क्रम नहीं होता। यह तो आकस्मिक घटना है। तत्काल घट गई। इसके लिए किसी प्रयत्न की जरूरत नहीं। इसके लिए साधना की पद्धति की जरूरत नहीं। आंख खुली और सब कुछ उपलब्ध। एक सपना जैसा होता है। एक दिव्य ज्योति उपलब्ध होती है और घटना घट जाती है। किन्तु सायास समाधि का एक क्रम होता है। और उसी क्रम की साधना अध्यात्म में रस लेने वाले, प्रेक्षा-शिविर में आने वाले लोग करते हैं।

समाधि का क्रम

समाधि के क्रम में सबसे पहला क्रम है—वैराग्य-भावना का विकास। जो व्यक्ति समाधि को उपलब्ध होना चाहता है, समाधि की साधना करना चाहता है और चाहता है मन की अशांति मिटे, कठिनाइयां मिटें, उलझनें मिटें, चित्त स्थिर हो जाये, उसे एक क्रम से साधना करनी पड़ती है। हजारों-हजारों परिस्थितियों के आ जाने पर भी चित्त विचलित न हो, प्रकम्पित न हो, यह हो सकता है। यह न मानें कि समस्या आई और चित्त विचलित हो गया। समस्या के आने पर चित्त विचलित नहीं भी होता। किन्तु चित्त शक्तिशाली नहीं होता इसलिए विचलित हो जाता है। चित्त तरल होता है, जो कुछ भी मिलता है उससे वह गंदला बन जाता है। पानी तरल है, उसमें जो कुछ भी मिला, वह गंदला बन जाता है। बर्फ जम गई। आप उस पर कोई गंदी चीज भी डालें तो लुढ़क कर नीचे चली जायेगी। गंदा पानी डालें तो भी उसमें मिलेगा नहीं, वह बहकर नीचे चला जायेगा, क्यों कि पानी जम गया। जमने के बाद उसमें घुलनशीलता नहीं रहती। वह अपने में कुछ भी मिश्रित नहीं कर पाता। जब तक हमारा चित्त चंचल होता है, सामने जो घटना घटित होती है, चित्त उसे पकड़ लेता है और विचलित हो जाता है, गंदला हो जाता है और वैसा ही बन जाता है जैसी घटना सामने घटित होती है। किन्तु जब चित्त जम जाता है, उसकी तरलता समाप्त हो जाती है, फिर सामने चाहे जैसी घटना घटे, वह उसमें घुलता नहीं और उसे पकड़ता भी नहीं, उस जैसा नहीं बनता किन्तु अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित रहता है। पारा चंचल होता है। पारे को पकड़ने का प्रयत्न करें, वह आगे सरक जाएगा। यदि मन की तुलना किसी से की जा सकती है तो वह पारे से ही की जा सकती है। दुनिया में और कोई चीज इतनी चंचल नहीं होती जितना पारा चंचल होता है। वह किसी का स्पर्श नहीं चाहता। वह आगे से आगे सरकता चला जाता है, गतिशील होता चला जाता है। उसकी गोली बन जाती है, फिर पकड़ में आ जाता है। उसकी चंचलता समाप्त हो जाती है। जब तक चित्त में चंचलता होती है, हर घटना उसे पकड़ती रहती है। जैसे फुटबाल इधर से उधर, उधर से इधर लुढ़कता रहता है,

उछलता रहता है, चोट खाता रहता है, कभी ऊपर जाता है, कभी नीचे आता है, ठीक यही दशा चित्त की भी होती है। किन्तु जैसे पारा वंध जाता है वैसे ही चित्त भी बंध जाता है। तव चित्त की शक्तियां क्षीण कम होती हैं, संचित ज्यादा होती हैं। जव चित्त शक्तिशाली वनता है, सम्यक् साधनों और सम्यक् उपायों के द्वारा तव वह स्थिर हो जाता है और स्थिर वना हुआ चित्त फिर फुटवाल की तरह इधर-उधर नहीं उछलता, पारे की तरह कांपता नहीं, किन्तु जमकर रह जाता है। वह घटना को देखता है, पर घटना के स्पर्श से आगे नहीं उछलता, पीछे भी नहीं सरकता, एक स्थान पर खड़ा रहता है। यह है, चैतन्य प्रतिष्ठा। जव तक हमारा चैतन्य प्रतिष्ठित नहीं होता तव तक समाधि की घटना घटित नहीं होती और जव चैतन्य अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है, तव सहज समाधि का अनुभव होने लग जाता है।

राग : विराग

चित्त को लुढ़काने वाला, चित्त की गेंद को उछालने वाला है—राग। जितना राग, उतना ही चित्त उछलता रहता है। इसलिए समाधि की साधना करने वाले व्यक्ति को सवसे पहले विराग का अभ्यास करना होता है। वैराग्य सहज उपलब्ध नहीं होता तो फिर अभ्यास के द्वारा वैराग्य किया जाता है। वैराग्य-भावना समाधि का पहला अभ्यास है। भगवान् महावीर ने कहा—खणमेत्त सोक्खा बहुकाल दुक्खा। जितनी कामनाएं, लालसाएं और आकांक्षाएं जागती हैं चित्त में, ये क्षण भर के लिए सुख देती हैं। ये प्रवृत्तिकाल में सुख देती हैं किन्तु परिणाम काल में दुःख देती हैं। प्रवृत्ति का क्षण छोटा होता है, किन्तु परिणाम का क्षण वहुत वड़ा होता है। जैसे एक छोटी-सी भूल का वहुत वड़ा परिणाम होता है वैसे ही कामना की भूल का छोटा-सा क्षण वहुत वड़ा वन जाता है परिणाम काल में। सुख का अनुभव वहुत थोड़ा होता है और दुःख का अनुभव वहुत ज्यादा होता है। इस प्रकार का अनुचिंतन, इस प्रकार की भावना, वार वार का यह अभ्यास करते-करते पदार्थ के प्रति राग कम होने लगता है और मन में वैराग्य का अंकुर फूटने लगता है।

प्रतिपक्ष की भावना

प्रतिपक्ष की भावना एक वहुत वड़ा सूत्र है साधना का। जिन-जिन कारणों से राग उत्पन्न होता है उनके प्रतिपक्षी साधनों का अभ्यास करने से विराग उत्पन्न होता है। प्रतिपक्ष भावना का अभ्यास करें और तृप्ति का अनुभव करें। वहुत वड़ा संकट है अतृप्ति। मनुष्य दो बिन्दुओं पर संघर्ष करता है जीवन में। एक बिन्दु है शारीरिक अतृप्ति का और दूसरा है मानसिक अतृप्ति का। हमारी तृप्ति शुरू

होती है शारीरिक आवश्यकताओं के साथ। हमें जो शरीर उपलब्ध है उसमें एक वृत्ति है—भूख। यह हमारी मौलिक मनोवृत्ति है। एक वृत्ति है—काम। यह भी मौलिक मनोवृत्ति है। ये दोनों मनोवृत्तियां संघर्ष के लिए परिस्थितियां निर्मित करती हैं। भूख शरीर की जीवित अपेक्षा है। उसके कारण मनुष्य को कितना संघर्ष करना पड़ता है। यदि भूख नहीं होती तो हमारी प्रवृत्तियां सिमट जातीं। ये इतने बड़े-बड़े व्यवसाय, धन्धे, काम, इतने प्रयत्न नहीं चलते यदि भूख की वृत्ति नहीं होती। किन्तु भूख की आग को बुझाने के लिए मनुष्य को कितना प्रयत्न करना पड़ता है। दूसरी प्रवृत्ति है—काम। कामना की पूर्ति के लिए मनुष्य को कितना करना पड़ता है। भूख अतृप्ति पैदा करती है। कुछ खाया-पीया, तृप्त हो जाता है आदमी। शरीर के स्तर पर हमारी अतृप्ति को भरना बहुत सरल काम है, जटिल काम नहीं है। शरीर की मांग बहुत छोटी होती है। अतृप्ति बहुत सीमित होती है। उसे भरना, कोई जटिल काम नहीं होता, किन्तु वह अतृप्ति जब मानसिक स्तर पर पहुंच जाती है, वहां मनुष्य को बहुत संघर्ष करना पड़ता है, अनेक महा-युद्ध लड़ने पड़ते हैं। मानसिक स्तर पर आदमी न जाने कितने विश्व युद्ध लड़ता है और कितना संघर्ष का सामना करता है। मन की अतृप्तियां कितनी बढ़ जाती हैं। यदि मानसिक अतृप्तियां नहीं होतीं तो धर्म की बात आदमी को नहीं सूझती। यदि मानसिक अतृप्ति नहीं होती तो समाधि का सूत्र आदमी को उपलब्ध नहीं होता। मानसिक अतृप्ति ने मनुष्य को इतना व्यथित बना दिया, इतना संकट में डाल दिया कि वह अतृप्ति भरती ही नहीं है। मनुष्य ने सोचा कि यह अतृप्ति पदार्थ के द्वारा नहीं मिट सकती। इसका कोई दूसरा ही उपाय होना चाहिए। खोज शुरू हुई। खोज करते-करते पता चला कि मन की अतृप्ति को मिटाने की शक्ति पदार्थ में नहीं है। मन की अतृप्ति को मिटाने की शक्ति विराग में है, वैराग्य में है। यह वैराग्य का पहला सूत्र उपलब्ध हुआ मानसिक अतृप्ति की उलझनों के कारण। जैसे-जैसे मन की अतृप्तियां बढ़ती गईं, वैसे-वैसे मनुष्य विक्षिप्त होता गया।

मन की दो भूमिकाएं हैं—एक है क्षिप्तावस्था और दूसरी है—विक्षिप्ता-वस्था। पहले चंचलता होती है और चंचलता जब अधिक बढ़ जाती है तब आदमी विक्षिप्त होता है, पागल जैसा बन जाता है। पहले चंचलता बढ़ी। जैसे-जैसे अतृप्ति बढ़ी, चंचलता बढ़ी। जब अतृप्ति और बढ़ी, चंचलता और ज्यादा बढ़ी। चंचलता जब और अधिक बढ़ी, तो आदमी विक्षिप्त होने लगा, पागल होने लगा। जब आदमी ने सोचा कि अतृप्ति इतनी बढ़ गई है कि चंचलता भी सीमा पार कर रही है और मानसिक पागलपन हो रहा है, उस स्थिति में सोचना पड़ा कि कोई ऐसा उपाय होना चाहिए जिससे कि यह विक्षिप्तता मिट सके, पागलपन मिट सके। उपाय खोजा गया। अध्यात्म के क्षेत्र में उपाय मिला

वैराग्य। यदि वैराग्य का अभ्यास किया जाए तो यह विक्षिप्तता मिट सकती है, पागलपन मिट सकता है। वैराग्य से चंचलता मिट सकती है, यह क्षिप्तावस्था समाप्त हो सकती है। यदि क्षिप्तावस्था समाप्त हो सकती है, तो विक्षिप्तावस्था भी समाप्त हो सकती है। चंचलता मिट सकती है और पागलपन मिट सकता है। इस बिन्दु पर वैराग्य को खोजा गया। वैराग्य उपलब्ध हुआ।

विक्षेप की दिशा : चैतन्य की दिशा

जीवन की दो दिशाएं हैं। एक दिशा है विक्षेप की ओर जाने की तथा दूसरी दिशा है चैतन्य की ओर जाने की। आदमी जैसे-जैसे बाहर में गया, उसका आकर्षण जैसे-जैसे बाहर में बना, चंचलता बढ़ती गई, पागलपन बढ़ता चला गया। बाहर में जाने का अर्थ है—चंचलता बढ़ाना। बाहर में जाने का अर्थ है, पागलपन बढ़ाना। जिन लोगों ने केवल बाहर जाने का अर्थ ही समझा है, जिन लोगों ने केवल चंचलता को बढ़ाने का अर्थ ही समझा है, उन लोगों ने सचमुच दुनिया को अशान्त बनाया है और पागल बनाया है। आज मानसिक पागलपन बड़ी तेजी के साथ बढ़ रहा है। कल ही मैंने पढ़ा, एक भारत के डाक्टर का सर्वेक्षण जो दस वर्ष पहले हुआ था। डाक्टर ने बताया कि जिस नगर में मानसिक पागलों की संख्या आठ सौ पचास थी, आज वहां चौदह हजार की संख्या हो गई। यह भारत की चर्चा कर रहा हूं। मैं उन देशों की चर्चा नहीं करता हूं जहां चंचलता को बढ़ाने वाले साधन बहुत बढ़ गए हैं और चंचलता जहां विक्षिप्तता के बिन्दु पर पहुंच रही है, विक्षेप बढ़ रहा है वहां की संख्या तो बहुत ज्यादा है। अभी भारत तो वहां की कल्पना ही नहीं कर सकता, क्योंकि भारत गरीब है। गरीब होना एक अभिशाप भी है, गरीब होने के कुछ लाभ भी हैं। हर वस्तु के दो पहलू होते हैं। एक बुरा परिणाम होता है तो साथ-साथ अच्छा परिणाम भी होता है। गरीबी का बुरा परिणाम यह है—गरीबी के कारण अनैतिकता बहुत बढ़ रही है। किन्तु साथ-साथ गरीबी के कारण पागलपन की मात्रा उतनी नहीं बढ़ रही है जितनी कि समृद्धि के बाद बढ़ती है, क्योंकि समृद्धि के बाद जो चंचलता बढ़ती है, अतृप्ति बढ़ती है फिर वह अतृप्ति पदार्थ से नहीं मिटती। उसे मिटाने के लिए कोई और बात चाहिए, समाधि चाहिए और समाधि का सूत्र उपलब्ध नहीं होता है तो फिर पागलपन का दरवाजा इतना चौड़ा हो जाता है कि फिर एक दो आदमी के जाने का रास्ता नहीं होता, एक साथ हजारों-हजारों आदमी उस दरवाजे में जा सकते हैं, प्रवेश कर सकते हैं। बहुत चौड़ा रास्ता हो जाता है। हम कितना उपाय करें मानसिक शांति का, चित्त की समाधि का किन्तु जब तक वैराग्य का अभ्यास नहीं किया जायेगा, सचमुच सही अर्थ में यह मानसिक अशान्ति की समस्या, चित्त असमाधि की समस्या सुलझ नहीं पायेगी। वैराग्य के बिना, पदार्थों

के प्रति तीव्र आसक्ति को कम किये बिना, यह मानसिक अशान्ति की समस्या सुलझ नहीं सकती और चित्त शक्तिशाली बन नहीं सकता।

मादक वस्तु से शांति—एक प्रश्न चिह्न

एक दूसरी धारा भी है मानसिक अशान्ति को मिटाने की। लोग सोचते हैं कि चित्त की अशान्ति को मिटाना है तो मादक वस्तुओं का उपयोग करें। न जाने कितने ट्रैंक्वेलाइजर्स चल रहे हैं, कितने ड्रग्स चल रहें हैं, कितनी औषधियां चल रही हैं, इस मानसिक अशान्ति को मिटाने के लिए, चित्त की समस्या को सुलझाने के लिए, किन्तु जितनी दवाइयां चल रही हैं, उतनी ही मानसिक अशान्ति बढ़ रही है। दवाई बनाने वाले खूब लाभ उठा रहे हैं। दवाई बनाने वालों को लाभ मिल रहा है, पैसे मिल रहे हैं और हमारे मानसिक चिकित्सकों को लाभ मिल रहा है कि वे जी रहे हैं।

एक व्यंग है। बहुत तीखा व्यंग है। बीमारी है तो डाक्टर का परामर्श लो, इसलिए कि डाक्टर जी सके। डाक्टर जो दवा बताए वह दवा खरीदो जिससे कि दवा बनाने वाले जी सकें और दवा बेचने वाले जी सकें। दवा लो मत, इसलिए कि तुम भी जी सको।

आज डाक्टर भी जी रहा है। दवाई बनाने वाली कम्पनियां भी जी रही हैं और दवाई बेचने वाले स्टोर के मालिक भी जी रहे हैं। कठिनाई यह है कि आदमी मर रहा है, क्योंकि वह दवा ले रहा है। तीन सूत्र बराबर चल रहे हैं, किन्तु आदमी दवा ले रहा है। इतनी दवा ले रहा है कि पागलपन को और अधिक बढ़ाने वाली दवा ले रहा है। मानसिक शांति के लिए, चित्त की समाधि के लिए आज न जाने कितनी दवाइयां चल पड़ी हैं। दवाइयां लेते हैं, पर बात बनती नहीं, समाधि मिलती नहीं, शांति मिलती नहीं। मादक वस्तु का काम है एक बार विस्मृति ला देना, भुलावे में डाल देना, मूर्च्छित कर देना और जो हमारे संवेदन-केन्द्र हैं, जो अशांति का अनुभव कराते हैं उन संवेदन-केन्द्रों को निष्क्रिय कर देना। यह कोई समस्या का स्थाई समाधान नहीं है। यह तो ठीक भुलावे में डाल देने वाली बात है और यह भुलावा कब तक चल सकता है? यह वास्तविकता पर पर्दा कब तक डाला जा सकता है? पर्दा डाल देने का मतलब है एक बार छिपा देना किन्तु आखिर पर्दा रहता नहीं। पर्दा उठता है और समस्या और प्रज्वलित बन जाती है। यह पर्दा नहीं डाला जा सकता और चेतना पर तो पर्दा डाला ही नहीं जा सकता क्योंकि चेतना तो भीतर से भी सक्रिय है, भीतर से अपना काम करती है। उस पर यह पर्दा नहीं डाला जा सकता।

समाधि : मानसिक अशान्ति का स्थायी प्रतिकार

मानसिक अशांति का स्थायी उपचार करने के लिए समाधि के सिवाय दुनिया में कोई विकल्प नहीं है। वैराग्य को जगाये विना, पदार्थ के प्रति होने वाले आकर्षण को कम किये विना, आकर्षण की दिशा को वदले विना, चैतन्य के प्रति आकर्षण पैदा किए विना इस मानसिक अशान्ति का कोई स्थाई समाधान दुनिया में नहीं हो सकता। चाहे भगवान् भी आकर स्वयं दवाई देने लग जाए तो भी वह असफल रहेगा, कभी सफल नहीं हो सकेगा। स्वयं अश्विनीकुमार, जो इन्द्र के वैद्य हैं, वे भी दवा देने लग जायें तो इन दवाओं के वल पर, मादक द्रव्यों के वल पर, मानसिक अशान्ति को नहीं मिटाया जा सकता। प्रश्न चेतना का है, पदार्थ का नहीं। चेतना की अशान्ति को चेतना के जागरण के द्वारा ही मिटाया जा सकता है और चेतना का जागरण वैराग्य से ही आरम्भ होता है। हमने यदि वैराग्य का अभ्यास नहीं किया, राग की मात्रा को थोड़ा वहुत भी कम नहीं किया तो यह चैतन्य का जागरण नहीं हो सकता।

वैराग्य : समता : प्रसन्नता : एकाग्रता

चैतन्य जागरण का पहला विन्दु है—वैराग्य और जव वैराग्य जीवन में घटित होता है तव समता अपने आप घटित होती है। समाधि के अभ्यास-क्रम में पहला सूत्र है—वैराग्य और दूसरा सूत्र है—समता। जिस व्यक्ति ने वैराग्य की साधना नहीं की वह सामायिक की साधना नहीं कर सकता। सामायिक कितना वड़ा व्रत है? क्या वैराग्य के विना सामायिक की साधना की जा सकती है? वेश वदल लिया। सामायिक की मुद्रा में वैठ गए, एक संकल्प ले लिया और सामयिक हो गया। यदि इतने मात्र से ही सामायिक हो सकता तो फिर वहुरूपिया तो न जाने क्या-क्या कर लेता। वहुरूपिए सव वेश वनाना जानते हैं। और वहुरूपिया जितना अच्छा वेश वना सकता है, जितनी अच्छी मुद्रा वना सकता है, हर आदमी तो उतनी अच्छी मुद्रा भी नहीं वनाना जानता, और उसका अच्छा वेष वनाना भी नहीं जानता, किन्तु जो वहुरूपिये भी होते हैं वे भी देश की मर्यादा को जानते हैं। वे भी देश की मर्यादा का अतिक्रमण नहीं करते। सामायिक का वेश है और सामायिक की मुद्रा भी है, परन्तु वैराग्य नहीं है तो जीवन में सामायिक घटित नहीं हो सकता, चैतन्य में सामायिक उतर नहीं सकता। वेश पर सामायिक उतरे, कोई परिवर्तन नहीं आयेगा। हमारी मुद्रा र सामायिक उतरे, कोई परिवर्तन नहीं आयेगा। जव तक चैतन्य पर सामायिक नहीं उतरा, तव तक परिवर्तन नहीं आता। परिवर्तन तव शुरू होता है जव यह समता का भाव चैतन्य पर उतर जाए। वह उतर सकता है, वैराग्य की साधना के कारण। हमने वैराग्य की साधना की, पदार्थ के प्रति लगाव को कम किया और जीवन में समता का अवतरण शुरू

हो गया, सामायिक होना शुरू हो गया।

पहला वैराग्य का अभ्यास, दूसरा सामायिक का अभ्यास, समता का अभ्यास। इस क्रम में तीसरा सूत्र है, प्रसन्नता। जब हम वैराग्य का अभ्यास कर चुकते हैं और हमारे जीवन में वैराग्य घटित होने लग जाता है तब समता जीवन में घटित हो जाती है। वैराग्य आया, समता आई, तब प्रसन्नता शुरू हो जाती है, चित्त की निर्मलता प्राप्त हो जाती है। चित्त में वैराग्य का अंकुर फूटा, चित्त में समता का अंकुर फूटा और चित्त में प्रसन्नता का अंकुर फूटा। वैराग्य के बिना, समता के बिना प्रसन्नता नहीं हो सकती। हर्ष एक बात है, प्रसन्नता दूसरी बात है। धन मिला बड़ा हर्ष हो गया। प्रिय वस्तु का योग मिला बड़ा हर्ष हुआ। हर्ष का दूसरा पहलू है शोक। जहां हर्ष होगा, दूसरे क्षण में शोक भी झांक सकता है। एक ओर से हर्ष झांक रहा है तो दूसरी ओर से शोक झांक रहा है। दुनिया के इतिहास में आज तक एक भी ऐसी घटना घटित नहीं हुई कि जिस व्यक्ति ने हर्ष का अनुभव किया हो उसने शोक का अनुभव न किया हो। हर्ष और शोक दोनों साथ-साथ चलते हैं। एक चित्र उभर जाता है तो लगता है यह हर्ष है। वह जब नीचे जाता है, दूसरा चित्र उभरता है तो लगता है शोक है। एक उभरता है, एक छिप जाता है। दूसरा उभरता है और पहला छिप जाता है। किन्तु वास्तव में हर्ष और शोक के बीच में कोई दूरी नहीं है। दोनों बिल्कुल एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। प्रसन्नता हर्ष भी नहीं है और प्रसन्नता शोक भी नहीं है। प्रसन्नता है—चित्त की निर्मलता। जब आकाश में न बादल होते हैं, न धूल होती है तब कहा जाता है—'आकाश बड़ा प्रसन्न है।' हमारे चित्त पर जब किसी लाभ की घटा उमड़ती है, लाभ के बादल छा जाते हैं, बड़ा हर्ष होता है और जब कोई अलाभ की आंधी उतर आती है, बड़ा दुःख होता है, शोक होता है, किन्तु जब चित्त के आकाश पर न लाभ की घटा उमड़ती है, न अलाभ की आंधी उतरती है उस स्थिति में चित्त प्रसन्न होता है, निर्मल होता है। वैराग्य से समता और समता से प्रसन्नता, चित्त की निर्मलता।

यह निर्मलता की घटना जब घट जाती है, चित्त प्रसन्न बन जाता है, तब एकाग्रता सधती है। चित्त पहले एकाग्र नहीं होता। एकाग्र हो सकता है चित्त। एक निशाना साधने में क्या चित्त की एकाग्रता नहीं होती? एक शिकारी निशाना साधता है, कितना एकाग्र होता है! जब एक व्यक्ति किसी को डराना चाहता है, कितना एकाग्र होता है! एकाग्र होना ही कोई अच्छी बात नहीं है। किन्तु प्रसन्नता, समता और वैराग्य के कारण जो चैतन्य का अनुभव होता है, इस चैतन्य के अनुभव के प्रति एकाग्र होना अच्छी बात है। वह एकाग्रता होती है तब हमें वास्तव में अपने भीतरी सम्पदाओं का पता चलता है और आदमी अपने को पहचान लेता है।

एक ग्रामीण था केस चल रहा था कोर्ट में। प्रतिपक्षी वकील ने पूछा—इतनी

भैंसें थीं, उनमें से तुमने अपनी भैंस को कैसे पहचाना। उसने कहा—'इसमें क्या कठिन बात है। कोई कठिनाई नहीं। जैसे इतने वकील खड़े हैं, मैंने अपने वकील को पहचान लिया, वैसे ही मैंने अपनी भैंस को पहचान लिया। कोई कठिनाई नहीं हुई।'

अपनी पहचान

पहचानने की एक भूमिका आती है, आदमी पहचान लेता है। फिर हजारों-हजारों के अस्तित्व में से अपने को पहचान लेता है। कोई भी आदमी इन पदार्थों की दुनिया से बाहर नहीं जा सकता। किन्तु इन पदार्थों से भरे हुए जगत् में भी अपने आप को पहचान लेता है, अपने अस्तित्व को पहचान लेता है, अपनी भीतरी सारी सम्पदाओं को पहचान लेता है। जटिल प्रश्न यही है कि हम तब तक समाधि में नहीं जा सकते, चैतन्य के अनुभव में नहीं जा सकते जब तक अपने आपको पहचानने की दिशा में नहीं चलते। हमारी कठिनाई है कि हमारा सारा आकर्षण दूसरों की ओर लगा हुआ है। जब तक वह अपनी ओर नहीं जाता तब तक बात बनती नहीं है। एक बड़ी मार्मिक कहानी है।

एक सेठ यात्रा कर रहा था। संयोग मिला कि ठग साथ में हो गया। उसे पता लग गया था कि सेठ के पास हीरे हैं। वह उन्हें हड़पना चाहता था। वह सेठ के पीछे पड़ गया। सेठ को पता लग गया कि यह ठग है। पर, अब पीछा कैसे छुड़ाए, यह प्रश्न था।

सेठ को भी पता चल गया, क्या करे उपाय नहीं है कोई। सेठ जिस स्टेशन पर उतरता है वह ठग भी उतर जाता है। जहां आकर ठहरता है वहां ठहर जाता है। पीछा नहीं छोड़ता। सेठ ने सोचा, बुद्धि से काम लेना चाहिए, नहीं तो ठगा जाऊंगा। सेठ को पानी पीने जाना था। ठग ने कहा—"जाइए, मैं आपके सामान की रखवाली करूंगा।" सेठ ने कहा, ठीक है, तुम पहले पता कर आओ, पानी कहां मिलता है। फिर मैं जाऊंगा। ठग चला गया, खोज करने के लिए। इतने में सेठ ने अपने पास जो हीरे थे, वे ठग की पोटली में बांध दिये। ठग पानी का पता लगाकर आया, बोला—"वहां पानी मिलता है, बड़ा ठंडा और निर्मल पानी है, आप पीकर आ जायें। सेठ गया। ठग ने सोचा—अच्छा मौका मिला। सेठ का सारा सामान टटोला, कुछ भी नहीं मिला, तब उसने सोचा, हो सकता है, साथ में ले गया हो। बड़ा धूर्त आदमी है यह भी। धूर्त आदमी दूसरे को कैसे धूर्त नहीं मानेगा। सब आदमी एक दूसरे को धूर्त मान रहे हैं। अगर आदमी दूसरे को धूर्त न माने तो अपनी धूर्तता भी समाप्त हो जाये, किन्तु दूसरे को धूर्त मानने पर अपनी धूर्तता को पनपने का मौका मिलता रहता है। सेठ पानी पीकर आ गया। बैठ गया। ठग पानी पीने गया। सेठ ने अपने हीरे उसकी पोटली से निकालकर अपने पास रख लिये। सेठ ने इतनी बुद्धिमत्ता से काम किया कि जहां पहुंचना था

उस स्टेशन पर पहुंच गया। लक्ष्य सामने आ गया। सोचा, सुरक्षित पहुंच गया। सेठ ने कहा—"भाई साहब ! बड़े सहयोगी रहे मेरी यात्रा में, बड़ा साथ निभाया, बड़ा सहयोग किया। मैं अपने घर जा रहा हूं। नमस्कार ! आनन्द से रहना।" धूर्त आया, पैरों में गिर गया। बोला—"सेठ साहब, आपने मुझे नहीं पहचाना। मैं एक ठग हूं। बहुत बड़ा ठग हूं।" सेठ ने कहा—"बहुत पहले ही पहचान लिया। तो फिर एक बात पूछना चाहता हूं। मुझे लगता है कि मैं तो ठग हूं और आप महाठग हैं। मैंने आज तक दुनियां को ठगा, और आपने मुझ को भी ठग लिया। आपने कैसे ठगा, यह बात समझ में नहीं आई। आपके पास इतना कीमती सामान और मैंने जब-जब सामान को खोला, देखा, पर कुछ भी नहीं मिला। मुझे लगता है कि आपने सचमुच मुझे ठग लिया। आप बता दें, आप का ठगने का गुर क्या है। आपकी कला क्या है? सेठ ने कहा—"मेरी और कोई कला नहीं, सिर्फ एक ही कला थी कि जब तुम बाहर जाते, मैं अपना कीमती सामान तुम्हारी पोटली में बांध देता। तुम मेरे सामान को देखते। अपनी पोटली नहीं टटोलते। आदमी दूसरे को देखता है अपने को कोई नहीं देखता।

कितनी बड़ी मर्म की कहानी है कि हर आदमी दूसरे की खोज-खबर लेता है, दूसरे को टटोलता है। अपनी कोई खोज-खबर नहीं लेता। आत्मालोचन करें, आत्मा-निरीक्षण करें, क्या हम उस ठग की भांति ठगे तो नहीं जा रहे हैं। ठग दूसरे को ठगता है पर क्या हम स्वयं तो ठगे नहीं जा रहे हैं। हम केवल दूसरों-दूसरों को ही संभाल रहे हैं। कभी पदार्थ को संभालते हैं, कभी किसी आदमी को संभालते हैं। कभी किसी को संभालते हैं। उलझन अपने मन की होती है और उसे दूसरों पर डाल देते हैं। उसने मेरा ऐसा कर लिया, इसलिए यह घटना हुई है। उसने मेरा यह कर दिया, उसने मेरा वह कर दिया। शायद ही आदमी स्वीकार करता है कि मैंने यह कर लिया। अपनी पोटली को कभी नहीं संभालता।

आज ही एक बहन आई। ध्यान किया, शरीर अकड़ गया। रीढ़ में अकड़न आ गई, फिर उसने दवा ले ली। वह ठीक हो गई। ध्यान के द्वारा, समाधि की साधना के द्वारा जो विकृतियां बाहर निकलना चाहती थीं, जो उभार बाहर निकलना चाहता था, उसे अन्दर ही रोक दिया। जो दूसरों को देखना जानता है वह नहीं चाहता कि दूसरे भीतर अड्डे जमाए बैठे हैं वे बाहर निकल जायें। बीमारियां बाहर निकल जायें, आदमी नहीं चाहता। पागलपन बाहर निकल जाये, आदमी नहीं चाहता। विकृतियां बाहर निकल जाएं, विकार बाहर निकल जाएं, आदमी नहीं चाहता। वह उन्हें भीतर रखने का प्रयत्न करता है। दवा ली, जो बाहर निकलना चाहता था विकार, फिर भीतर में सजीव हो गया। भीतर जाकर बैठ गया, जम गया। लगता है कि बड़ा आराम मिल गया। अरे भले आदमी ! जो घर को खाली करना चाहता था, जो ठग बाहर जाना चाहता था, पर तुमने चाहा

कि नहीं, ठग बाहर क्यों जाये, उसे मेरे साथ ही रहना चाहिए। इस अर्थ में हम ठगे जा रहे हैं।

समाधि की निष्पत्ति

समाधि की सारी साधना, इस प्रवंचना को तोड़ने की साधना है, इस ठगाई को मिटाने की साधना है और इस मायाजाल को तोड़ने की साधना है। आदमी कभी ठगा न जाये। वह अपने आपको देखे, अपनी सम्पदा को देखे, और अपने अस्तित्व को पहचाने। जिस दिन हमने वैराग्य, समता, प्रसन्नता और प्रसन्नता से उपलब्ध होने वाली चैतन्य के अनुभव के प्रति एकाग्रता को साध लेंगे, सचमुच हम इस ठगाई के जाल से ऊपर उठ जायेंगे और एक निर्द्वन्द्व चेतना की भूमिका पर चले जायेंगे।

१८. चित्त-समाधि के सूत्र [२]

- एगग्गमणसंनिवेसणयाए णं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?
  एगग्गमणसंनिवेसणयाए णं चित्तनिरोहं करेइ ॥

(उत्तरा २९/२५)

- भंते ! एक अग्र(आलंबन) पर मन को स्थापित करने से जीव क्या प्राप्त करता है ?
  एकाग्रमन की स्थापना से वह चित्त का निरोध करता है ।

१. • एकाग्रता का अभ्यास—सालंबन ध्यान का अभ्यास ।

२. • प्रगाढ़ एकाग्रता, तन्मयता होने पर संकल्प का नाश ।
यह समाधि है निरालंब, केवल चैतन्य में प्रतिष्ठित । बाहर का कोई आलंबन नहीं ।

३. • ध्यान और समाधि में अन्तर—
- ध्यान—सेन्द्रिय और समनस्क चित्त दशा ।
- समाधि—अनिन्द्रिय और अमनस्क चित्त दशा ।
- ध्यान में बाह्य जागरूकता भी होती है ।
- समाधि में केवल आन्तरिक जागरूकता ।
- ध्यान में शब्द आदि विषयों का बोध होता है ।
- समाधि में भीतरी शब्द आदि विषय भी निरुद्ध हो जाते हैं ।

४. • संकल्प का नाश होने पर तृष्णा क्षीण हो जाती है ।

५. • ध्यान और नींद—

ध्यान	नींद
• शरीर की जैविक-क्रिया तत्काल मंद	—कई घंटों की गहरी नींद में जैविकक्रिया मंद ।
• तीन मिनट में ऑक्सीजन की खपत में १६ प्रतिशत कमी	—पांच घंटा की नींद में आक्सीजन की खपत में केवल ८ प्रतिशत कमी ।

- त्वचा में अवरोध-क्षमता की वृद्धि—त्वचा में अवरोध की क्षमता कम।
- स्वायत्त स्नायु-तंत्र में स्थिरता।
- हृदयगति, रक्तचाप, नाड़ीगति
  और श्वासगति में संतुलन।

अठारह

ध्यान और समाधि एक या दो ?

ध्यान से हमारी अन्तर की ज्योति प्रज्वलित होती है। समाधि से हमारे भीतर एक चैतन्य का प्रकाश फूटता है और वह प्रकाश ऐसा है जिसकी झलक बाहर के जगत् में कभी उपलब्ध नहीं होती। अध्यात्म की साधना के क्षेत्र में दो शब्द बहु-चर्चित हैं। एक है ध्यान और दूसरा है समाधि। कुछ आचार्यों ने केवल ध्यान के द्वारा समूची साधना को प्रस्तुत किया है और कुछ आचार्यों ने केवल समाधि शब्द के द्वारा समूची साधना का प्रतिपादन किया है। कुछ आचार्यों ने ध्यान और समाधि दोनों का प्रतिपादन किया है। हमारे सामने प्रश्न होता है—क्या ध्यान और समाधि एक हैं या दोनों में अन्तर है? यदि अन्तर है तो वह क्या है? कोई अन्तर नहीं होता। समाधि के साथ ध्यान स्वयं आ जाता है और ध्यान में समाधि स्वयं आ जाती है। भीतर में जागने का जितना प्रयत्न है वह सारा का सारा समाधि है। जब-जब आदमी भीतर में जागता है, जब-जब वह चैतन्य का अनुभव करता है, और जिस बिन्दु से जागना शुरू करता है, उस बिन्दु से लेकर चरम-बिन्दु तक पहुंचता है, वह सारा का सारा समाधि है। भीतर में जागना ध्यान और भीतर में जागना समाधि। कोई अन्तर नहीं होता। किंतु जब दोनों शब्द हमारे सामने आते हैं तो अन्तर जानने की जिज्ञासा भी मन में जाग जाती है। सहज ही प्रश्न होता है—ध्यान और समाधि में भेद-रेखा क्या है? अनेक आचार्यों ने भेदरेखा भी खींची है। समनस्कता ध्यान की स्थिति है। ध्यान में मनुष्य समनस्क और सेन्द्रिय रहता है। ध्यान में मनुष्य अमन नहीं होता, अमनस्कता नहीं आती और इन्द्रियां भी बिल्कुल निष्क्रिय नहीं बनतीं। समाधि की अवस्था आती है, मनुष्य अमनस्क और अनिन्द्रिय बन जाता है।

समाधि है तीसरी अवस्था

इन्द्रिय की एक अवस्था है वनस्पति जीवों में, जिस अवस्था में इन्द्रियों का पूरा विकास नहीं होता। अमनस्कता की एक अवस्था है वनस्पति जीवों में, जिस

अवस्था में उन जीवों के मन का पूरा विकास नहीं होता । प्रश्न होता है—क्या ध्यान करने वाला, समाधि में जाने वाला अनिन्द्रिय और अमनस्कता की स्थिति में चला जाये? फिर वनस्पति जगत् में चला जाये और उसका जो विकास हुआ है वह और कम हो जाये? यदि ऐसा हो तो फिर हमें समाधि की कोई आवश्यकता नहीं है। हमने वनस्पति से विकास किया। विकास करते-करते पांच इन्द्रियों और मन की स्थिति तक हम पहुंचे। यदि हम समाधि के द्वारा फिर अनिन्द्रिय और अमनस्क की स्थिति में चले जाएं, इन्द्रियां निष्क्रिय बन जाएं, हमारा मन, समाप्त हो जाए और फिर वनस्पति में लौट जाएं तो समाधि का हमारे लिए कोई उपयोग नहीं होगा। इसलिए जैन आचार्यों ने एक शब्द का चुनाव किया कि जब समाधि की अवस्था आती है, उसे न अनिन्द्रिय कहा जाता है और न सेन्द्रिय कहा जाता है, किन्तु तीसरे शब्द का प्रयोग करना होगा—नो-इन्द्रिय, नो-अन-इन्द्रिय। वहां इन्द्रिय और अनिन्द्रिय—दोनों अवस्थायें समाप्त हो जाती हैं। इन्द्रिय की चेतना भी समाप्त और मन की चेतना भी समाप्त। इसलिए न समनस्क और न अमनस्क—दोनों अवस्थायें नहीं। तीसरी अवस्था घटित होती है। उसे कहा जाता है—नो-समनस्क और नो-अमनस्क। यह एक तीसरी अवस्था है। समाधि की अवस्था न इन्द्रिय की अवस्था है, न अनिन्द्रिय की अवस्था है। समाधि की अवस्था न मन की अवस्था है और न अमन की अवस्था है किन्तु समाधि की अवस्था इन दोनों से रहित एक तीसरी अवस्था है।

महर्षि पतंजलि ने समाधि की अवस्था के लिए एक शब्द का प्रयोग किया 'अर्थमात्रनिर्भासा' जहां ध्येय छूट जाता है, केवल ध्येय का निर्भास मात्र रह जाता है, कोरा अर्थ रह जाता है। आलम्बन छूट जाता है। कोरा आभास मात्र शेष रह जाता है, वह समाधि की अवस्था है। गोरक्षपद्धति में बहुत स्पष्ट भेद-रेखा खींची है कि जब तक शब्द सुनाई देता है, इन्द्रियों के विषय आते रहते हैं, संकल्प-विकल्प आते रहते हैं, सूक्ष्म हो जाते हैं, फिर भी आते रहते हैं, वह ध्यान की अवस्था है। जब सारे शब्द आदि समाप्त हो जाते हैं, न बाहर का शब्द और न भीतर का शब्द, न कोई बाहर की आवाज सुनाई देती है और न भीतर में कोई शब्द काम करता है, वह समाधि की अवस्था है।

संकल्प-विकल्प और शब्द

संकल्प के लिए शब्द जरूरी है। यदि भीतर में शब्द नहीं होगा तो संकल्प नहीं उठेगा। भीतर में शब्द नहीं होगा तो कोई विकल्प नहीं उठेगा। यह संकल्प और विकल्प तभी उठते हैं जब भीतर के शब्द काम करते हैं। जब बाहर के शब्द काम करते हैं तो ध्यान की अवस्था भी पूरी घटित नहीं होती, किन्तु ध्यान जैसे-जैसे सूक्ष्म बनता है, चेतना जैसे-जैसे सूक्ष्म बनती है,

वैसे-वैसे बाहरी विषयों में भी परिवर्तन आता जाता है। जो व्यक्ति ध्यान की गहराई में नहीं जाता वह आंखें बन्द करके ध्यान करने के लिए बैठता है तो कोई शब्द भी सुनेगा और शब्द के अर्थ में लग जायेगा। सोचेगा कि क्या कहा? सारी स्थिति उसमें चली जायेगी। ये शब्द बड़े भुलावे में डालने वाले होते हैं। इन्द्रियों के विकास का क्रम है—स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र। इस क्रम से इन्द्रियों का विकास हुआ है। वनस्पति में, स्थावर जीवों में, केवल एक स्पर्शन इन्द्रिय की चेतना जागती है। द्वीन्द्रिय जीवों में दो इन्द्रियां उपलब्ध होती हैं। उनमें स्पर्शन और रसन की चेतना जागती है। जिनमें तीन इन्द्रियों का विकास होता है, उनके घ्राण इन्द्रिय और जागती है। चार इद्रियों का विकास होता है उनमें चक्षु इन्द्रिय और जागती है और पांच इन्द्रियों का विकास होता है तब शब्द-चेतना जागती है। यह है—इन्द्रियों का विकास-क्रम। किन्तु साधना की दृष्टि में इससे ठीक उल्टा होता है। क्योंकि मनुष्य को सबसे ज्यादा प्रभावित करते हैं—शब्द और रूप। इसलिए ध्यान करने वाले व्यक्ति को शब्दों से बचना होता है और रूपों से बचना होता है।

मुनि जंगल में खड़े थे पेड़ के नीचे। राजा श्रेणिक अपनी सेना के साथ-साथ भगवान् महावीर के पास जा रहा था। आगे-आगे कुछ कर्मचारी चल रहे थे। एक व्यक्ति जो सबसे आगे चल रहा था, देखा, मुनि ध्यान करके खड़ा है। चलते-चलते उसने एक ढेला फेंक दिया। बोला—"ध्यान करके खड़े हो। राज्य को छोड़ आये, पता नहीं पीछे क्या हो रहा है। शत्रुओं ने आक्रमण कर दिया। लड़का बेचारा छोटा है, पिसा जा रहा है। राज्य जा रहा है, क्या हुआ राज्य को छोड़कर खड़े हो गये?' कुछ कठोर शब्द कहे। एक ओर मुनि ध्यान में लीन थे, चैतन्य के अनुभव में लीन थे, किन्तु जैसे ही शब्द कानों में घुसे, उनका ध्यान छूट गया और वे शब्दों में उलझ गये। सोचा, मेरे राज्य पर आक्रमण किया है। अभी मैं जाता हूं और पूरी सेना की शक्ति के साथ शत्रु पर आक्रमण करता हूं। देखता हूं, कैसे वह मेरे राज्य को लूटता है? ऐसी स्थिति में चले गये, ध्यान तो छूट गया, युद्ध का ध्यान लगा रहा। आत्मा का ध्यान छूट गया, युद्ध का ध्यान सारे मस्तिष्क में चक्कर काटने लगा।

शब्द बहुत प्रभावित करते हैं। इसलिए ध्यान की साधना करने वाले व्यक्ति को सबसे पहले शब्द पर विजय पाने की जरूरत होती है। शब्दों को न सुनें और यदि सुनें तो उनके अर्थ पर चिन्तन न करें। ध्यान न दें। कानों में पड़ा और गया। लगता है जैसे शब्दों का काम कान में आना है और उस पर ध्यान न देना ध्यान करने वाले का काम है। ध्यान में यह स्थिति नहीं बनती कि शब्द कानों में न आएं और हमारे मस्तिष्क को झंकृत न करें। शब्द सुनाई देता है और मस्तिष्क झंकृत होता है। किन्तु जब तन्मयता की स्थिति बनती है, एकाग्रता प्रगाढ़

होती है, घनीभूत होती है, फिर शब्द सुनाई भी नहीं देता। समाधि की अवस्था में जो चला जाता जाता है, कितना ही शब्द हो, उसे कोई पता ही नहीं चलता कि कुछ हो रहा है। चाहे नगाड़ा वजा दिया जाये, चाहे जेट विमान कानों के पास से गुजर जाये, कोई फर्क नहीं पड़ता। कितना ही भयंकर शब्द हो जाये, समाधि की चेतना में पहुंचने के वाद हमारे सारे संवेदन-केन्द्र, इन्द्रियों के संवेदन-केन्द्र और मन के संवेदन-केन्द्र सव निष्क्रिय वन जाते हैं। कोई भी शब्द सुनाई नहीं देता, न वाहर का शब्द सुनाई देता है और न भीतर का शब्द सुनाई देता है। दोनों समाप्त हो जाते हैं। इसीलिए इस अवस्था को कहा गया है—संकल्प-नाश। जहां सारे संकल्प समाप्त हो जाते हैं।

ध्यान और समाधि में भेद

ध्यान और समाधि का यह अन्तर है—ध्यान में इन्द्रियों के विषय सामने आते रहते हैं किन्तु समाधि की अवस्था में न वाहर के विषय आते हैं और न भीतर के विषय आते हैं। हमारी चेतना सर्वथा निरालम्ब हो जाती है, विषय-शून्य हो जाती है। यह विषय-शून्य चेतना, केवल चैतन्य का अनुभव, यह है समाधि की अवस्था। वहां केवल चैतन्य का अनुभव होता है और कुछ भी नहीं होता। सब समाप्त हो जाते हैं। यह समाधि की अवस्था है और इस अवस्था में जो पहुंच जाता है वह अन्तर के अनुभव में ही पहुंच जाता है। इसी का नाम है—आत्मानुभव, स्वानुभव, चैतन्य का अनुभव, आत्मा का साक्षात्कार या परमात्मा का साक्षात्कार।

समाधि और नींद

प्रश्न सहज ही होता है कि नींद में भी शब्द सुनाई नहीं देता। आदमी गहरी नींद में होता है, मेघ-गर्जना होती है, पता नहीं चलता, वर्षा हो जाती है, पता नहीं चलता, आंधी आ जाती है, पता नहीं चलता। मनुष्य मूर्च्छा की अवस्था में होता है तव भी पता नहीं चलता। मादक द्रव्य का प्रयोग किया जाता है, शून्यता ला दी जाती है, संवेदन-केन्द्र निश्चेतन वन जाते हैं। मूर्च्छा की अवस्था, शून्यता की अवस्था और नींद की अवस्था में पता नहीं चलता तव इन्हें क्यों न समाधि मान लें। नींद भी एक समाधि है, मूर्च्छा भी एक समाधि है, और मादक वस्तुओं का प्रयोग किया गया, शून्यता ला दी गई वह भी एक समाधि है। उनको क्यों नहीं समाधि मानें, सहज ही मन में एक जिज्ञासा जागती है। किन्तु जव हम समाधि की अवस्था के साथ इन सवकी तुलना करते हैं तो हमें पता चलता है कि वहुत बड़ा अन्तर है समाधि में और नींद में। नींद और समाधि एक नहीं हो सकती। नींद में हमारा जाग्रत मन सो जाता है, इसलिए संवेदन-केन्द्र काम नहीं करते

और हमें वाहर की घटनाओं का पता नहीं चलता। समाधि में वाहर का मन सोता है किन्तु भीतर का मन, भीतर की चेतना वहुत सक्रिय हो जाती है। इतनी जागरूकता वढ़ जाती है, पहले कभी नहीं वढ़ती।

ध्यान और नींद

नींद का मतलव है सो जाना, चेतना का लुप्त हो जाना, वाहर की चेतना का समाप्त होना और भीतर की चेतना का भी नहीं जागना। समाधि का मतलव है वाहर की चेतना का सो जाना किन्तु भीतर की चेतना का वहुत तीव्रता से जाग जाना। इतनी शक्तिशाली वन जाती है चेतना, जितनी पहले कभी नहीं वनी थी। वहुत वड़ा अन्तर है। अभी-अभी वैज्ञानिकों ने ध्यान और नींद का तुलनात्मक अध्ययन किया और वहुत वड़ी खोजें इस विपय में की। क्या अन्तर आता है? केवल ध्यान और नींद की तुलना की है, समाधि की नहीं की, किन्तु वह भी वहुत महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने देखा कि ध्यान करने वाले व्यक्ति की, तीन मिनट में, ऑक्सीजन की खपत में सोलह प्रतिशत की कमी हो जाती है। केवल तीन मिनट में। जवकि पांच घंटा की गहरी नींद आदमी लेता है तो आठ प्रतिशत ऑक्सीजन की खपत कम होती है। कितना वड़ा अन्तर है? तीन मिनट में सोलह प्रतिशत की कमी और पांच घंटे की नींद में आठ प्रतिशत की कमी। ध्यान में त्वचा की अवरोधक-शक्ति वढ़ जाती है। हमारी त्वचा में वहुत अवरोधक-शक्ति है। यदि त्वचा में अवरोधक-शक्ति न हो तो वाहर की विद्युत्-तरंगों को आदमी पकड़ लेता है। और जव वाहर की विद्युत्-तरंगों को पकड़ लेता है तो न जाने कितनी वीमारियों को, कितने मानसिक विकारों को अनायास भीतर ले लेता है। किन्तु त्वचा में इतनी अवरोधक-क्षमता है कि वह वाहर की विद्युत् की तरंगों को नहीं पकड़ती। पास में आती है तो फेंक देती है इसलिए वाहर के प्रभावों को वह कम ग्रहण करती है। नींद की अवस्था में देखा गया कि त्वचा की अवरोधक-शक्ति तो वढ़ती है किन्तु वहुत कम मात्रा में वढ़ती है। ध्यान की तुलना में वहुत ही नगण्य वढ़ती है। ध्यान की स्थिति में मस्तिष्क में अल्फा तरंगें जाग जाती हैं। अल्फा तरंग के जागने का मतलव है शांति का अनुभव, सुख का अनुभव। हमारी मन की शांति और मन का सुख, वह अल्फा तरंगों के कारण होता है। नींद में अल्फा तरंगें नहीं जागतीं। यदि नींद शुरू होती है तो अल्फा तरंगें जो होती हैं वे भी समाप्त हो जाती हैं। तव वीटा, थीटा आदि तरंगें जागनी शुरु हो जाती हैं। किन्तु जव गाढ़ नींद वनती है, उसमें अल्फा तरंगें भी कुछ जागती हैं। इसलिए नींद में भी आदमी को कुछ सुख का अनुभव होता है। किन्तु ध्यान की तुलना में वहुत कम जागती हैं। इसलिए हम ध्यान और नींद, समाधि और नींद को एक तराजू पर नहीं तोल सकते। दोनों में

बहुत बड़ा अन्तर है। आदमी ध्यान करता है। आधा घण्टा का भी ध्यान करता है तो पूरे दिन ऐसा लगता है कि आज कोई ऐसा टानिक ले लिया कि सारे दिन आनन्द का अनुभव होता रहता है। नींद में ताजगी आती है, थकान मिटती है, किन्तु उसका प्रभाव बहुत थोड़े समय रहता है। ध्यान का प्रभाव समूचे दिन रहता है। ध्यान का स्थाई प्रभाव होता है, नींद का तात्कालिक और सामयिक प्रभाव होता है। समाधि को और नींद को एक कोटि में नहीं रखा जा सकता। समाधि को और मूर्च्छा को एक कोटि में नहीं रखा जा सकता। मूर्च्छा में केवल मस्तिष्क के संवेदन-केन्द्र निष्क्रिय बन जाते हैं किन्तु भीतर की सारी क्रिया चालू रहती है। ध्यान में हमारे शरीर की जैविक क्रिया बहुत मन्द हो जाती है, शक्ति का व्यय रुक जाता है। ध्यान करने वाला व्यक्ति, समाधि में आने वाला व्यक्ति अपनी शरीर की शक्ति को बहुत बचा लेता है, मन की शक्ति को बहुत बचा लेता है। किन्तु मूर्च्छा में जाने वाला ऐसा नहीं कर पाता। मूर्च्छा को और ध्यान को एक कोटि में नहीं रखा जा सकता।

समाधि हमारी आन्तरिक जागरूकता है, आन्तरिक जागरण है। जब आदमी भीतर में जागने लगता है, तब इस प्रकार का अलौकिक जगत् उसके सामने आता है जिसकी उसने पहले कभी कल्पना ही नहीं की। जब नयी चीज सामने आती है तो उसे बड़ा विचित्र-सा लगता है।

एक आदिवासी नगर में गया और एक आदमकद शीशा ले आया। घर वालों ने कभी नहीं देखा था कि शीशा क्या होता है? उसने घर पर शीशा रख दिया। पत्नी शीशे के सामने गई और चौंक पड़ी। वह सीधी पहुंची सास के पास। जाकर बोली—आज बड़ा अनर्थ हो गया। सास ने पूछा—क्या हो गया? उसने कहा—'तुम्हारा बेटा दूसरी औरत ले आया।' सास ने कहा—यह कैसे हो सकता है? अभी जाती हूं। वह शीशे के पास आई, देखा, बोली—अरे, दूसरी औरत ले आया तो ठीक है पर आखिर बूढ़ी को ही क्यों लाया।

दोनों को अपने प्रतिबिंब का पता ही नहीं चला। इसलिए पत्नी ने सोचा कि और कोई औरत ले आया और सास ने सोचा, बूढ़ी औरत को ले आया।

सूक्ष्म जगत् : कितना विराट्

इस प्रकार हमें पता नहीं होता, चैतन्य के अनुभव का, और जब आदमी को पता ही नहीं होता तो बड़ा अजीब-सा लगता है। ऐसा लगता है कि यह क्या है? कहां से आ गया? यह घटना कहां से घटित हो गई? शिविर में प्रेक्षा-ध्यान की साधना करते-करते कुछ लोगों में अनुभव जागते हैं। वे मेरे पास आते हैं। अपने अनुभव सुनाते हैं। मैंने सब को कह रखा है कि कोई भी विशेष अनुभव हो तो बता दें, अगर बताना हो तो, अन्यथा अपने पास रखें, क्योंकि आन्तरिक अनुभव

बताना अच्छा नहीं है। बाहर में क्या परिवर्तन हो रहा है बताया जा सकता है किन्तु ध्यान-काल में कुछ इस प्रकार के अनुभव जागते हैं कि वे अनुभव सब के सामने प्रस्तुत नहीं करने चाहिए। ऐसे विचित्र अनुभव बताये। किसी ने कुछ देखा। उन्होंने कभी कल्पना ही नहीं की थी कि इस प्रकार के भी दृश्य देखे जा सकते हैं। इस प्रकार के सुन्दर रंग देखे जा सकते हैं जो रंग हमारी दुनिया में नहीं हैं। वैज्ञानिक दुनिया में जिन रंगों को कभी देखने का मौका नहीं मिलता, वह ध्यान-काल में देखने का मौका मिलता है। सारी दुनिया में जो सुन्दर रूप देखने का मौका नहीं मिलता वह ध्यान-काल में मिलता है। एक भाई ने आज कहा—"हम पहले ध्यान नहीं करते थे तो बाहर के रंग और रूप दिखाई देते थे। अब ध्यान करने लग गये तो भीतर के रंग-रूप दिखाई देने लग गये। बस, क्या इतना ही होगा या और कुछ होगा?" मैंने कहा—यह तो पहला चरण है। जब भीतर की चेतना जागेगी तो इतना दिखाई देगा कि आज कोई संभावना ही नहीं की जा सकती। हमारे स्थूल जगत् में बहुत कम वस्तुएं हैं। हमारा स्थूल जगत् बहुत छोटा है। हमने बहुत बड़ा मान रखा है। किन्तु अब सूक्ष्म-जगत् के आवरण हटते हैं, हमारी चेतना सूक्ष्म होती है और जब सूक्ष्म सत्यों को पकड़ने की हमारी क्षमता जागती है तब हमें लगता है कि हमारा सूक्ष्म जगत् कितना बड़ा है, कितना विशाल और कितना विराट् है। आदमी पहले समझ भी नहीं पाता, उलझ जाता है। पता ही नहीं होता क्या हो रहा है? कुछ भी पता नहीं चलता।

भोला नौकर था, देहाती। सेठ ने कहा—"अरे भई जाओ, देखो, सूरज दिखाई दे रहा है कि नहीं।" बाहर गया। फिर आया भीतर। बोला—"सेठ साहब! सूरज दिखाई नहीं दे रहा है, क्योंकि अभी अन्धेरा है। सेठ ने कहा—"दीया जलाकर देखो कि आकाश में सूरज है या नहीं। बेचारे को पता ही नहीं कि सूरज को कैसे देखा जाता है। क्या सूरज को देखने के लिए भी दीये की जरूरत होती है। सूरज नहीं होता तो सारे दीये टिमटिमाते हैं, जलते हैं और एक सूरज आता है तो सब दीये बुझ जाते हैं। फिर दीये की कोई जरूरत नहीं होती। सूरज को देखने के लिए कभी दीये की जरूरत नहीं, किन्तु जब आदमी नहीं जानता, वह समझता है कि सूरज आकाश में तो है पर अन्धेरा है इसलिए दिखाई नहीं देता।

तृष्णा : एक अमिट प्यास

जब चेतना अपने आप में प्रतिबिंबित हो जाती है तब उसके देखने के लिए किसी की जरूरत नहीं होती। जब मनुष्य अपनी स्थूल चेतना के द्वारा अपनी सूक्ष्म चेतना को देखना शुरू कर देता है, तब भीतर में जो है, वह उसे साफ दिखाई देने लगता है और भीतर में विचित्र घटनाएं घटित होने लगती हैं। फिर

उसके लिए कोई दीया जलाने की जरूरत नहीं होती। समाधि हमारी चेतना की वह अवस्था है कि जहां बाहर के सारे आलम्बन छूट जाते हैं। कोई आलम्बन लेना नहीं होता ध्यान करने के लिए। समाधि का जब उपक्रम होता है वहां कोई आलम्बन जरूरी नहीं होता। न शब्द का, न रूप का, न चिन्तन का। किसी विषय पर मन को एकाग्र करने की जरूरत नहीं होती। एकाग्रता भी नीचे रह जाती है। समाधि की अवस्था में तन्मयता आती है। मनुष्य तन्मय बन जाता है। केवल चैतन्यमय बन जाता है। केवल चैतन्य का अनुभव शेष रह जाता है और सारे अनुभव समाप्त हो जाते हैं। बाहर आदमी सो जाता है और केवल आन्तरिक जागरूकता शेष रह जाती है। संकल्प का नाश, विकल्प का नाश। जब संकल्प और विकल्प का नाश होता है तब तृष्णा भी समाप्त हो जाती है। तृष्णा सबसे बड़ी बाधा है। मनुष्य में यदि तृष्णा नहीं होती तो प्रवृत्तियों के व्यूह में इतना नहीं उलझता। एक तृष्णा के कारण ही मनुष्य उलझा हुआ है। तृष्णा एक प्यास है और अमिट प्यास है जो कभी नहीं बुझती। उस प्यास को बुझाने के लिए आदमी सारा प्रयत्न कर रहा है। बड़प्पन की प्यास, राजनेता बनने की प्यास, बड़ा धनपति बनने की प्यास, बड़े पद पर, बड़ी सत्ता पर, बड़े अधिकार पर जाने की प्यास। तृष्णा एक ऐसी अमिट प्यास होती है जो बुझती ही नहीं, कभी नहीं बुझती। न पानी बुझा सकता है, न कोई द्रव्य बुझा सकता है। दुनिया का कोई भी पदार्थ उस प्यास को नहीं बुझा सकता। वह तृष्णा आदमी को भटकाती रहती है। जब संकल्प का नाश होता है, तब वह प्यास बुझ जाती है। उस प्यास को जिलाता है संकल्प। जब तक संकल्प का सिंचन मिलता है, प्यास कभी नहीं बुझती और जब संकल्प का सिंचन मिलना बंद हो जाता है, वह प्यास अपने आप बुझ जाती है। उसकी जड़ अपने आप सूख जाती है। फिर वह हरी-भरी नहीं रह सकती। समाधि का सबसे बड़ा परिणाम होता है—संकल्प का नाश। संकल्प-नाश का परिणाम होता है—तृष्णा का नाश, कभी नहीं बुझने वाली प्यास का बुझ जाना। बिल्कुल समाप्त हो जाना। आप चाहेंगे, ऐसा अनुभव हमें होना चाहिए। कौन व्यक्ति नहीं चाहेगा कि समाधि का अनुभव उसे न हो। कई लोग कहते हैं कि आशीर्वाद दें कि समाधि का अनुभव हो जाए। हर आदमी चाहता है। मैं पहले ही कह चुका। मैं उन लोगों में नहीं हूं जो समाधि का शक्ति-पात करने वाले हैं। बस, सिर पर हाथ रखा और समाधि हो गई। मैंने आज तक ऐसे अनेक लोगों को, गुरुओं को देखा है। ध्यान-साधकों को देखा है, जो कुंडलिनी जगाने की और समाधि में ले जाने की घोषणा तो करते हैं और सिर पर हाथ रखते हैं या पैर पर सिर रखवाते हैं किन्तु समाधि घटित नहीं होती। मुझे लगता है कि जो बात अपने प्रयत्न के द्वारा घटित हो सकती है, हम इस चक्कर में न जायें कि कोई आयेगा और दो मिनट में समाधि लगा देगा। यह भुलावा

मात्र होगा और बड़ा मानसिक ढोंग होगा।

राजा श्रेणिक ने रोहक, जो उस जमाने का बड़ा बुद्धिमान व्यक्ति था, से कहला भेजा कि तुम्हारे गांव में जो कुआं है, पानी बहुत मीठा है, उस कुएं को मेरी राजधानी में भेज दो। यहां अगर मीठा कुआं होगा, जनता को बहुत लाभ मिलेगा। कुएं को यहां भेज दो और यह राजाज्ञा है, तुम्हें यह शिरोधार्य करनी होगी। गांव वाले घबरा गये। कुएं को कैसे भेजा जा सकता है। कोई उपाय नहीं है, घबरा गये। वे सब इकट्ठे हुए। कहा—'रोहक! अब क्या होगा? राजाज्ञा है। उसका पालन नहीं हुआ तो पता नहीं राजा क्या करेगा? गांव का क्या होगा? रोहक ने कहा—"चिंता मत करो।" रोहक ने एक पत्र लिखा और दूत को देकर बोला—जाओ, राजा को यह मेरा पत्र दे देना। पत्र पहुंचा, राजा ने पढ़ा। पत्र में लिखा था—"महाराज! हमारा कुआं गांव का कुआं है। गांव का कुआं इतना होशियार नहीं होता। यह चलना नहीं जानता। राजधानी में रहने वाले बहुत होशियार होते हैं, बड़े दक्ष होते हैं। आप राजधानी का कुआं यहां भेज दें तो गांव का कुआं भी चलना सीख जायेगा और उसके साथ-साथ आपकी राजधानी में पहुंच जायेगा।"

मुझे लगता है अगर ऐसा कोई समाधि जगाने वाला मिल जाये कि जो कुएं को हमारे पास भेज दे। अपने होशियार कुएं को हमारे पास भेज दे तो संभव है कि हमारा देहाती कुआं भी चलना सीख जाए। आज तक राजा ने कभी उत्तर नहीं दिया और न फिर यह मांग की कि तुम्हारा कुआं हमारे यहां भेज दिया जाये। यह कुआं स्वयं को ही खोदना है, स्वयं के पास ही रखना है। कभी राजधानी में उसको भेजना नहीं है। जो लोग ऐसी घोषणाएं करते हैं कि हम अपना कुआं सबके पास भेज देंगे और सब को लाभान्वित कर देंगे, मुझे लगता है कि यह भी साधना के क्षेत्र में ठगी का प्रकार बन गया और इसने लोगों को भुलावे में डालकर अनेक कठिनाइयां पैदा कर दी हैं। समाधि का अभ्यास स्वयं को करना है। समाधि का प्रयत्न स्वयं को करना है। समाधि का अंतिम परिणाम है—तृष्णा-क्षय।

मैंने आपके सामने समाधि का अभ्यास-क्रम प्रस्तुत किया है। यदि हम समाधि का अभ्यास करना चाहें तो उसका क्रम क्या होगा, जिसकी पूरी शृंखला आपके सामने प्रस्तुत हो गई।

अनायास समाधि

दूसरा पहलू था—अनायास समाधि का। जिस समाधि के लिए अभ्यास की जरूरत नहीं होती, जिस समाधि के लिए किसी क्रम से गुजरने की जरूरत नहीं होती, कोई ऐसी आकस्मिक घटना घटती है, एकाएक समाधि की चेतना जाग

जाती है और जीवन में समाधि का अवतरण हो जाता है। उसके दस सूत्र हैं। भगवान् महावीर ने चित्त समाधि के दस सूत्रों का प्रतिपादन किया। उनमें पहला सूत्र है—धर्मचिन्ता। जीवन में कभी-कभी कोई क्षण आता है, जब जो सत्य पहले कभी सामने नहीं आया, अचानक वह सत्य सामने आ जाता है। पहले जो चिन्ता कभी सामने नहीं आई और चिन्तन सामने नहीं आया, अकस्मात् वह चिन्तन सामने आता है, अवतरित होता है और जीवन में समाधि का प्रस्थान शुरू हो जाता है। दुनिया में जितने बड़े सत्य उतरे हैं वे अभ्यास के द्वारा भी उतरे हैं, प्रयत्न करते-करते भी उतरे हैं किन्तु उनमें से अधिक सहज उतरे हैं। उनका सहज अवतरण हुआ है। चाहे, अध्यात्म की खोजों में आप देखें, चाहे वैज्ञानिक खोजों में। सत्य की खोज की किसी भी दिशा में आप जायें और देखें। बड़े सत्यों का अवतरण ऐसे हुआ कि जैसे कोई झटका लगा और सत्य सामने आ गया।

समाधि घटित हो गई

थावच्चापुत्र बहुत बड़े धनी का पुत्र था। जब वह छोटा था, तब पिता चल बसा। मां ने उसका पालन-पोषण किया। एक दिन बैठा था अपने घर में। पड़ोसी के घर पर कोई घटना घटी। बच्चा जन्मा। बहुत हर्ष मनाया गया। बाजे बजाये गए, शंख-नाद हुआ, गीत गाये गये, बड़े मधुर गीत। कुछ समय बीता। दो, चार, पांच घंटे बीते। ऐसा कोई संयोग मिला, जो जन्मा था वह मर गया। सब रोने लगे। हाहाकार हुआ। रोने के स्वर कानों को बींधने लगे। थावच्चापुत्र आया मां के पास। बोला—"मां! यह क्या! मैंने पांच घंटे पहले जो गाना सुना वह बड़ा प्रिय था, लुभाने वाला और कानों को सुख देने वाला था और अब ये शब्द कानों को अप्रिय लग रहे हैं, कानों में चुभ रहे हैं। दो प्रकार के गीत क्यों गाये जाते हैं? बेचारे को पता भी नहीं था। मां ने कहा—"बेटा! तू नहीं जानता। बच्चा जन्मा था, तब हर्ष मनाया गया, उल्लास मनाया गया, गीत गाये गये। और जो जन्मा था वह मर गया इसलिए सब रो रहे हैं। गीत नहीं गाये जा रहे हैं, यह रोना हो रहा है।" 'अच्छा तो मां! मुझे भी मरना पड़ेगा?' "वत्स! जिसने जन्म लिया है, उसे मरना पड़ेगा। दो दिन पहले या दो दिन पीछे, सब को मरना पड़ेगा।" यह सुनते ही थावच्चापुत्र को झटका लगा। उसका रोम-रोम बोल उठा—"मरना पड़ेगा।" उसने मां से पूछा –"ऐसा भी कोई उपाय है जिससे मरना न पड़े?" मां ने कहा—"भगवान् अरिष्टनेमि उपाय जानते हैं, मनुष्य अमर हो जाता है।" थावच्चापुत्र बोला—'तुम्हारा-मेरा सबंध समाप्त। मैं अरिष्टनेमि की शरण में जाऊंगा।" उसके समाधि की यात्रा शुरू हो गई। ऐसे क्षण जीवन में आते हैं।

राजा गया बैलशाला में, जहां गायें रहती थीं, बैल रहते थे। एक बैल को देखा। तत्काल कोई चेतना दौड़ गई और राजा ने कर्मचारी को बुलाकर कहा क्या यह वही बैल है जिसके कन्धे बड़े पुष्ट थे, बड़ा शक्तिशाली था। जब रथ पर जुतता था तो ऐसा लगता था कि बैल क्या चल रहा है, हवा ही चल रही है। क्या यही बैल है? कर्मचारी बोला—"हां महाराज! वही बैल है। राजा ने कहा—"यह ऐसा क्यों हुआ?" महाराज! बूढ़ा हो गया। राजा ने सोचा—बूढ़ा होने पर ऐसा होता है तो मुझे भी बूढ़ा होना पड़ेगा। बस, बात समाप्त। कहानी समाप्त हो गयी और समाधि की अवस्था जाग गई। राजा ने राजपाट छोड़कर समाधि की दिशा में प्रस्थान कर दिया। जीवन में ऐसे क्षण आते हैं, धर्म की कोई ऐसी चिन्ता अचानक जाग जाती है, जो कभी नहीं जागी और आदमी समाधि की ओर प्रस्थान कर जाता है।

जब एक धक्का लगता है तब वह चेतना जाग उठती है जिससे मनुष्य की सारी जीवन-यात्रा बदल जाती है. आकर्षण बदल जाता है। वैराग्य की वह घटना घटती है। और वह सीधा समाधि में चला जाता है। समाधि के लिए प्रस्थान हो जाता है।

धर्म-चिन्ता और जाति-स्मृति

समाधि के दस सूत्र हैं। उनमें पहला सूत्र है—धर्म-चिन्ता और दूसरा सूत्र है—जाति-स्मृति—पूर्व-जन्म की स्मृति। आदमी उलझा रहता है। मन उलझा रहता है। बड़ी समस्या है मन की अशांति, असमाधि। उलझी हुई होती है चेतना। किन्तु कभी-कभी ऐसा अवसर आता है कि पूर्व-जन्म का ज्ञान अचानक उतर आता है। जैसे ही पूर्वजन्म का ज्ञान हुआ, सारी असमाधि समाप्त हो जाती है। मेघकुमार राजा श्रेणिक का पुत्र उलझ गया था। मुनि बना। रात को कठिनाइयां पैदा हुईं। साधु आते हैं, जाते हैं, ठोकरें लगती हैं। राजकुमार था, कभी ठोकरें नहीं खाईं। एक रात में काफी ठोकरें खा चुका। सोचा, यह क्या है। आया हूं साधना के लिए और लग रही हैं ठोकरें। बस, प्रातःकाल होते-होते महावीर के पास जाकर कहूंगा—यह लो अपना साधुत्व। मैं तो अपने महल में जाता हूं। ऐसा ही हुआ। आया, महावीर ने उसे जब पूर्वजन्म की स्मृति कराई। उसकी चेतना जाग गई। उसने पूर्वजन्म का साक्षात्कार किया। सारी बातें समाप्त हो गई। असमाधि समाप्त, उलझनें समाप्त और समाधि की ऐसी यात्रा शुरू हुई कि उसने कहा—"भन्ते! केवल दो आंखों को छोड़कर, यह पूरा शरीर संघ की सेवा में समर्पित करता हूं। ठोकरें लगें चाहे कुछ भी लगें।" समाधि की यात्रा शुरू हो गई। चित्त समाधि का दूसरा कारण है—जाति-स्मृति। यह अभ्यास से नहीं होता। यह अनायास घटित हो जाता है।

स्वप्न-दर्शन

समाधि का तीसरा सूत्र है—स्वप्न-दर्शन। कभी-कभी ऐसा सपना आता है कि सारी उलझनें समाप्त हो जाती हैं। सपनों का बहुत बड़ा विज्ञान है। हमारे भारतीय दर्शन में, भारतीय तत्त्वविद्या में स्वप्न पर बहुत गहरी चर्चाएं हुई हैं। आज के मनोविज्ञान ने भी स्वप्न पर गहरा अध्ययन और विश्लेषण किया है। फ्रायड से लेकर आज तक के मनोवैज्ञानिकों ने स्वप्न-विद्या पर बहुत काम किया है। स्वप्नों का बहुत विवेचन हुआ है। उनके लाभ और अलाभ पर इतनी खोजें हुई हैं पुराने जमाने में भी कि जिनका आज शायद हम भारतीय लोगों को पूरा ज्ञान भी नहीं है। यथार्थ स्वप्न आता है। कोई-कोई ऐसा स्वप्न आता है, जीवन की सारी उलझनें समाप्त हो जाती हैं, समस्याएं समाप्त हो जाती हैं, अनुत्तरित प्रश्न उत्तरित हो जाते हैं, असमाहित मन समाहित हो जाता है। मन की शांति, मन की समाधि मन को उपलब्ध हो जाती है, केवल एक स्वप्न के द्वारा। स्वप्न चित्त-समाधि का तीसरा कारण बनता है।

देव-दर्शन : कितना यथार्थ

चित्तसमाधि का चौथा सूत्र है—देव-दर्शन। देवता दर्शन देते हैं, असमाधि दूर हो जाती है। आप इसे कल्पना न मानें। आज के लोगों ने देव-दर्शन को मात्र एक कल्पना मान रखा है। उन्हें विश्वास नहीं कि देवता भी कोई होता है, देवता भी दर्शन देता है। हमारी कठिनाई यह है कि हम इस स्थूल-चेतना, इन्द्रिय-चेतना मानश्चेतना और बुद्धि-चेतना के द्वारा जिन सत्यों को नहीं पकड़ पाते, उन्हें अस्वीकार करने में बहुत जल्दबाजी करते हैं। इतनी जल्दबाजी सत्य के क्षेत्र में नहीं होनी चाहिए। यह ठीक है कि हमें देवता का पता नहीं चलता। इसलिए नहीं चलता कि वे सूक्ष्म सत्ता में हैं, सूक्ष्म शरीर में हैं और हमारे पास सूक्ष्म को पकड़ने की बात प्राप्त नहीं हैं। क्या सूक्ष्म की चेतना को पकड़ने की शक्ति नहीं इसलिए अस्वीकार करते चले जाएं? पंखा चल रहा है। लाउडस्पीकर अपना काम कर रहा है। वह ध्वनि को विस्तृत कर रहा है। मुझे कहीं भी बिजली दिखाई नहीं देती। अस्वीकार कर दूं कि बिजली नहीं है। वह आंखों से दिखाई नहीं देती, अस्वीकार कर दूं कि बिजली नहीं है। जो आंखों से दिखाई न दे उसे अस्वीकार करते चले जायें तो सत्य के प्रति इतना घोर अन्याय होगा कि जितना अन्याय कोई कर नहीं सकता। हमारी अल्पक्षमता के कारण हम यदि सूक्ष्म तत्त्वों को न पकड़ सकें और उन्हें तत्काल अस्वीकार कर दें इससे बड़ा कोई असत्य नहीं हो सकता। यह बहुत बड़ा दुस्साहस होगा कि अपनी अक्षमता के कारण हम सत्यों को अस्वीकार कर दें। इतनी खोजें होने के बाद भी इतने सूक्ष्म यन्त्रों के बन जाने के बाद भी क्या वैज्ञानिकों ने उर्जा को देखा है? नहीं देख पाये, प्लाज्मा

को देख नहीं पाये हैं। ताप को देख नहीं पाये हैं, केवल लक्षणों से अनुमान करते हैं और ग्राफ में आने वाले अंकनों से उसका अनुमान कर लेते हैं। साक्षात्कार नहीं हुआ है, किन्तु साक्षात्कार न होने पर भी अस्वीकार नहीं कर सकते क्योंकि उनका कार्य उनके सामने आ रहा है। पहले जो बातें अस्वीकार की जाती थीं, आज बहुत सारी बातें स्वीकार की जाने लगी हैं। जैसे-जैसे सूक्ष्म खोजें हुई हैं, सूक्ष्म यन्त्र बने हैं, वे स्वीकार की जाने लगी हैं। एक दिन जब परामनोविज्ञान की शाखा का विकास होने लगा, वैज्ञानिकों ने उसे मान्यता ही नहीं दी। किन्तु आज यह परामनोविज्ञान की शाखा प्रतिष्ठित हो चुकी है। जो तत्त्व काल्पनिक माने जाते थे—आत्मा, पुनर्जन्म, जीवन-मृत्यु, प्रातिभज्ञान, अवधिज्ञान, अतीन्द्रियज्ञान और अतीन्द्रिय चेतना—ये सारी बातें आज परीक्षण की परिधि में चल रही हैं और बहुत सीमा तक ये सफल भी हो चुकी हैं।

हम अस्वीकार न करें कि देवता जैसी कोई सत्ता नहीं है। जब किसी व्यक्ति को दिव्य-दर्शन होता है, देवता का दर्शन होता है तब सारी असमाधि दूर हो जाती है, सारी उलझनें मिट जाती जाती हैं। चित्त की समाधि का चौथा कारण है—देव-दर्शन।

अवधिदर्शन, अवधिज्ञान, केवलदर्शन, केवलज्ञान, मनःपर्यवज्ञान—ये अतीन्द्रिय चेतना के आयाम जब खुलते हैं, चित्त समाहित हो जाता है। सूक्ष्म सत्य जब दिखाई देने लगते हैं, सारी असमाधियां दूर हो जाती हैं, चित्त की उलझनें मिट जाती हैं। जब मनःपर्यवज्ञान होता है, दूसरे के चित्त को जानने की क्षमता बढ़ जाती है। दूसरे के मन को वैसे पढ़ सकता है जैसे किसी पन्ने को पढ़ रहा हो, तब असमाधि दूर हो जाती है,उलझनें दूर हो जाती हैं। केवल ज्ञान और केवल दर्शन होता है तब कोई असमाधि शेष रहती ही नहीं और जब समाधि-मरण होता है तब चित्त की असमाधि मिट जाती है।

अनायास चित्त में समाधि घटित होने के ये दस सूत्र हैं। हम निष्कर्ष की भाषा में कह सकते हैं, सूक्ष्म सत्य प्रकट होते हैं या सूक्ष्म चेतना प्रकट होती है तो हमारी उलझनें मिट जाती हैं।

हम क्या करें ?

समाधि के दो रूप हैं—एक अभ्यासजन्य समाधि और एक अनायास घटित होने वाली समाधि। अनायास समाधि जीवन में घटित हो तो बहुत अच्छी बात है। यदि न हो तो हमारे सामने एक उपाय रहता है अभ्यास का। कवि दो प्रकार के माने जाते हैं—नैसर्गिक कवि और अभ्यास से होने वाले कवि। दार्शनिक भी दो प्रकार के माने जाते हैं। सम्यक् दर्शन भी दो प्रकार का माना जाता है—निसर्ग से होने वाला सम्यक् दर्शन और अभ्यास से होने वाला सम्यक् दर्शन।

निसर्ग की बात हमारे अधीन नहीं है, वह नियति है। यदि हमने ऐसा कोई पुरुषार्थ किया है और यदि हमारी नियति है तो जीवन में कोई घटना घट सकती है और अनायास समाधि में हम जा सकते हैं, किन्तु वह हमारे अधीन नहीं है। हमें तो वही करना चाहिए जो हमारे वश की बात है। अभ्यास करना हमारे अधीन है। हम ऐसा अभ्यास और पुरुषार्थ करें, नियति के भरोसे न बैठें, कोई ऐसा पराक्रम करें, जिससे चित्त की एकाग्रता होते-होते एकाग्रता उस बिन्दु पर पहुंच जाए जहां वह तन्मयता में बदल जाए, ध्यान समाधि बन जाए, केवल चैतन्य का अनुभव शेष रह जाए और जीवन की सारी उलझनें, सारी समस्याएं, सारी असमाधियां मिट जाएं और जीवन में परम आनन्द, परम चैतन्य और परम शक्ति का अवतरण हो जाए।

१९. समाधि और प्रज्ञा

○ स वीयरागो कयसव्वकिच्चो, खवेइ नाणावरणं खणेणं।
तहेव जं दंसणमावरेइ, जं चऽन्तरायं पकरेइ कम्मं॥

○ सव्वं तओ जाणइ पासए य, अमोहणे होइ निरन्तराए।
अणासवे झाणसमाहिजुत्ते, आउक्खए मोक्खमुवेइ सुद्धे॥

(उत्तरा० ३२।१०८, १०९)

○ वीतराग पुरुष सब दिशाओं में कृतकृत्य होकर क्षणभर में ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्म का क्षय कर देता है।

○ तत् पश्चात् वह सब कुछ जानता है, देखता है तथा मोह और अन्तराय-रहित हो जाता है। अन्त में वह आस्रवरहित और ध्यान के द्वारा समाधि में लीन और शुद्ध होकर आयुष्य का क्षय होते ही मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।

१. समाधि की निष्पत्तियां—

○ प्रज्ञा का जागरण—अलौकिक चेतना, अति-चेतना और अतीन्द्रिय चेतना का जागरण।

○ दिशा परिवर्तन।

○ शारीरिक पहलू—चैतन्य-केन्द्र निर्मल, चुम्बकीय क्षेत्र का निर्माण।

○ मानसिक पहलू—संतुलन। शोक और उद्वेग की कमी।

○ आध्यात्मिक पहलू—आदतों में परिवर्तन।

२. अध्यात्म की भाषा—

कषाय-चेतना का शमन किए बिना अतिचेतना को नहीं जगाया जा सकता।

विज्ञान की भाषा—

अन्तःस्रावी ग्रन्थियों के स्राव को बदले बिना व्यक्तित्व को नहीं बदला जा सकता।

३. अध्यात्म की भाषा—

अहिंसा का विकास किए विना संघर्ष और युद्ध के उन्माद को नहीं मिटाया जा सकता।

विज्ञान की भाषा—

ऊर्जा की ऊर्ध्वयात्रा किए विना, स्वतः-चालित नाड़ी-संस्थान के साथ संपर्क स्थापित किए विना विश्व-मैत्री और सामाजिक संतुलन की स्थापना नहीं की जा सकती।

४. अध्यात्म की भाषा—

अच्छे भावों का विकास किए विना भय और चिंता को नहीं मिटाया जा सकता।

विज्ञान की भाषा—

प्रकाश वाले रंगों का ध्यान किए विना भय और चिन्ता को नहीं मिटाया जा सकता।

५. अतिचेतना का जागरण होने पर—

- मानसिक स्वास्थ्य का विकास होगा, पागलपन नहीं होगा।
- चिन्ता, भय आदि का आतंक नहीं होगा।
- दूसरों के स्वत्व को हड़पने की भावना नहीं होगी।
- संघर्ष और युद्ध का उन्माद नहीं होगा।
- शत्रुता और सामाजिक असंतुलन नहीं होगा।

उन्नीस

समाधि और प्रवृत्ति

समाधि का अपना मूल्य है, परन्तु बहुत बार मूल्य को समझने के लिए दूसरे मूल्य का सहारा लेना होता है। एक वस्तु का मूल्य जब स्वयं समझ में नहीं आता तो व्यक्ति दूसरे के मूल्य का सहारा लेता है। समाधि अच्छी है। समाधि-काल में आनन्द का अनुभव होता है, इतने से ही आदमी को सन्तोष नहीं होता। वह जानना चाहता है, समाधि से क्या होगा? क्या मिलेगा? क्या उपलब्धि होगी? उपलब्धि का प्रश्न हर प्रवृत्ति के साथ जुड़ा हुआ होता है। जिसकी उपलब्धि बड़ी होती है उसका मूल्य बहुत बढ़ जाता है। जिसकी उपलब्धि बड़ी नहीं होती, छोटी होती है, जिसका परिणाम बहुत बड़ा नहीं होता उसके लिए आकर्षण भी स्थायी या अधिक नहीं होता। आकर्षण स्थाई तब बनता है जब यह पता चले कि इसका परिणाम बहुत स्थाई होता है, बहुत ही सुखद होता है और इससे बहुत बड़ी उपलब्धि हो सकती है। समाधि के सामने भी यही प्रश्न है। समाधि की साधना करने से क्या उपलब्ध होगा? क्या आदमी निकम्मा बन जायेगा? आलसी होकर, अकर्मण्य होकर बैठ जायेगा या कुछ करेगा? करेगा तो समाधि कैसे टिकेगी और समाधि होगी तो वह कैसे करेगा? कार्य और समाधि में जैसे भारी विरोध हो वैसा हमारी धारणा में समाया हुआ है। सब कुछ करता हुआ व्यक्ति समाधि में नहीं रह सकता। जैसे समाधि का और प्रवृत्ति का कोई जन्मजात विरोध हो। यदि समाधि मनुष्य को अकर्मण्य बना दे, उसके हाथ ठिठुर जायें, पैर भी ठिठुर जायें, कुछ न कर सके, समाधि जड़ बना दे, तो उस समाधि का उपयोग जो जड़ बनना चाहे उसके लिए हो सकता है। उस समाधि का मूल्य उस व्यक्ति के लिए हो सकता है जो अपनी शय्या पर सोकर ही दिन काटना चाहे। उन लोगों के लिए वैसी समाधि का मूल्य नहीं होता जो जीवन को जीवन की भांति जीना चाहते हैं और प्रवृत्ति में रहते हुए जीना चाहते हैं, कुछ करते हुए जीना चाहते हैं, केवल निष्क्रिय और अकर्मण्य होकर बैठना नहीं चाहते। क्या समाधि से कर्मण्यता

आती है ? इस प्रश्न के विषय में जब तक हमारी धारणा स्पष्ट नहीं होगी समाधि का सही-सही मूल्यांकन नहीं हो सकेगा, जीवन में समाधि का अवतरण भी नहीं हो सकेगा और उसकी साधना भी नहीं हो सकेगी।

समाधि की अवस्था : चित्रकार की अवस्था

संस्कृत साहित्य में कुछ पहेलियों का प्रतिपादन हुआ है। एक पहेली है। एक लड़की से पूछा गया "तुम किस कुल की पुत्री हो ?" लड़की ने उत्तर दिया—

"विहिता निर्विषा नागाः, गजाः शक्तिविवर्जिताः।
बलमुक्ताः भटा येन, तस्याऽहं कुलबालिका॥

जिसने सांपों को निर्विष, हाथियों को शक्तिहीन और योद्धाओं को बलहीन बना डाला है, उस कुल की मैं लड़की हूं।" कौन हो सकता है ऐसा व्यक्ति जो सांपों को विषशून्य बना दे, हाथियों को शक्तिशून्य बना दे और योद्धाओं को आक्रामक वृत्ति से शून्य बना दे। वह चित्रकार हो सकता है। लड़की ने कहा—मैं चित्रकार की पुत्री हूं। चित्रकार में यह क्षमता है कि वह सांपों को विषशून्य बना देता है। सांप, भयंकर सांप जो ऐसा लगता है कि मानो काटने आयेगा, किन्तु कोरा चित्र का है, उसमें जहर नहीं होता। भयंकर हाथी, किन्तु शक्ति नहीं है। सामने चले जाओ, छू लो, कुछ भी नहीं। भयंकर योद्धा चित्रित है, पर आक्रमण की कोई ताकत नहीं।

समाधि की अवस्था ठीक चित्रकार की अवस्था है। समाधि का जीवन जीने वाला व्यक्ति उस कुशल चित्रकार की तरह अपने जीवन को बना देता है जिसमें संवेदन के केन्द्र तो रहते हैं पर उनकी क्षमताएं चली जाती हैं। समाधि की साधना करने वाले व्यक्ति में भी क्रोध के संवेदन का केन्द्र तो रहेगा पर सांप का जहर नहीं रहेगा, काटेगा नहीं, फुफकारा भी नहीं करेगा। क्रोध का संवेदन-केन्द्र विष-शून्य बन जायेगा। समाधि की साधना करने वाले व्यक्ति में अहंकार का केन्द्र निष्क्रिय बन जायेगा। अहंकार की हाथी से तुलना की जाती है। उसका अहंकार का केन्द्र शक्तिशून्य बन जायेगा। योद्धा भी निष्प्राण बन जायेगा, आक्रामकवृत्ति उसकी समाप्त हो जायेगी। समाधि में न क्रोध होगा, न अहंकार होगा और न आक्रामकवृत्तियां होंगी, न लड़ने की वृत्तियां होंगी। सारी समाप्त हो जायेंगी। केन्द्र बने रहेंगे वैसे ही, जैसे चित्र में बने हैं। सक्रिय नहीं होंगे। समाधि का अर्थ कर्म छोड़ना नहीं है, सक्रियता को छोड़ना नहीं है किन्तु सक्रियता को बदल देना है। असमाधि की अवस्था में हमारा चेतन मन अधिक सक्रिय होता है। हमारे ये संवेदन-केन्द्र अधिक सक्रिय होते हैं। समाधि की अवस्था में चेतन मन निष्क्रिय हो जाता है, अन्तर्मन, अन्तर् की चेतना अधिक सक्रिय बन जाती है। हमारे मस्तिष्क के संवेदन-केन्द्र निष्क्रिय हो जाते हैं। सूक्ष्म-चेतना के स्तर पर

कार्य करने वाले चैतन्य-केन्द्र अधिक जागरूक बन जाते हैं। बाहर को निष्क्रिय बनाना और भीतरी चेतना को सक्रिय बनाना, इतना अन्तर होता है। जीवन की दिशा बिल्कुल बदल जाती है।

प्रज्ञा का अवतरण

समाधि की सबसे बड़ी उपलब्धि है—प्रज्ञा। समाधि की अवधि जैसे-जैसे आगे बढ़ती जाती है, प्रज्ञा जागती जाती है। प्रज्ञा बुद्धि नहीं है, प्रज्ञा मन नहीं है। मन से परे और बुद्धि से परे जो चेतना जागती है उसका नाम है—प्रज्ञा। प्रज्ञा, अनुभव, साक्षात्कार। जिस चेतना में शक्ति के साक्षात्कार की क्षमता आती है उस चेतना का नाम है—प्रज्ञा। साक्षात्कार होता है, सत्य को साक्षात् देखा जाता है, साक्षात् अनुभव किया जाता है। किसी माध्यम से नहीं देखा जाता, किसी दूसरे के सहारे से नहीं देखा जाता। न आंखों के सहारे की जरूरत है, न कान के सहारे की जरूरत है। उसमें इन्द्रिय के सहारे की जरूरत नहीं है। मस्तिष्क के सहारे की जरूरत नहीं है। बुद्धि के सहारे की जरूरत नहीं है। सब सहारे समाप्त हो जाते हैं। अवलम्बन सारे छूट जाते हैं। निरालम्ब चेतना जागती है। जिस चेतना को किसी आलम्बन की जरूरत नहीं रहती, अपेक्षा नहीं रहती, वह चेतना है प्रज्ञा। प्रज्ञा जब जागती है तब कुछ अलौकिक बातें जीवन में आनी शुरू हो जाती हैं।

लौकिक-अलौकिक चेतना की फलश्रुति

प्रज्ञा की चेतना का पहला स्फुलिंग है अलौकिक चेतना। जैसे-जैसे जीवन में समाधि का प्रवेश होता है, वैसे-वैसे प्रज्ञा जागती है और प्रज्ञा का पहला स्फुलिंग होता है अलौकिक चेतना। उससे अनुशासन, ज्ञान, तपस्या, चरित्र—सबको प्रतिष्ठा दी जाती है।

हम देखते हैं, अनुशासन लाने के कितने प्रयत्न होते हैं? विनम्रता के लिए कितना प्रयत्न होता है। न अनुशासन आता है जीवन में और न विनम्रता आती है। हर माता-पिता चाहता है कि सन्तान विनय करे, अनुशासन में रहे। हर अध्यापक चाहता है, छात्र अनुशासन में रहे। हर राजनेता चाहता है कि सारी जनता अनुशासन में रहे। चाहते हैं, न सन्तान अनुशासन में रहती है, न छात्र अनुशासन में रहते हैं और न जनता अनुशासन में रहती है। इसलिए नहीं रहती कि लौकिक चेतना में अनुशासन चल नहीं सकता, निभ नहीं सकता। लौकिक चेतना का मुख्य सूत्र है—अहंकार। अहंकार सुरक्षित रहे, अहंकार को चोट न लगे। हर आदमी सोचता है कि मेरे अहंकार को कोई चोट नहीं लगनी चाहिये। माता-पिता छोटे बच्चे को भी कुछ बात कहते हैं, तब उसे अनुभव होता है कि उसके अहं पर चोट लगा दी। बस, जैसे ही चोट लगती है, वह फुफकार उठता है

सांप की तरह, और फन उठ जाता है। एक कर्मचारी, नौकर, छोटे से छोटा कहलाने वाला आदमी भी अहं पर चोट को सहन नहीं करता। कहता है, बाबूजी! चाहे आप और कुछ कहिये पर मेरे अहं पर चोट न करें। मैं इसे सहन नहीं कर सकता। जहां अहंकार ही जीवन का तत्व होता है वहां अनुशासन की बात नहीं हो सकती। जैसे ही अनुशासन आया, अहं पर चोट लगी और झगड़ा शुरू हो जाता है। आज के ये सारे पारिवारिक झगड़े, संस्थाओं के झगड़े और राज्यों के झगड़े अहं की चोट के झगड़े हैं। एक आदमी दूसरे आदमी पर कुछ भी अनुशासन करना चाहता है और सामने वाले को लगता है, मेरे अहं पर चोट हो रही है। तत्काल झगड़े शुरू हो जाते हैं। लौकिक चेतना में अनुशासन वाली बात समझ में नहीं आती। विवशता तो होती है, अनुशासन नहीं होता। बाध्यता होती है। जहां बाध्यता होती है, विवशता होती है, आदमी बोलता नहीं पर मन ही मन कितनी भयंकर आग जल जाती है और जब मौका मिलता है तो कितना भयंकर प्रतिशोध लेता है, यह सब जानते हैं। समय आने पर प्राण लेने के लिए भी तैयार हो जाता है। लौकिक चेतना में अनुशासन की बात भी नहीं होती और लौकिक चेतना में ज्ञान भी बहुत लाभदायी नहीं होता। कहा जाता है—विद्या ददाति विनयम्। पर लौकिक चेतना में विद्या विनय कैसे देगी? नहीं दे सकती। जब हमारी चेतना लौकिक है तो ज्ञान का उद्देश्य होगा केवल कौशल प्राप्त करना। और वह कौशल कि जिससे अधिक से अधिक कुछ बटोरा जा सके, इकट्ठा किया जा सके। लौकिक चेतना रहती है तब तक यह तप और आचार भी बहुत लाभदायी नहीं बनता। जितना बनाना चाहिए उतना लाभप्रद नहीं बनता। बहुत सारी तपस्यायें भी की जाती हैं। यदि उनके साथ लौकिक चेतना जुड़ गई तो कहीं प्रतिष्ठा की भावना आ जाती है, कहीं सम्मान की भावना आ जाती है, कहीं कुछ धन पाने की भावना भी आ जाती है। और भी न जाने कितनी लौकिक भावनाएं जुड़ जाती हैं। आचार के साथ भी जुड़ जाती हैं। कोई आदमी प्रतिष्ठा पाले कि "बड़ा सच्चरित्र है," बस, प्रतिष्ठा से ही उसे इतना संतोष हो जाता है और लगता है कि इस साख से भी मुझे बहुत कुछ मिलेगा। जब तक लौकिक चेतना रहती है तब तक इनमें परिवर्तन नहीं हो सकता। समाधि की पहली घटना है अलौकिक चेतना का निर्माण। चेतना अलौकिक बन जाती है। अनुशासन होता है। कष्ट नहीं होता बिल्कुल कष्ट नहीं होता, क्योंकि अलौकिक चेतना तब जागती है जब अहंकार का विसर्जन होता है। जब व्यक्ति अहंकार को विसर्जित कर देता है, तब समाधि आती है, तब अलौकिक चेतना जागती है। और जब अहं ही भीतर नहीं है, फुफकारने वाला और काटने वाला ही भीतर नहीं है फिर कोई कष्ट नहीं होता। अनुशासन कितना ही हो कोई कष्ट नहीं होता। आचार्य भिक्षु ने अपने पट्टधर शिष्य भारीमालजी से कहा—यदि तुम्हारी कोई भी शिकायत आई

तो तुम्हें एक ऐसा प्रायश्चित्त करना होगा। तीन उपवास करने होंगे प्रायश्चित्त के रूप में। भला, छोटी-सी बात और इतना बड़ा प्रायश्चित्त! कैसे हो सकता है? लौकिक चेतना होती है, तत्काल अहं चोट करने लग जाता है! क्या गुरु हैं। इतने निर्दयी! इतनी छोटी बात के लिए इतना बड़ा प्रायश्चित्त! क्या मैं कमजोर हूं। न जाने कितने विकल्प उठते हैं और व्यक्ति की चेतना कहां से कहां चली जाती है। पर जब अहंकार नहीं रहा तब विकल्प कैसे उठ सकते हैं। भारीमालजी बोले—"गुरुदेव! गलती हो गई और तेला प्रायश्चित्त है यह तो ठीक बात है, पर लोगों को पता चले कि ऐसा होता है, इनको तीन उपवास करने पड़ते हैं तो लेने वाले लोग भी बहुत होते हैं, कोई ऐसे ही झूठी शिकायत कर दे तो? आचार्य भिक्षु ने कहा—"झूठी शिकायत होगी तो भी तेला तो करना पड़ेगा।" यह कैसे गुरुदेव! गलती का तो प्रायश्चित्त हो ठीक बात है, पर बिना गलती के दंड कैसे? आचार्य भिक्षु ने कहा—"गलती करने पर प्रायश्चित्त हो तो समझ लेना मैंने गलती का प्रायश्चित्त किया और बिना गलती हो तो समझ लेना पुराने संस्कारों का मैंने ऋण चुकाया। तेला करना होगा। उन्होंने स्वीकार कर लिया, कोई कठिनाई नहीं।

यह घटना तब घट सकती है जब अलौकिक चेतना जाग जाए। लौकिक चेतना में ऐसा कभी नहीं होता। अलौकिक चेतना जागती है अहंकार छोड़ने से। अहंकार छोड़े बिना समाधि का प्रश्न ही नहीं उठता। जो अहंकार मनुष्य को ज्यादा से ज्यादा सताता है और आदमी यही समझता है कि ज्यादा से ज्यादा मुझे बड़ा बनाने वाला यही है। हमारी कितनी भ्रान्तियां होती हैं। और न जाने हम अपने अज्ञान के कारण, मूर्च्छा के कारण, मोह के कारण कितनी भ्रान्तियों को पालते हैं, भ्रान्तियों का जीवन जीते हैं। जो सबसे ज्यादा सताते हैं उनको तो सबसे निकट मानते हैं और जो सताने वाले नहीं हैं, उनको दुश्मन मान लेते हैं। आदमी आदमी को कभी नहीं सताता। आदमी आदमी का कभी दुश्मन नहीं बनता। दुश्मन बनता है इसलिए कि अहंकार एक दुश्मन भीतर बैठा है। इसलिए हम आदमी को दुश्मन मान लेते हैं।

अलौकिक चेतना जब जागती है तब ज्ञान की दिशा भी बदल जाती है। विद्या का मुख्य उद्देश्य बन जाता है—"एगग्गचित्तो भविस्सामि"—चित्त को निर्मल बनाऊंगा, एकाग्र बनाऊंगा। चित्त की एकाग्रता मुख्य उद्देश्य बन जाता है। सारी जीवन की दिशा बदल जाती है। हमारी कठिनाइयां और उलझनें चित्त की चंचलता के कारण बढ़ती हैं। जब चित्त को एकाग्र करने की बात मुख्य बन जाती है तब समस्यायें अपने आप सुलझती चली जाती हैं। अलौकिक चेतना जागती है तब तपस्या का और आचार का उद्देश्य बदल जाता है। वह व्यक्ति ऐहिक सुखों के लिए कोई तप और आचार का पालन नहीं करता; ऐहिक पूजा

प्रतिष्ठा के लिए कोई तप और आचार का अनुशीलन नहीं करता। वह केवल आत्म-शुद्धि के लिए, केवल पूर्वकृत दुःखों को समाप्त करने के लिए, अर्जित संस्कारों और कर्मों को समाप्त करने के लिए तप का अनुशीलन करता है, आचार का अनुशीलन करता है। सारी दिशा बदल जाती है। समाधि की साधना का परिणाम है जीवन की दिशा में परिवर्तन। कोई ध्यान करता चला जाए, समाधि की साधना करता चला जाए और जीवन में कोई परिवर्तन न आए, मानता हूं, सारा प्रयत्न व्यर्थ चला गया। दही का मन्थन करता चला जाए और नवनीत न निकले, श्रम व्यर्थ गया। किसलिए मन्थन? नवनीत के लिए। और यदि नवनीत मिलता ही नहीं, कोरा हाथ चलता चले, रस्सी चलती जाए, कोरा श्रम चलता जाए और पसीने की बूंदें टपकती चली जाएं, नवनीत न मिले तो प्रयत्न सार्थक नहीं हुआ। हम व्यर्थ प्रयत्न करना नहीं चाहते। प्रयत्न की अपनी सार्थकता होनी चाहिए। समाधि की सार्थकता है जीवन का परिवर्तन।

समाधि : रूपान्तरण की प्रक्रिया

परिवर्तन के तीन पहलू हैं—शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक। समाधि के द्वारा घटित होने वाले परिवर्तन का पहला पहलू है शारीरिक परिवर्तन। शरीर में भी परिवर्तन आना चाहिए। शरीर के रसायन बदलने चाहिए। समाधि की साधना के द्वारा शरीर के रसायनों में परिवर्तन होना जरूरी है। हमारे रासायनिक संतुलन के दो मुख्य स्रोत हैं, एक पिच्यूटरी और दूसरा एड्रीनल। एड्रीनल की दो ग्रन्थियां और पिच्यूटरी—ये तीन ग्रंथियां शारीरिक रसायन का संतुलन करती हैं। यानी शरीर में जो रसायन हैं उनमें संतुलन बनाए रखती हैं। यदि समाधि की साधना के द्वारा इन तीनों ग्रन्थियों के स्रावों में परिवर्तन नहीं हुआ, इनके हारमोन्स में परिवर्तन नहीं हुआ, रसायन नहीं बदला तो फिर मानना चाहिए कि समाधि ठीक सध नहीं रही है, समाधि का अभ्यास ठीक नहीं हो रहा है। ये बदलने चाहिए।

चैतन्य-केन्द्रों का निर्मलीकरण

दूसरी बात है कि हमारे शरीर में सैकड़ों-सैकड़ों चैतन्य-केन्द्र हैं, चेतना को जगाने वाले चुम्बकीय क्षेत्र Magnetic Field या विद्युत् क्षेत्र Electric Field सैकड़ों-सैकड़ों हैं। वे सब निर्मल बनने चाहिए। वे निर्मल बनते हैं तो उनमें से अतीन्द्रिय चेतना की रश्मियां बाहर निकलती हैं, अतिचेतना जागती है, अतीन्द्रिय चेतना जागती है। ये निर्मल नहीं बनते हैं, मैले रह जाते हैं, तो फिर उनमें से ज्ञान की रश्मियां बाहर नहीं आ सकतीं और व्यक्ति का ज्ञान प्रज्ञा की कोटि

में नहीं आ सकता। प्रज्ञा तब जागती है जब शरीर के चैतन्य-केन्द्र सब निर्मल बन जाते हैं।

राजा ने चित्रकारों को बुलाया। बुलाकर कहा—चित्रशाला बनानी है। जो सबसे सुन्दर बनाएगा उसे पुरस्कृत किया जायेगा। चित्रशाला यदि ठीक नहीं बनी, उसे दण्ड दिया जाएगा। बड़ा मोहक आकर्षण भी था पुरस्कार का और बड़ा भय भी था निर्वासित होने का। दोनों बातें होती हैं तो आदमी को बहुत सोचना पड़ता है। सभी चित्रकार पलायन कर गए। केवल दो चित्रकार सामने आए और दोनों ने कहा—"हम आपकी शर्त को स्वीकार करते हैं।" चित्रशाला का निर्माण शुरू हुआ। आधा खण्ड एक को और आधा एक को दे दिया और बीच में एक पर्दा डाल दिया। दोनों स्वतन्त्र रूप से निर्माण करते। कोई किसी को देख नहीं सकता। कोई किसी की नकल नहीं कर सकता। अपनी स्वतन्त्रता से बनाएं। पूरी व्यवस्था हो गई। चित्रशाला बन गई। राजा आया देखने के लिए। आधा खण्ड देखा। इतना भव्य, इतना आकर्षक, इतना सुन्दर, बहुत मनोरम। बड़ा प्रसन्न हुआ, साधुवाद दिया। पुरस्कार तो मिलेगा ही। अब दूसरे खण्ड में गया। जाकर देखा, कुछ भी नहीं। एक भी चित्र नहीं। पूछा—क्या किया तुमने? चित्र नहीं बनाया? क्या मखौल किया है? परिणाम क्या होगा पता है तुम्हें? चित्रकार बोला, 'महाराज! मुझे पता है। मैं जानता हूं। आप आदेश दें अपने कर्मचारियों को कि पर्दा हटा दें। यह पर्दा बीच में न रहे। जैसे ही पर्दा हटा, सारी चित्रशाला जगमगा उठी। जो उस खंड में देखा वह सारा का सारा यहां दिख रहा है। राजा ने कहा—क्या तुमने उसके खंड को देखा है? नहीं, महाराज कभी नहीं देखा। बीच में पर्दा था, आपकी आज्ञा थी, देखने कैसे जा सकता था? राजा ने कहा—"जो वहां है वही यहां है। सारा का सारा। एक भी कम नहीं, एक भी ज्यादा नहीं। एक राई भर का भी अन्तर नहीं। यह कैसे हुआ? बड़ा आश्चर्य है। चित्रकार बोला—'महाराज! मैंने एक भी चित्र नहीं बनाया। केवल भींत की घुटाई की है। यह मेरी घुटाई की करामात है कि मैंने धरातल को इतना निर्मल बना दिया कि कोई भी हो इसमें प्रतिबिम्बित हो जाएगा। इसमें प्रतिबिम्ब लेने की क्षमता मैंने पैदा कर दी है। एक चमत्कार हुआ।" चित्र बनाना इतना चमत्कार नहीं था जितना यह चमत्कार कि पर्दा हो तब कुछ भी नहीं और पर्दा हटे तो सब कुछ हो जाए।

हमारे शरीर की भी यही दशा है कि जब तक ज्ञान का आवरण, दर्शन का आवरण, मोह का आवरण, अन्तराय का प्रतिरोध—ये रहते हैं तब कुछ भी प्रतिबिम्बित नहीं होता। सत्य सामने होता है पर प्रतिबिम्ब उसका नहीं होता। साधक समाधि की साधना के द्वारा अपने शरीर के चैतन्य-केन्द्रों की इतनी घुटाई कर देता है, इतना निर्मल बना देता है, उनके मल को इतना साफ

देता है, इतनी निर्मलता ला देता है कि वहां सब कुछ प्रतिबिम्बित हो जाता है। चित्र बनाने की जरूरत नहीं। चित्र बनाने वाले बनाते हैं और उसके सामने सारे चित्र प्रतिबिम्बित हो जाते हैं। समाधि का एक पहलू है—शरीर के चैतन्य-केन्द्रों को निर्मल करना।

मन का संतुलन

समाधि का दूसरा पहलू है—मानसिक सन्तुलन। समाधि की साधना जैसे-जैसे आगे बढ़ती है, मन का सन्तुलन बढ़ता जाता है। टेम्परेचर संतुलित होता चला जाता है। गर्मी का मौसम आने पर बहुत ताप नहीं बढ़ता और सर्दी का समय आने पर बहुत ताप नहीं घटता। ताप संतुलित रहता है। फिर वह मौसम के साथ-साथ नहीं चलता किन्तु अपने साथ-साथ चलता है। हर आदमी मौसम के साथ चलता है। थोड़ा उत्तेजना का वातावरण होता है, दिमाग गर्म हो जाता है। थोड़ी प्रशंसा का, पूजा का, लाभ का, सम्मान का वातावरण होता है, आदमी बिल्कुल ठंडा हो जाता है।

एक आदमी ढावे में भोजन करने बैठा। पूछ लिया कि दाल में नमक तो ज्यादा नहीं है? रसोइया बोला—दाल में नमक तो ज्यादा नहीं है परन्तु नमक के अनुपात में दाल कम है। नमक को पूरा करने के लिए दाल ज्यादा चाहिये और फिर दाल को पूरा करने के लिए नमक ज्यादा चाहिये। यह चलता रहता है। एक मांग के लिए दूसरी मांग बराबर बनी रहती है। एक मांग होती है तो उसकी पूर्ति के लिए दूसरी मांग आती है और दूसरी मांग आ जाती है तो उसके लिए पहली मांग को ज्यादा बढ़ाना पड़ता है। मन का सन्तुलन नहीं रहता।

जीवन दिशा का परिवर्तन

समाधि से जीवन की दिशा बदलती है तो मानसिक पहलू में परिवर्तन होता है, मन संतुलित हो जाता है। और मन का संतुलन होने पर घटना बड़ी नहीं बनती। मन का संतुलन नहीं होता, एक राई जितनी घटना, पहाड़ जैसी बन जाती है। घटना कभी बड़ी नहीं होती। घटना अपने आपमें कोई छोटी नहीं होती। घटना अपने आप में कोई बड़ी नहीं होती। जिसके मन का संतुलन नहीं होता वह छोटी घटना को भी बहुत बड़ा रूप दे देता है, भयंकर बना देता है और जिसके मन का संतुलन होता है वह बहुत बड़ी बात को एक मिनट में समाप्त कर देता है। मन का संतुलन चाहिए।

आचार्य भिक्षु से एक व्यक्ति ने पूछा—तुम कौन हो? उन्होंने कहा "मेरा नाम भिक्खन है।" अच्छा भिक्षुजी तुम हो। बहुत बुरा हुआ। तुम्हारा मुंह देख लिया। तुम्हारा मुंह देखने वाला नरक में जाता है।" आचार्य भिक्षु ने कहा—"तुम्हारा मुंह

देखनेवाला कहां जाता है ? उस व्यक्ति का अहंकार जाग गया। उसने कहा—मेरा मुंह देखने वाला स्वर्ग में जाता है।" आचार्य भिक्षु ने कहा—"बहुत अच्छा हुआ। तुमने मेरा मुंह देखा और मैंने तुम्हारा मुंह देखा। तुम्हारे लिए बुरा हुआ। मेरे लिए तो बहुत अच्छा हुआ कि मैं तो स्वर्ग में चला जाऊंगा।" यह बात वही व्यक्ति कह सकता है जिसके मन का सन्तुलन होता है। मन का सन्तुलन न हो और किसी को कह दे कि तुम्हारा मुंह देख लिया, नरक में जाऊंगा तो नरक में जाए या न जाए, पांच सात चांटें तो जमा ही दे। हां, नरक का नमूना तो वहीं दिखा दे। जीवन की दिशा बदलती है, यह समाधि का तीसरा लाभ है।

स्वभाव परिवर्तन

समाधि की साधना का आध्यात्मिक पहलू यह है कि आदतें बदलनी शुरू हो जाती हैं। साधना करे, धर्म की उपासना करे, आराधना करे, ध्यान करे, समाधि का अभ्यास करे और आदतें न बदलें, उतना ही गुस्सा, उतना ही अहंकार, उतना ही कपट, उतना ही लालच, उतनी ही घृणा, ईर्ष्या, द्वेष बराबर चलता रहे तो लगता है कि हमने शरीर के दो भाग बना लिये। शरीर के आधे हिस्से में धर्म चलता रहे और आधे हिस्से में ये बुरी आदतें चलती रहें। आधे में गर्म पानी और आधे में ठंडा पानी, दोनों बराबर चलते रहें। जब गर्म की जरूरत हो गर्म निकाल लो और ठंडे की जरूरत हो तो ठंडा पानी निकाल लो। जब धर्म की जरूरत हो तो धर्म कर लें और लड़ने की, बुरी आदतों कीजरूरत हो तो उन्हें निकाल लें। अगर ऐसा होता है तो इससे बड़ी जीवन की कोई विडम्बना नहीं हो सकती, और धर्म की अर्थशून्यता नहीं हो सकती। यदि धर्म ऐसा ही है तो वैसे धर्म का भार ढ़ोने की जरूरत नहीं लगती। व्यक्ति के मन में तो इतनी प्रतिक्रिया भी जाग सकती है कि ऐसे धर्म को समाप्त कर दिया जाये तो कोई भी हानि होने वाली नहीं है। धर्म का, ध्यान का, और समाधि का आध्यात्मिक पहलू है आदतों में परिवर्तन। हमारी आदतें बदलनी चाहिए। मैं नहीं कहता, आज ही आपने ध्यान की आराधना शुरू की, समाधि की आराधना शुरू की, आज ही आप बिल्कुल बदल जायेंगे। ऐसा स्वाभाविक नहीं। किन्तु आज ही परिवर्तन का क्रम शुरू हो जायेगा। गर्म घड़े पर एक पानी की बूंद डाली, ऐसा तो नहीं कि पहली बूंद डाली और घड़ा गीला हो जायेगा। यह तो नहीं हो सकता, किन्तु घड़ा गीला तब हो सकता है कि एक-एक बूंद डालते-डालते एक क्षण ऐसा आता है कि घड़ा बिल्कुल गीला हो जाता है। क्या अन्तिम बूंद ने घड़े को गीला किया है ? अन्तिम बूंद कभी गीला नहीं कर सकती। यदि पहली बूंद घड़े को गीला नहीं कर पाती तो अन्तिम बूंद घड़े को गीला कभी नहीं कर सकती। यदि साधना का, समाधि का, ध्यान का पहला क्षण आदतों में परिवर्तन नहीं ला सकता तो कोई भी क्षण

फिर परिवर्तन नहीं ला सकता। पहले ही क्षण आदतों में परिरवर्तन शुरू हो जाना चाहिये, तब सार्थकता है, तब कुछ अर्थ समझ में आता है कि धर्म का अर्थ है, ध्यान का कोई भी प्रयोजन है और समाधि का भी कोई उद्देश्य है। यदि यह न हो तो निरर्थक, निष्प्रयोजन और निरुद्देश्य बात चले, इससे बड़ी कोई मूर्खता नहीं हो सकती।

हम पदार्थों को नहीं, पदार्थ हमें भोगते हैं

हमारी आदतों में परिवर्तन आना चाहिए। उस परिवर्तन की कसौटी है हमारा व्यवहार। समाधि की साधना करने वाले का व्यवहार बदलना चाहिए, दूसरे के प्रति दृष्टिकोण बदलना चाहिए, दूसरों के प्रति भावना बदलनी चाहिए, दूसरे के प्रति सोचने का तरीका बदलना चाहिए। पदार्थ के प्रति भी हमारा दृष्टिकोण बदलना चाहिए। जो व्यक्ति समाधि की साधना नहीं करता उसे पदार्थ भोगता है और जो व्यक्ति समाधि की साधना करता है वह पदार्थ को भोगता है। एक आदमी रोटी को खाता है, दूसरे आदमी को रोटी खाती है। कितना बड़ा अन्तर है? रोटी तो वही खा सकता है जिसने समाधि की साधना की है। जिसने समाधि की साधना नहीं की वह रोटी को नहीं खा सकता, रोटी उसे खाने लग जाती है। पदार्थ को भोगने के लिए पूरी शक्ति चाहिए। अन्यथा आदमी पदार्थ को नहीं भोग सकता, पदार्थ उसे भोगने लग जाता है। "भोग न भुक्ताः, वयमेव भुक्ताः"—हमने भोगों को नहीं भोगा, भोगों ने हमें भोग लिया। "कालो न यातो, वयमेव याताः"—काल नहीं बीता, हम ही बीत गए। यह स्थिति असमाधि की अवस्था में बनती है।

संन्यासी राजा के निमन्त्रण पर महल में चला गया। कुछ देर रहा और जाने की बात नहीं हुई। राजा ने सोचा—मैं तो एक अतिथि के तौर पर लाया था, दो-चार दिन रहेगा पर जम गया यहां आकर। जाता ही नहीं है। जाने का नाम ही नहीं लेता। आखिर राजा बोला—महाराज! जंगल में चलें। बहुत दिन हो गए बैठे-बैठे, जंगल-यात्रा करें, आनन्द मिलेगा। संन्यासी उठ खड़ा हुआ। चल दिया। जाकर एक पेड़ के नीचे बैठ गया। राजा बोला—'एक बात पूछना चाहता हूं। मैं भी महल में रहता हूं और आप भी मेरे महल में रहे और लगता ऐसा था मुझे कि आप शायद वहीं रहना चाहते थे। रह गए, तो मुझ में और आपमें क्या अन्तर हुआ? संन्यासी मुस्कराया और बोला—और कोई अन्तर नहीं है। अन्तर इतना ही है कि मेरे मन में महल नहीं रहा, मैं महल में रहा। तुम्हारे मन में महल रहता है, तुम महल में नहीं रहते। यही अन्तर है।

जिस व्यक्ति में लालच है, लोभ है, भोग की आकांक्षा है उसके दिमाग में

लिए और एकान्त में, गुफा में बैठकर साधना करने वाले के लिए नहीं है। किन्तु आज इन वैज्ञानिक यन्त्रणाओं, वैज्ञानिक मारक और संहारक आविष्कारों के बाद यह ध्यान और समाधि प्रत्येक गृहस्थ के लिए अनिवार्य हो गई है। अन्यथा इन मनुष्य जाति को बचाया नहीं जा सकता। यदि कोई चाहे कि मनुष्य जाति बनी रहे, समाज प्रगति की दिशा में जाए, अवनति की दिशा में न जाए, चक्का उल्टा न घूमे, तो एक ही उपाय हो सकता है कि समाधि की चेतना का जागरण हो और समाधि की चेतना के जागरण के द्वारा अलौकिक चेतना का जागरण और अति-चेतना का जागरण हो। जब हमारी उर्जा की ऊर्ध्वयात्रा शुरू होती है तब अति-चेतना जागती है। जब हमारा चेतन-मन निष्क्रिय होता है और अन्तर्मन सक्रिय बनता है, तब अतिचेतना जागती है। ऊर्जा की ऊर्ध्वयात्रा नहीं होती तब तक यह कामकेन्द्र सक्रिय रहता है। हमारी ऊर्जा जब काम के लिए खपती है तब संघर्ष और युद्ध का उन्माद पैदा करती है। जब मनुष्य अन्तर्यात्रा के द्वारा, सुषुम्ना के ध्यान के द्वारा अपनी ऊर्जा की ऊर्ध्वयात्रा कराता है, कामकेन्द्र में रहने वाली ऊर्जा को ज्ञान-केन्द्र में पहुंचाता है, उसकी स्वार्थ वृत्तियां समाप्त होती हैं, काम-वासनाएं कम होती हैं और नीचे ले जाने वाली वृत्तियां समाप्त होती हैं। उसमें परमार्थ की वृत्तियों का जागरण होता है। इस स्थिति में अतिचेतना जागती है। जब अतिचेतना जागती है तब सारे संघर्ष, उन्माद, पागलपन, समाप्त हो जाते हैं। अतिचेतना को जगाने का प्रयत्न किए बिना मनुष्य जाति के कल्याण का आज कोई मार्ग मुझे दिखाई नहीं देता। प्रज्ञा के जागरण का चरम-बिन्दु है, अतीन्द्रिय चेतना का जागरण, अतीन्द्रिय ज्ञान का जागरण। उस भूमिका तक जाने की बात अच्छी लगती है। अतीन्द्रिय चेतना की भूमिका में पहुंच जाने के पश्चात् आंख खोलने की जरूरत नहीं। जानना है, आंख बन्द है फिर भी जान लिया जाता है। सुनने की जरूरत नहीं। इन्द्रियों की जरूरत नहीं, मन की जरूरत नहीं, कोई जरूरत नहीं। सब कुछ साक्षात् हो जाता है। ऐसा पर्दा हटता है कि सब कुछ प्रतिबिम्बित हो जाता है।

शक्तियों को झेलने की क्षमता आवश्यक

अतीन्द्रिय चेतना की चरम भूमिका की बात बहुत सुहावनी और आकर्षक लगती है। किन्तु मैं, उस आकर्षण में, उस प्रलोभन में भी आपको ले जाना नहीं चाहता। आप एकदम अतीन्द्रिय चेतना के जागरण की बात न सोचें। क्रम से चलें। क्रम से चलना अच्छा होता है। छलांग में बड़ा खतरा होता है। हमारा एक निश्चित क्रम हो। वह क्रम है, साधना के अभ्यास का क्रम। क्रम यह है—सबसे पहले अलौकिक चेतना जागे। फिर अतिचेतना जागे। तीसरी भूमिका में फिर

अतीन्द्रिय चेतना को जगाने की बात करें। आज आपको सीधा जाति-स्मरण का सूत्र बताऊं, साधना बताऊं पर आपको पता है कि जाति-स्मरण का ज्ञान होना, पूर्वजन्म की स्मृति होना असंभव बात नहीं है, किन्तु उसे झेलना कितना कठिन है? यदि झेलने की क्षमता नहीं है और ज्ञान हो गया, पता नहीं क्या हो जाएगा। बिजली का तार बहुत कमजोर है और बिजली का वोल्टेज बहुत ज्यादा है तो क्या होगा? फ्यूज हो जाएगा। सहन नहीं कर पाएगा वह। शक्ति के अवतरण को झेलने की क्षमता भी होनी चाहिए। आदमी के नाड़ी-संस्थान में, मस्तिष्क में, ज्ञान-तन्तुओं में, शक्ति को झेलने की क्षमता यदि नहीं है और शक्ति जाग गई तो वह आदमी पागल बन जाएगा। जैसे बहुत बुरी आदतों से, क्रोध, अभिमान आदि की प्रचुरता से आदमी विक्षिप्त बनता है, पागल बनता है वैसे ही शक्ति के जागरण से भी आदमी पागल बन जाता है। इसीलिए शक्ति को एक साथ जगाने की बात कभी नहीं सोचनी चाहिए। बहुत बड़ा खतरा है। क्रम होता है। कुछ लोगों में बड़ी त्वरता होती है कि आज ही बता दें, आज ही बताएं। न जाने मेरे पास कितने भाई आए कि लेश्या का ध्यान करा दें, रंगों का ध्यान करा दें। मैंने कहा—मौसम अनुकूल नहीं है। भयंकर गर्मी है। अभी अगर लेश्या का ध्यान कराया तो सारे दिन मेरे पास शिकायतें आएंगी कि शरीर में आग लग रही है, शरीर टूट रहा है, फट रहा है, आंखें फट रही हैं। सारे दिन शिकायतें और फिर लोग दौड़ेंगे, डॉक्टरों को बुलाओ, डॉक्टरों को बुलाओ। इतनी जल्दबाजी से काम नहीं होता। सब कुछ अनुकूलता चाहती है। शक्ति को झेलने की क्षमता चाहिए। शिष्य आया, बोला, महाराज! उपदेश दें। गुरु बड़े अनुभवी थे, पूछा—कब करोगे? अभी नहीं करूंगा, करूंगा तो बाद में। गुरु बोले—"जब करो तब आना। लोग करना नहीं चाहते, उपदेश चाहते हैं। करना नहीं चाहते, आशीर्वाद चाहते हैं। यह चाहते हैं कि सिद्धि मिल जाए, कुछ करना न पड़े। मैं इसमें बिल्कुल विश्वास नहीं करता। सबसे बड़ा आशीर्वाद होता है अपना अभ्यास, अपना पुरुषार्थ, अपना पराक्रम। सबसे बड़ा उपदेश होता है—अभ्यास। स्वयं शिविर में आने वालों ने अनुभव किया कि जब नहीं आए थे तब नहीं पता था कि योग से क्या होता है? दस दिनों के अभ्यास के बाद.आज उनकी क्या स्थिति बन गई। ये कल्पना ही नहीं कर सकते थे कि ऐसा हो सकता है। दस दिनों का अभ्यास किया, पूरा अभ्यास किया और आज उनका सारा क्रम बदल गया। कितने अनुभव हो गए। शायद जीवन में कभी कल्पना नहीं की थी कि ऐसे अनुभव होंगे। यह सारा होता है एक क्रम के द्वारा। क्रम से चलें।

चरैवेति चरैवेति

साधना के बड़े परिणाम हैं तो साधना में बड़े खतरे भी हैं। समाधि के बहुत

परिणाम हैं तो समाधि के बहुत बड़े खतरे भी हैं। हम एक निश्चित अभ्यास से गुजरें, अपनी शक्ति को जगाएं। शरीर-प्रेक्षा, चैतन्य-केन्द्र-प्रेक्षा, दीर्घश्वास-प्रेक्षा—ये सारे इसलिए हैं कि नाड़ी-संस्थान की क्षमता बढ़ जाए। उनकी मलिनता दूर हो जाए, उनमें निर्मलता आ जाए, झेलने की क्षमता आ जाए। शक्ति के अवतरण को झेल सकें और अनुभवों का लाभ उठा सकें, इसलिए सारा का सारा अभ्यास करना आवश्यक है और यह अभ्यास नियमित रूप से चलता रहता है तो आप निश्चित मानें, एक दिन उस बिन्दु पर अवश्य पहुंचा जा सकता है जो अतीन्द्रिय ज्ञान का चरम-बिन्दु है, जो परम समाधि का बिन्दु है, वीतरागता का बिन्दु है। वहां सारा मोह समाप्त होता है। ज्ञानावरण समाप्त, दर्शनावरण समाप्त, मोह समाप्त, सारी मूर्च्छाएं समाप्त, सारे विघ्न समाप्त। सभी शेष हो जाते हैं, कुछ भी बाकी नहीं बचता। यह बिन्दु निश्चित आता है। आज तक जो अवतार, तीर्थंकर, महापुरुष हुए हैं और उस बिन्दु तक पहुंचे हैं वे अपनी साधना के द्वारा पहुचे हैं। मैं भी पहुंच सकता हूं, और भी पहुंच सकते हैं, पर पहुंच वही सकता है जो साधना को निरन्तर चालू रखता है। यह तो नहीं होगा कि दस दिन अभ्यास किया, और फिर साधना को छोड़ दिया, वह कभी नहीं पहुंच पाएगा। पहुंचने का रास्ता है सतत अभ्यास। हमारा अभ्यास निरंतर चलता रहे। उपनिषद् का वाक्य है—चरैवेति चरैवेति। हम चलते जाएं। समाधि की यात्रा में चलते जाएं। चलते-चलते एक निश्चित बिन्दु आएगा, हमारे जीवन में समाधि की घटना घटित हो जाएगी। समाधि के विघ्नों का एक लंबा-चौड़ा विवरण है—प्रमाद, आलस्य, नींद ये बातें तो हैं ही, ये सारे विघ्न हैं, पर इन सबसे बड़ा विघ्न है—वातावरण, परिस्थिति। जब तक परिस्थिति को देखने की हमारी दृष्टि होती है तब तक समाधि की ओर आदमी नहीं चल सकता। आदमी देखता है कि सामने वाला व्यक्ति मुझे गालियां दे रहा है। क्या मैं कमजोर हूं? गाली देने की भावना नही, पर सामने वाला देता है, उससे मैं कमजोर रहना नहीं चाहता, उसे यह अनुभव नही होना चाहिए कि यह कमजोर आदमी है।

आदमी देखता है कि जीवन की यात्रा आनन्द से चल रही है। कठिनाई नहीं तो फिर इतने बुरे काम क्यों करने चाहिए? जब एक आदमी बुराई करके इतना बड़ा आदमी बन गया तो क्या मैं नहीं बन सकता? मैंने हिन्दुस्तान के बहुत बड़े उद्योगपति से पूछा—"तुम्हारे पास इतना पैसा था, करोड़ों-करोड़ों रुपये, फिर तुमने इतने बुरे काम क्यों किए? तुम संकट में पड़ गए। वह बोला—'महाराज! सच्ची बात बताऊं आपको, मैं जब छोटा था, मेरे मन में एक भावना जागी कि मुझे हिन्दुस्तान का सबसे बड़ा उद्योगपति बनना है। बिड़ला, टाटा, सबको नीचे कर देना है, सबसे आगे चले जाना है। इस भावना ने यह सब कुछ कराया।

जब तक यह दृष्टिकोण रहता है कि दूसरे को देखूं, तब तक ये विघ्न समाप्त नहीं हो सकते।

सारे विघ्नों को समाप्त करने का पहला सूत्र है—दूसरों की ओर झांकने की दृष्टि को कम करना और अपनी दृष्टि में आकर्षण पैदा करना। यह सूत्र जब जीवनगत हो जाता है तब विघ्न कम होते जाते हैं। यदि यह सूत्र जीवनगत नहीं होगा तो विघ्न बढ़ते जाएंगे और आदमी उनमें उलझता जाएगा।